विद्याधर-ग्रन्थावली

सम्पादक

मनीषी पं. विद्याधर शास्त्री

भूमिका

पं. विष्णुदत्त शर्मा

प्रकाशक

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर



• संस्करण	प्रथम, १९[illegible]७ ई०
• प्रकाशक	राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर (राजस्थान)
• मुद्रक	एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर
• मूल्य	अट्ठाइस रुपये मात्र

- VIDYADHAR GRANTHAVALI
- Vidyadhar Shastri

विद्याधर-ग्रन्थावली

विद्याधर शास्त्री

राजस्थान साहित्य अकादमी प्रकाशन
1967

आमुख

राजस्थान के मूर्धन्य कृतिकारों की साहित्यिक सर्जनाओं के संग्रह प्रकाशित करना राजस्थान साहित्य अकादमी की बहुमुखी प्रवृत्तियों में से एक विशेष प्रवृत्ति है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि हरनाथ की 'हरनाथ ग्रंथावली', उर्दू के मोहतरिम शायर श्री चांदबिहारी लाल 'सबा' की 'सबा ग्रंथावली' और सबा साहब के काव्यगुरु मायल साहब की 'कुल्लियाने-मायल' इस प्रवृत्ति की प्रधान कड़ियां हैं।

राजस्थानी, हिन्दी, उर्दू आदि आधुनिक भाषाओं के भंडार में तो राजस्थान ने पर्याप्त योगदान किया ही है पर संस्कृत साहित्य के अध्ययन, मनन और सृजन में भी यह प्रदेश अग्रणी रहा है। विभिन्न राज्यों द्वारा संस्थापित सरस्वती भवनों और ग्रन्थागारों में प्राचीन राजस्थानी, प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओं की अमूल्य ग्रन्थ राशि अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के रूप में भरी पड़ी हैं और प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही हैं। इन कृतियों के प्रकाशन से कला और साहित्य की श्रीवृद्धि तो होगी ही, इतिहास के अनेक अज्ञात तथ्य भी प्रकाश में आएंगे।

संस्कृत भाषा में साहित्य-सृजन की परम्परा राजस्थान में आज भी जीवित और गतिशील है। संस्कृत में साहित्य सृजन करने वाले मनीषियों में प्राचीन पद्धति और परम्परागत शैली में मुक्तकों और प्रबन्ध-काव्यों की रचना करने वाले कवि भी हैं और ऐसे मनीषी भी कि जिन्होंने इस पुरातन वाणी में अधुनातन विषयों को प्रस्तुत किया है। वे एक ओर तो प्राचीन संस्कृत साहित्य के अति समृद्ध ज्ञानकोश और दूसरी ओर नए जमाने की साहित्यिक विचार-धाराओं से जुड़े हुए हैं। एक तरह से वे प्राचीन और अर्वाचीन के बीच की कड़ी हैं और साहित्य की निरन्तरता के वाहक हैं।

राजस्थान में बीकानेर नगर निवासी पं० विद्याधर शास्त्री इसी श्रेणी के समन्वय के वाहक साहित्यकार हैं जो प्रायः आधी शताब्दी से अपनी रचनाओं से संस्कृत वाङ्मय को नई कृतियों से सजाते रहे हैं। उनका साहित्य किसी एक विधा में सीमित न रह कर गद्य-पद्य, काव्य, नाटक, चम्पू, स्तोत्र और सूत्र आदि अनेक प्रकार के रचना प्रकरणों से परिपूर्ण है। इसमें राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषयों के अतिरिक्त भौतिक और वैज्ञानिक विषयों का भी विवेचन है। उनकी रचनाओं में जहां १६ सर्ग का हरनामामृतम् नाम का

चरित्रात्मक महाकाव्य है वहीं 'मत्त लहरी' जैसे काव्योद्गार भी हैं जो सवाहयात उमर खैयाम के ढंग पर लिखे गए हैं किन्तु जिसमें संस्कृत साहित्य में व्याप्त दार्श-निक विचारधारा का उन्मेष भी यथास्थान पूरी तरह हुआ है।

हरनामामृतम् नामक महाकाव्य एक सम्पूर्ण जीवन के विविधपक्षों की ओर विभिन्न अवस्थाओं की हृदयग्राही कहानी है। इसमें जहां जीवन के विभिन्न आदर्शों का विवेचन है वहां वाराणसी और उज्जयिनी जैसी नगरियों के सारस्वत और सुसंस्कृत वातावरण का भी सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण हुआ है।

मरु प्रदेश के निवासी होने के नाते उसके सौन्दर्य और सुषमा का कवि ने गहरा अध्ययन किया है लेकिन हरनामामृतम् का कवि जिंदगी के केवल रसमय पक्ष को ही देखने वाला नहीं है। मरु प्रदेश में दुर्भिक्ष का जो वर्णन कवि ने किया है उसमें प्रत्यक्षदर्शी की यथातथ्यता और मानवी हृदय की आतुर संवेदना है।

शास्त्री जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'विश्वमानवीयम्' है जिसमें नौ सर्ग हैं और नाना प्रकार के छन्दों, प्राकृतिक वर्णनों और अनेक रसों का समन्वय है। इसमें किसी एक ही नायक के जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं है न, इसमें किसी एक ही कथा - प्रसंग का आश्रय लिया गया है। पं० विद्याधर शास्त्री ने स्वयं भी इसको किसी महाकाव्य या खण्डकाव्य की श्रेणी में न रखकर एक नई ही विधा कहा है और उसे 'हृद्गीत' संज्ञा दी है।

"नवे संस्कृत साहित्ये नवैषानुपमा विधा ।
कथा नेयं न वा काव्यं हृद्यगीतं परं नवम् ॥

इस काव्य ग्रन्थ के लिखने में कवि की नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। काव्य को परम्परा मात्र की कसौटी पर कसने वाले लोगों का उद्बोधन करते हुए कवि ने स्वयं कहा है :—

"मानवानामयं धर्मः प्रकृत्यैव सनातनः ।
नवा दृष्टिर्नवो मार्गो नवोत्साहो नवाकृतिः ॥

इस कृति में मानव के विश्वव्यापक स्वरूप और उसकी नवयुग प्रवर्तिनी क्षमता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें आज की अधूरी शिक्षा प्रणाली और कवि की धारणा के अनुसार आदर्श शिक्षा प्रणाली के विषय में भी विचार व्यक्त किये गए हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्रलोक, पितृलोक इत्यादि लोकोत्तर सृष्टियों का दिग्दर्शन भी है और अन्ततः गतिशील जीवन के अभिनव सौन्दर्य के कारण पृथ्वी लोक के कर्मशील जीवन को देव लोक के भोगमय जीवन से श्रेष्ठतर ठहराया गया है। देवत्व की अपेक्षा मानवत्व की यह वरीयता और उत्कर्ष निश्चय ही संस्कृत साहित्य के लिए एक अछूती और नवीन दृष्टि है।

काम्यो न कैरत्र सतामनुग्रहः ?

इस ग्रन्थावली की कृतियों का रचनात्मक इतिहास गत ६०-६५ वर्षों के काल में परिव्याप्त है। पूज्य पितृप्रवर स्वर्गीय श्री देवीप्रसाद जी शास्त्री ने श्रुतबोध के अध्यापन के साथ ही सन् १९१२ में मुझे सस्कृत छन्दों के अटपटे पदो की रचना में प्रवृत्त कर सन् १९१५ में मेरे "शिव पुष्पाञ्जलि" और "सूर्य प्रार्थना" नामक २ स्तोत्रों को प्रकाशित करवा दिया था। उस दिन से लेकर आज तक मेरी यह प्रवृत्ति कभी अवरुद्ध नहीं हुई। परन्तु डूगर कॉलेज पत्रिका, विश्वम्भरा और भारती आदि मे प्रकाशित इसके कुछ अशों और लीला लहरी आदि २-३ मुद्रित पुस्तकों के अतिरिक्त इसका अधिकांश भाग यत्र-तत्र विशीर्ण और अप्रकाशित ही था।

राजस्थान साहित्य अकादमी की संस्कृत समिति द्वारा मेरी इस मुद्रित और अमुद्रित समस्त साहित्य सामग्री को ग्रन्थावली के रूप मे प्रकाशित करने की उदार अनुमति दे देने पर भी, मेरी हार्दिक कामना यही थी कि इस सामग्री में से जो कुछ मुद्रित हो वह मेरे निरीक्षण में ही हो। इस अभ्यर्थना की पूर्ति, बीकानेर में ही ग्रंथावली के मुद्रित कराने की स्वीकृति देकर वर्तमान अध्यक्ष विद्वत्प्रवर श्री पं० विष्णुदत्त जी शर्मा एवं परम सक्रिय मान्य निदेशक श्री डा. राजेन्द्र शर्मा ने कर दी, तदर्थ मैं इन दोनो महानुभावों का हृदय से परम आभारी हूं।

मेरी इन कृतियो में "हरनामामृतम्" के कुछ स्थलों के परिष्करण में संस्कृत और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् सुकवि मेरे अनुज डा० दशरथ शर्मा एवं विद्वत्प्रवर श्री प. लक्ष्मी चन्द्र जी मिश्र ने तथा इसकी प्रथम भूमिका के लेखन में आचार्यवर्य श्री द्विजेन्द्रनाथजी ने एवं पाठ के संशोधन में डा० श्री ब्रह्मानन्दजी ने जो सहायता दी वह सदैव साभार सस्मृत रहेगी। अन्त में सबसे अधिक कृतज्ञ मैं संगमाध्यक्ष श्री पं. विष्णुदत्त जी का हूं, जिन्होंने गागर में सागर से परिपूर्ण आमुख मे इस ग्रंथावली को कृतार्थ कर दिया है।

बीकानेर में चिरञ्जीव डा० दिवाकर शर्मा ने पूर्ण परिश्रम के साथ हजारों पृष्ठों में यत्र-तत्र विकीर्ण मेरी सामग्री को आवश्यक संशोधनों के साथ प्रेस-कापी के रूप में प्रस्तुत कर दिया और संदर्भ सकेतादि की पूर्ति चि. गिरिजाशंकर शर्मा ने कर दी तदर्थ माता सरस्वती से मेरी यही प्रार्थना है कि वह इन्हें निरंतर विद्यायशोऽभिवृद्धि से सम्पन्न कर चिरायु करे।

—विद्याधरः

संग्रह सम्पादकीय

नाना स्थानों में विकीर्ण, पूर्ण एवं अपूर्ण तथा नाना संशोधनों से सम्पन्न सामग्री में से अपेक्षित पाठ का चयन यद्यपि परम दुष्कर था किन्तु पूज्य पितृ चरण के निदेशन एवं डा० परमानंद सारस्वत के सहयोग से इसकी प्रेस कापी को प्रस्तुत कर देने के पश्चात् मुद्रण-कार्य में प्रेस से सम्बन्धित जो-जो समस्याएं उभर कर सामने आईं, डा० राजेन्द्र शर्मा निदेशक साहित्य अकादमी ने उन सबका तत्परता से निराकरण किया, तदर्थ मैं आपका हृदय से आभार स्वीकार करता हूं। अथच एजूकेशनल प्रेस के स्वामी श्री वीरेन्द्र सक्सेना द्वारा प्रूफों के संशोधन में स्मरणीय पूर्ण सहयोग देने पर भी, संस्कृत शब्दों के योजन में जो स्वाभाविक स्खलिति हुई है, तदर्थ पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे अन्त में संलग्न शुद्धिपत्र पर भी दृष्टिपात अवश्य करें।

निवेदक—

दिवाकर शर्मा

अथ विषयानुक्रमणिका

हरेर्नामामृतम् — प्रथमे सर्गे

अद्वितीया सारस्वती शक्तिः २. सत्काव्यशक्तिः

द्वितीये सर्गे —५—८

गंगावरीब्रह्मर्षिदेशः, कुवैषणा, मातृत्वम्, संतुष्टं जीवनम् ।

तृतीये सर्गे – ९ – १२

कृतार्थौ पितरौ, अस्थिरंजीवनचक्रम्, स्वतन्त्रोबालस्वभावः, पराधीनाऽद्यतनी जीवनगतिः, व्यायामस्थली, वैवाहिकं बन्धनम् ।

चतुर्थे सर्गे १३—१६

मल्लस्वभावः, प्रकृतिजनितं परिवर्तनम्, यज्जीवनं तद्यश एव लोके, काशीयात्रा ।

पंचमे सर्गे, १७—२१

काशी हि सा पण्डित राजधानी, संस्कृत शिक्षालयानाम्प्राक्तनी दिनचर्या, गृहस्थ जीवन-वैचित्र्यम्, तपस्विनी भारतीया नारी ।

षष्ठे सर्गे २२—२५

बलीयसी लोकगतिः, शोक वैकल्यम्, वृद्धजनोपदेशः, अभिनवानुभूतिः, ब्रह्मराक्षसेन संलापः, तद्-विमुक्तिश्च,

सप्तमे सर्गे २६ – २९

मरुदेशाभियानम्, काशीपरित्यागानुतापः, मरुसौंदर्यम्, न नीरसं चेतसरमं विवर्त्ते,

नियतिप्रभावः,

अष्टमे सर्गे ३०—३४

प्राक्तनी सात्विकी कान्तिः, विद्या-विलासः, प्राक्तनी शिक्षण–पद्धतिः, विद्यार्थि-जीवनम्, संध्यावन्दनादि-सौख्यम् ।

नवमे सर्गे ३५ – ३९

दुर्भिक्षाक्रान्तो मरुदेशः, गीर्वाणत्वम्, जडाप्रकृतिः, शिवाभिषेकः, यज्ञ प्रभावः, जलाप्लुता-मही, शिवस्तुतिः,

दशमे सर्गे ४० —४४

मारवी यात्रा, पवित्रं ग्रामजीवनं, दस्युराज प्रतिबोधनम्, तीर्थदर्शनम्

एकादशे सर्गे ४५ —४८

वानप्रस्थाभिरुचिः, विद्याधनं ह्येव धनं बुधानाम्, अद्यतनी दयनीया, गृहस्थगतिः, आत्मना-त्मानमुद्धरेत् हरद्वार-निवासः, पार्वती सुषमा,

द्वादशे सर्गे ४९—५३

निःसत्त्वमद्यतनं युगम्, प्रहृष्टा संस्कृत संस्कृतिः, ऋषिकुल महविद्यालयादि विद्वन्मण्डली, कुरुक्षेत्रम्, विप्रसम्मेलनम्

त्रयोदशे सर्गे ५४—५७

अव्यक्षीयं भाषणम्, वैज्ञानिकी वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणत्वम्, विश्व कल्याण भावना

चतुर्दशे सर्गे ५८—६१

यज्ञशाला, वैदिकी हिंसा न हिंसा, हिंसाविरोधः, स्वार्थग्रस्तः, साम्प्रतिको जनः

पञ्चदशे सर्गे ६२—६६

परम पावनी सुरसरित्, स्मरणीया संघयात्रा, संरक्ष्या स्वसंस्कृतिः, संस्कृते संस्कृतिः शुद्धा, विकृतिः स्याद् विघातिनी, न निन्द्या वालवृद्धयः, सा भाषा सुरभारती, नवः सर्गः प्रवर्त्यताम् ।

षोडशे सर्गे ७०—७६

ब्रह्मलोकावाप्तिः, सुधीभिः प्रवर्तिता परम्परा, विविधा विद्वद्वरेण्याः, शिष्याः प्रकृतिः कृत्रिमायते, अनुपमा संस्कृत-संस्कृतिः ।

विश्वमानवीयं काव्यम्

प्रथमे सर्गे ७६—८२

विश्वव्यापिनी दृष्टिः, नवीनं यत् पुराणं तत् पुराणं च पुनर्नवम्, सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिताः, नवीनं जीवनं नित्यम्, प्रबुद्धा साम्प्रतं मतिः,

द्वितीये सर्गे ८३—८७

अहर्निदेशः, दैवीप्रकाशः, ऐश्वरं दर्शनम्, लक्ष्यहीनाः शिक्षालयः,

तृतीये सर्गे ८८—९१

उज्जयिनीपुरी, इष्टदेव-स्मरण सामर्थ्यम्, अज्ञेयाकालगतिः, त्वमेव माता च पिता त्वमेव, क्षणे क्षणे हन्त कृतोऽयमन्यः ।

चतुर्थे सर्गे ९२—९५

वीर प्रशस्तिः, शक्ति प्रवोधनम्, वैयक्तिकी सामाजिकी च मानवीया महाशक्तिः, यो ददाति यो भुंक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति ।

पञ्चमे सर्गे ९६—९९

अन्तर्दृष्टि - विकला अहम्भावग्रस्ता आधुनिका वैज्ञानिकाः, साधुवादैः सत्करणीयाश्च, न

काव्यवाटिका — १९९ – २१४

विद्याधर साहित्य दर्शनादि सूत्राणि — २१५ - २२९

संस्कृत नाट्यावली २३० — ३४०



॥ श्रीः ॥

अथ हरनामामृते काव्ये

(आरम्भिकं निवेदनम्)

शुक्लां श्वेतगल्द्-विभूषित-सरः—पद्मासने संस्थिताम्
पश्यन्तीं जननीव नित्यमखिलान् स्मेराननां सर्वदा ।
वन्देऽहं वरदां सदैव विशदं सद्यः शुभादेशिनीम्
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥*॥

यतो ह्यकेकल्लाद् गुणानामनन्ता गणा भान्ति लोके विभिन्नस्वभावाः
गणास्तेषु कश्चिद् रजोभूस्तमोभू र्वियत्तां न विघ्नं कचिन्नोऽर्थसिद्धौ ॥
सृजन्त्यजस्रं नवमेव सर्गं वर्णैरवर्णं च विभावयन्ती
विराजते कापि विलक्षणेयं सारस्वती शक्तिरहोऽद्वितीया ॥१॥
कवि विधाता भवतीह साक्षान् क्षुद्रश्च कश्चिज्जगतीकणोऽहम्
शक्ति र्न सा विश्वविमोहिनी मे काव्यं यया मञ्जुलमातनोमि ॥२॥
सर्वं हि लोके सुलभं सुयत्नैः सत्काव्य-शक्ति र्न परं सुलभ्या
नवैः प्रकाशै रभिभासमाना कृपा प्रभोः सा प्रभुणैव कार्या ॥३॥
आनन्दमग्ना करुणाप्रसूता शुद्धानुभूति र्निखिलार्थधात्री
सा चेतसो गीतिरसा कुतश्चित् स्वयं स्वमत्ता प्रभवेत् कदाचित् ॥४॥
कवि र्यतः सृष्टिमिमां समस्तां पश्येत् शिवां रम्यतमां च सत्याम्
यस्यां विशाला स्वत एव बुद्धि र्मनः प्रफुल्लं विभु निर्मलं च ॥५॥
अनन्तगुह्यार्थविभासकं तत् दिव्यं महः किन्तु कुतोऽधिगम्यम्
बीजप्रवृत्ति र्मनुजस्यवृत्तिः कदा परं नेह विकासशीला ॥६॥
तरंगितेयं च पुनः स्वकृत्ये नैवेक्षते कंचन दोषकोपम्
तरंगिणी या सततं स्वभावान् प्रायः स्वतन्त्रा स्वगतं विधत्ते ॥७॥
मनोविचारान् प्रकटीकरोति स्वाभाविकीयं प्रकृतिर्जनस्य
तस्मान् मदीयापि मनः कथेयं निवेद्यते पद्यमयी सुहृद्भ्यः ॥८॥

---

* श्री नागरी भण्डार भवन के मध्यवर्ती मध्य हौज सरोवर में विराजमान विद्याधर शास्त्री की इष्टदेवी माता सरस्वती की विशिष्ट वन्दना ।

गीतं यथा गीतमहो पुराणै स्तथा न गातुं विभवो मदीयः
श्रुतानि गीतानि परं कवीनां तान्येव गुञ्जामि मनोविनोदी ॥९॥

भानुप्रकाशे प्रतते प्रकामम् सदा सुरम्ये च शशिप्रकाशे
खद्योतरेखापि विभाति रात्रौ स एप धर्मः प्रकृतेरनादिः ॥१०॥

दिव्यैः प्रकाशैश्च तमोऽपहारे कृतेऽपि तन्नश्यति नैव कृत्स्नम्
क्वचित् शलाकैव भवेत्कृतार्था सर्वं निजस्थानगतं हि रम्यम् ॥११॥

जानेऽथ का नाम गतिर्मदीया कविप्रसंगे भविता भवेऽस्मिन्
सरस्वतीतीर-विहाररोधी वृतो विधिः कोऽपि परं न धात्रा ॥१२॥

मन्ये च नेदं सरलं हि कार्यं मनोरथः किन्तु जगद्विहारी
सृष्टो विधात्रा च जनो जगत्यां सनातनायैव जयार्जनाय ॥१३॥

प्रतिक्षणं यत्र मतिर्नवीना गति र्नवीनैव च यत्र नित्यम्
कथं न तस्मिन् नवमस्तु काव्यं युगे युगे नव्यविमर्शशीले ॥१४॥

नवं पुराणं नच वेद्मि किञ्चित् सदा नवं यस्य कृते पुराणम्
ह्रासो विकासश्च सदा समेतौ मह्यं न भेदोऽस्ति हरे हरौ वा ॥१५॥

रोगो विचित्रोऽद्य गतश्च वृद्धिं महानयं संस्कृतपण्डितानाम्
हितैषिभिः सत्वरमेव शाम्यो विलोक्यते येन नवं न किंचित् ॥१६॥

निजात्मविश्वासविहीनवृत्तिः सदा पराधीनमतिश्च कश्चित्
गदो महान् नव्यविकासरोधी साहित्यसम्वृद्धि-विनाशकोऽयम् ॥१७॥

अद्यापि किं नैव मनोविकासा ह्रासा विलासाश्च भवे भवन्ति
जीर्णो न नष्टो जगदन्तरात्मा विकासशीलः स सदा स्वभावात् ॥१८॥

नास्यौपधं वेद्मि गदस्य सम्यक् तद्देयमग्रे निपुणै र्भिपग्भिः
यथा प्रतीतं कथितं तथा तत् परीक्षणीयं सततं सुधीभिः ॥१९॥

न दूयतां कस्य मनश्च लोके न भावनाशून्यमिदं यदि स्यात्
विलोक्य धर्माद्विमुखै र्दिवान्धैःसद्भारतीयां स्वगतिं निरुद्धाम् ॥२०॥

यद् वानरैरद्य विवेक शून्यै रुद्यानवीथी क्रियते विदीर्णा
पथि स्थितैश्चापि विधेय एव स्वल्पोऽपि कश्चित् प्रतिरक्षियत्नः ॥२१॥

धूमावृता हन्त कृताद्य यस्मात् सत्संस्कृति र्भारतजा स्वमौर्ख्यात्
केनापि सत्येन महौजसा सा संदीपनीया त्वरयैव विज्ञैः ॥२२॥

यज्जीवनं धर्मविवेकपूर्णम् समग्रसंसारशुभाभिकांक्षि
सर्वात्मसन्तृप्तिपरञ्च नित्यं व्यग्रं तदेज्जठराग्निशान्त्यै ॥२३॥
तस्माद् गवेष्यं शुचिजीवनं तत् निदर्शनं भारतसभ्यतायाः
सद्भावसौम्यं शुभकर्मरम्यम् यस्मात् भवेन्नः सुलभः स्वमार्गः ॥२४॥
दृष्ट्वा गतिं किन्तु मनोः सुतानां हत्यारतानां ज्वलतां कुभावैः
परस्परं निन्दनतत्पराणां कं स्तौमि निन्दामि च कं जगत्याम् ॥२५॥
अद्यापि काचिद् यदि शुभ्ररेखा तन्वी भवन्ती तमसि प्रगाढ़े
विभासते, संस्कृतसंस्कृतौ सा, रक्ष्या न यावत्प्रभवेददृश्या ॥२६॥
ज्ञानोज्ज्वलाः शाश्वतदृष्टिशीला जयन्ति ते संस्कृतविज्ञवर्याः
संरक्षितं यैः शतशोऽप्यनार्यै रुपप्लुतं भारतगौरवं नः ॥२७॥
नक्तंदिवा यैश्च विशुद्धबोधैः कृतं सुकृत्यं जनजन्मशुद्ध्यै
परोपकृत्या च निजोपकारः दृष्टः स्वदेशो भुवनत्रयेच ॥२८॥
यदृच्छया लब्धकणैः सुतुष्टा गोवृन्दवासैः परिपूतगेहाः
स्वाध्यायसौख्ये नितरां निमग्नाः समर्प्य सर्वं प्रभवे विशोकाः ॥२९॥
विलोप्य सर्वानपि विश्वभेदान् यैरैक्यदृष्टि र्जगति प्रपुष्टा,
वेदप्रकाशेन विभासमाना कृता सदा यै र्जगतां त्रयीच ॥३०॥
तेष्वेव विद्वत्सु विभासमानो बुधाग्रगण्यो हरनामदत्तः,
सदा सदाचाररतस्तपस्वी भाष्ये सुविख्यात मति र्मनस्वी ॥३१॥
आसीन्महात्मा महनीयमूर्तिः काचिद् विभुति र्जनजीवनस्य
दिव्यावतारः सुकृतस्य साक्षात् शास्त्रेषु नित्यं धृतधर्मबुद्धिः ॥३२॥
गतिं समाश्रित्य बुधस्य यस्य प्रबोधिनीं धर्ममते रदभ्याम्
निरुप्यते संस्कृत जीवनेऽस्मिन्* पुण्याः कथाः संस्कृत संस्कृतानाम् ॥३३॥
गुरु र्गरीयान् स पितामहो नः विद्वद्वरै रंचित—पादपद्मः
कृत्यानि संस्मृत्य शुभानि यस्य स्वयं सुबुद्धि र्भजते विकासम् ॥३४॥
नेयं प्रशंसा स्वकुलस्य काचित् सत्यप्रकाशाय निमित्तमेतत्
शिष्यै र्यथाशक्ति सदैव सर्वै र्गेयं सदा सद् गुरुगौरवञ्च ॥३५॥
गृहे गृहे सद्गुणवर्धनार्थं गुणा गुरूणां च सदैव गेयाः
गुरून् सदैवार्यकुलप्रसूता देवस्वरूपान् गणयन्ति नित्यम् ॥३६॥

---

* हरनामामृतम्—संस्कृत जीवनम् नाम की काव्यावली का ही एक अंग है।

रक्ष्यञ्च किं तै र्मनुजैः कृतघ्नै र्ह्युपेक्षिता यै र्गुरवोऽपि पूज्याः
भवन्तु सर्वेषु कुलेषु मान्याः सर्वश्च सर्वस्तवनं करोतु ॥३७॥
विलक्षणैव प्रतिभाति लोके का नाम शक्तिश्च जने जने न
सांख्ये हि सर्वे पुरुषाः स्वतन्त्रा विकारशून्याश्च भवन्ति लोके ॥३८॥
उदारचित्ताः समबुद्धिधीराः सदा सदाचाररताः प्रशान्ताः
कथं वृथास्ते नच वर्णनीया आलोकिता यै र्जगती समस्ता ॥३९॥
सर्वेऽपि सज्जीवनसाध्यसिद्ध्य सिद्धान्तमूल् शुद्धधिया प्रयान्तु
विहाय मार्गं सरलं वृथैव भ्रष्टाश्च वक्रे न भवन्तु सन्तः ॥४०॥
एषां सतां संस्कृतसंस्कृतानां स्थितिः स्थिरा संस्कृतजीवनेऽस्मिन्
सनातनीयं सरणिः सुसेव्या लक्ष्याधिगत्यै नियता प्रकृत्या ॥४१॥
हरनामामृतं चास्मिन् विज्ञैः पूर्वं निपीयताम्
गीयन्तांच ततो गाथाः सर्वेषां सुधियां शुभाः ॥४२॥
साहित्यं सुरभारतीपरिणतं विश्वात्मसन्तर्पणम्
ब्रह्मास्वादसहोदरं विधिसुता — वीणाझरं भावुका !
वेदेष्वेव विभासितं भगवता पूर्णं हि पूर्णेषु यत्.
किं कश्चित् कवतां नवं परमहो रुद्धा न वाचां गतिः ॥४३॥
सन्मत्यै जगदीश्वरी विजयते नित्यं शुभा शारदा
काव्यालोचनतत्परः सुकविता-स्रष्टा च मे सोदरः !
विद्वान् भारतसंस्कृते र्दशरथः ख्यातो बुधानां व्रजे
लोकोऽयञ्च सदा नवानुभवदः किञ्चित्ततः कल्प्यते ॥४४॥

इति विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि-
तनय-विद्याधर-शास्त्रि-विरचिते
हरनामामृते प्रथमः सर्गः



हरनामामृते द्वितीयः सर्गः

(ब्रह्मर्षिदेशः पुत्रैषणा, मातृत्वम्, संतुष्टंजीवनम्)

निसर्गरम्या भुवनान्तराले धात्रा धरित्री रचिताऽद्वितीया
विश्वम्भरा सर्वसमृद्धिपूर्णा तस्यां च सद्भारतमद्वितीयम् ॥१॥
यस्मिन् प्रदेशो भुवनप्रसिद्धो ब्रह्मर्षिदेशोऽखिलदेशभासी
सारस्वतो यत्र सदाप्रवाहो दृषद्वती यं सरसं विधत्ते ॥२॥
यत्र स्थितानां च महीसुराणाम् आदर्शभूतो व्यवहारजातः
मनुस्मृतौ सर्वमनुष्यजाते आरित्र्यशिक्षा-गुरुणाप्यशंसि ॥३॥
तत्रैव शान्ता भव-भक्तिरक्ताः तपस्विनः कर्मविधिप्रसक्ताः
तृवर्गतृप्ता विमलात्मबोधा द्विजाग्रगण्या न्यवसन् नमस्याः ॥४॥
स्वयं निवृत्ता अपि लोकवृत्तेः इच्छाः परेषां परिपूरयन्तः
सन्मार्गयात्रारसिकाः कुलीना धर्म-प्रवीणा भवपोतवाहाः ॥५॥
सद्दर्शनेनैव जनाश्च येषां कामं पपुः शान्तिसुधां कृतार्थाः
आकर्ण्य वाचश्च विशुद्धसत्वा अलौकिकं सत्पदमाश्रयन्त ॥६॥
तेष्वेव सद्विप्रवरेषु सौम्यो मुरारिदत्तो हरदत्तचित्तः
गोत्रे भरद्वाज मुनेः पवित्रे बभौ बुधो ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥७॥
मन्त्रक्रियायां रससाधने च व्यासक्तवृत्तिः स्थिरचित्तवृत्तिः
गोसेवया शंकरसेवया वा निनाय कृत्स्नं समयं सुखेन ॥८॥
कर्तव्यमित्येव कृतं च कुर्वन् नह्यर्थकामो नच कीर्तिकामः
नित्यं यथाशक्ति परोपकारी ह्याविरुद्धो विजहार विप्रः ॥९॥
सन्तोष-पोषी जितरोषदोषः सदा प्रसन्नोऽतिथिदेवसेवी
सुखेन कुर्वन् भवयाजियात्रां बभूव खिन्नोऽपि यदा कदाचित् ॥१०॥
देवर्षिकार्यादनृणोऽपि नाहं नूनं पितृणाम् ऋणतो विमुक्तः
तत्शोधनं किन्तु जनाश्रितं न स्वयं विधिश्चेन्नहि शोधयेत्तत् ॥११॥
मर्त्यस्वभावेन विषण्ण एवं प्रायःस चिन्ता विकलो बभूव
सम्बोधितश्चापि मनो न मेने मौनं स तस्मात् व्यथते स्म चित्ते ॥१२॥

वात्सल्यसौख्यानुभवाय केचित् केचित् स्वराष्ट्रोन्नतशक्तिवृद्ध्यै
केचित् निजोपार्जितवित्तभुक्त्यै पुत्रान् जगत्यामभिकामयन्ति ॥१३॥
आर्याः पितृणाम् ऋणशोधनाय ज्ञानप्रकाशाय शुभार्जनाय
यशः प्रसाराय च यज्ञपूर्त्यै वाञ्छन्ति पुत्रान् कुलवर्धनाय ॥१४॥
चिन्ताभिभूतोऽपि सुताधिगत्यै नासौ परं भूरि चिचिन्त चित्ती
स्थिति गृहिण्यास्तु विचिन्तयन्त्या विचिन्तनीयैव बभूव किन्तु ॥१५॥
सृष्टा विकासाय भवे भवाय स्वभावतः स्नेहयी कुलस्त्री
लभेत शान्ति न विकासशून्या सर्वः स्वभावानुगतो जगत्याम् ॥१६॥
मातेति तस्या श्चरमो विकासः तत्रैव तस्या जगती कृतार्था
भोगाय सृष्टा नहि केवलं स्त्री किं नाम जाया जननी नचेत् सा ॥१७॥
स्नेहस्यधारा यदि सेचनार्थम् प्राप्नोति किञ्चिन्न मृदुस्वभावम्
तत्रैव सा शुष्यति तर्हि शान्ता मृषैव पाषाणचयं च नैति ॥१८॥
समीक्ष्य तां खिन्नगतिं गृहिण्या ययौ स तस्मात् शरणं शिवस्य
सम्पूर्यते यत्र मनोऽभिलाषा नोपेक्ष्यते यत्र वचश्च दीनम् ॥१९॥
लक्ष्यैक दृष्टिः स्तवनप्रवृत्तो धृतव्रतोऽसौ शिवभक्ति-निष्ठः
स्तुवन् निवृत्तो जपतः कदाचित् मनोगतं शङ्करमित्थमाह ॥२०॥
शम्भो स्वयं वेत्सि मदीयहृद्यम् निजात्मने किं बहु जल्पनीयम्
विज्ञोऽपि किन्त्वज्ञ इवासि मौनी तस्मादिदं स्पष्टमहं वदामि ॥२१॥
सर्गे हि ते सर्वसुखाभिरामे 'नाहं सुखी' नेति मृषा प्रभाषे
सदा स्वतन्त्रो विहरामि कामं केनापि पापेन च नास्मि दग्धः ॥२२॥
ईर्ष्या परेषामुदये न काचित् द्वेषो न केनापि मनोविदारी
स्वस्थः सदा स्वात्मरतिः प्रसन्नः सुखं स्वकीयं समयं नयामि ॥२३॥
नाहं पराधीनमति र्बुभुजिष्यो न चापि तृष्णाविविमर्दितोऽस्मि
हसामि गायामि सदा सुहृद्भि र्वदामि गोचाम्यनियन्त्रितश्च ॥२४॥
एको विकल्पो हृदयप्रमाथी मां बाधते किन्तु भवे तवास्मिन्
येनाभिभूतो विजहामि धैर्यं निद्रा च दूरीभवति क्षणेन ॥२५॥
न संशयैरस्थिरमानसोऽहं स्थाणो स्थिरा मे त्वयि शुद्धबुद्धिः
सुधांशुशीतोऽपि सुधाह्रदे किं दाहानुभूतिं बत किन्तु कुर्वे ॥२६॥

जाता नचेन्मे पितरः प्रसन्नाः सुखं मदीयं ननु किंसुखंतत्
म्लाने हि मूले न तरौ प्रसूनं नचापि काचित् सुषमा वनान्ते ॥२७॥
निराश्रया भ्रातृचतुष्टयी मे सन्तानहीना श्वसिति प्रतप्तम्
साध्या समस्या मनुजेन नेयम् विना कृपां ते भुवि दीनबंधो ॥२८॥
गेहेऽस्मदीयेऽपि भवेद्यथा ते सा बाललीला सुखसृष्टिशीला
कुर्याः कृपां तां भव साम्प्रतं त्वं शून्यं गृहं ते कथयन्त्यपुत्रम् ॥२९॥
भवन्तु तृप्ताः पितरोऽस्मदीया जायाश्चजायात्वमथाभियान्तु
तथाविधा तेऽस्तु कृपाद्य सद्यः किं वाच्य मन्यत् पुरतः पुरारेः ॥३०॥
सर्वान्तिमं यत्र निवेदनं न स्तत्रैवमेतद् विनिवेद्य सर्वम्
मौनं क्षणं तिष्ठति शङ्कराग्रे तस्मिन्द्विजाग्र ये दृढभक्तिभाजि ॥३१॥
विकासयन्ती भवनं समन्तात् क्षणेन सद्यो मनसि स्फुरन्ती
विश्वाससारा दृढभावनेयं समुत्थिता कापि नभोगिरेव ॥३२॥
"उत्तिष्ठ भो ब्राह्मण गच्छ गेहम् गृहस्थधर्मं चर सुप्रसन्नः !
स्वभावसिद्धा शुभभावनायाः सङ्कल्पसिद्धि र्भुवने भवस्य" ॥३३॥
इति श्रुतं श्रावयिता न कश्चित् दृष्टोऽथवा दर्शयिता च कोऽपि
नत्वा शिवं स्वात्मगृहं प्रतस्थे चेतोगतिः किन्तु चलाऽचलासीत् ॥३४॥
मार्गेऽथकेनापि विदाम्वरेण पृष्टः कथं भूरि विभासि विग्नः
रहस्यमस्मै विवृतीचकार शिवालये यत्तु यथानुभूतम् ॥३५॥
निगम्य सर्वं द्विजवर्य ऊचे प्रभोः प्रसादो मनसः प्रसादः
मनोरथस्ते फलितोऽद्यसर्वो ब्रूते न देवो वचसा स्फुटेन ॥३६॥
कृपाप्रसादं शिवशङ्करस्य शीघ्रं गुणाढ्यं तनयं लभेथाः
चिन्ता न काचिद् गिरिजा गृहस्थे भवस्य भक्तिश्च न कदापि वंध्या ॥३७॥
पुण्यै र्महात्मन् भवताद्य लब्धा स्वाभीष्टपूर्तिर्दृढनिश्चयेन
परम्परा या च कुलेऽस्मदीये यत्नैः सदा सापि सुपालनीया ॥३८॥
सेवा गवां ते भवतु प्रधाना न गव्यपण्यं स्वगृहे विधेयम्
न वैद्यवृत्तिश्च धनस्य हेतोः कुलस्य वृद्धिं विपुलां लभेथाः ॥३९॥
प्रणम्य सर्वं शिरसा विनम्रः तथैव जग्राह वचो बुधस्य
फलेन शून्या न सतां समीहा श्रद्धा च नित्यम् स्थिरतां प्रसूते ॥४०॥

तस्मात् दिनात् संस्मरणीय वृत्तात्
परं शुभोऽयं समयोऽद्य यावत् ।
संरक्ष्यते तस्य कुले समस्तैः
सेवा सदेयं क्रियते गवां च ॥४१॥

अथ कतिपयमासानन्तरं भासमाना
नवदिनकररेखा कापि यत् प्रादुरास !
बहुविधभय-भीमा तामसी सा विलीना
प्रभुपदनिरतौ तौ तुष्टुवाते च शम्भुम् ॥४२॥

इति हरनामामृते द्वितीयः सर्गः



हरनामामृते तृतीयः सर्गः

(कृतार्थौपितरौ, अस्थिरंजीवनचक्रम्, स्वतन्त्रोवालस्वभावः, पराधीनाऽद्यतनी जीवनगतिः, व्यायामस्थली, वैवाहिकं बन्धनम्)

कृती कृतार्थौ पितरौ विधात्रा जातौ प्रसन्नौ कुलवर्धनेन
फलप्रतीक्षा सुफलेन पूर्णा ऋणम् पितृणामनृणञ्च जातम् ॥१॥
प्रभुप्रसादोऽविगतो जनन्या मनोगति र्मोदमयी च सर्वैः
पुत्रोत्सवे सर्ग-विकासमूले गृहे गृहस्थै रभिगम्यते या ॥२॥
कालादनादे र्विविधैः प्रवाहै र्नाना कुलानां जननी पुराणी
आशासरित् यत्पुनरद्य हृद्या शुष्काऽपि पूर्णेव ससार सौम्या ॥३॥
स्वभाव एप प्रकृतेरनादिः प्रमोदते सा स्वसुताभिवृद्धया
वर्षागमे तत्र पदे पदे कै र्दृष्टा प्रहृष्टाऽभिनवांकुरै सा ॥४॥
धन्यं कुलं धन्यतमा पुरी सा गंगावरी धर्मधरासमृद्धा
लेभे स यस्यां वरजन्म पुण्यं जगद् विभातु स्वमतिप्रभाभिः ॥५॥
नित्यं जगत्यामभिनन्दनीयं तस्यैव सज्जन्म जनैः समस्तैः
सहस्रशो यस्य विकास हेतोः सर्गात् लभन्ते मनुजा विकासम् ॥६॥
अभूदयं संस्कृतसंस्कृताया भाग्योदयो भारतसभ्यतायाः
सन्मार्गदर्शी सुरलोक हर्षी विद्योदयः कोऽपि बभूव दिव्यः ॥७॥
विधाय शास्त्रानुमतानि सद्यः संस्कार—कर्माण्यखिलानि तस्य
हरेणदत्तः कृपयेति तातः तन्नाम चक्रे हरनामदत्तम् ॥८॥
पूर्णानि सर्वै र्गृहवर्तिसौख्यै स्ततो व्यतीयुः कतिचिद्दिनानि
स्थितं तथा नैव परं चिरं तत् स्थिरं न यज्जीवन-चक्रमेतत् ॥९॥
नैका स्थिति र्यत्र कदापि काचित् तज्जीवनं हन्त सदा विचित्रम्
हसन् क्षणेऽस्मिन् परतो रुदन्सन् यस्मिन्नरो हन्त विरौति दीनम् ॥१०॥
जही न सूनु हृदयैकसारं कार्यानुरोधादपि या क्षणेन
तामेव सद्यो वत हर्तुमस्मान् रताय कालाय नमो नमोऽस्मै ॥११॥
समर्प्य मौनं तनयं स्वकीयं स्तनंधयं ज्येष्ठपितृव्यपत्न्यै
जगाम सा तत्र गता हि यस्मात् लोकं पुनर्न प्रतियन्ति केचित् ॥१२॥

हरेणदत्तं हरदेइ देवी पुपोष सा तं सुतनिर्विशेषम्
मनोविरुद्धश्च न तस्य किञ्चित् तया कदाचित् हृदयेऽप्यकारि ॥१३॥

धावन् सुवत्सैरजिरे प्रसन्नः खेलन् वयस्यै र्मुदितश्च नित्यम्
क्षणे प्रसन्नः कुपितः क्षणेन वालोह्यसौ कस्य मनो न जह्रे ॥१४॥

क्षणे क्षणे काञ्चन नव्यभावां विशेषता मेष विकास्य खेलन्
अवाप शिक्षासमयामवस्थां यस्यां द्विजत्वम् मनुजा लभन्ते ॥१५॥

शुभे मुहूर्ते शुभवासरे च गुरोः कुलं तं जनको निनाय
तस्थौ क्षणं तत्र परन्तु नासौ कारागृहं तत् हृदि मन्यमानः ॥१६॥

वालाः प्रकृत्या मृदवः स्वतन्त्राः क्षणेन वन्धः सुकरो न तेषाम्
लीलापरास्ते स्वतरङ्गसारा भवन्ति लीलारसिकावतारा: ॥१७॥

जानन्ति ते नो जनजन्म लोके सृष्टं विधात्रा परतन्त्रतायै
दमाय चेतोलहरीगतीनाम् स्वकर्मणां चात्र फलानि भोक्तुम् ॥१८॥

क्रीडामयी नित्यमहो व्यलोकि क्रीड़ापरैस्तै र्जगती समस्ता
वाल्यात् पराधीनमनोगतीनां किं जीवनं किन्त्वधुना जनानाम् ॥१९॥

जाता वयं दास्यपरम्परायाः सञ्चालकाः केचन जन्मजाताः
व्यक्तित्ववेवी निजवंधनार्थ सामाजिकः को न विधि र्वृतो यैः ॥२०॥

स्वार्थाय वद्धाः प्रकृति-स्वतन्त्रा मूका वराका हि मृगा वनेभ्यः
संस्थापिता आयस पञ्जरेषु स्वाधीनचारा विहगाश्च दीनाः ॥२१॥

न तस्य वृत्ति र्भविता तया यत् धात्रा जनानां रचितो विमुक्त्यै
अनुसृतस्तद् विविधै र्वयस्यै वभ्राम तत्तद्–वनवाटिकासु ॥२२॥

क्वचित्फलाना मवलुण्ठनेन क्वचिन्नदीना मवगाहनेन
क्वचिच्च रथ्यासु वृथा विहारै र्व्यत्यापयामास दिनान्यमूनि ॥२३॥

प्रेम्णाथ लोभेन च ताड़नाद्यैः सम्प्रेर्यमाणे च विभर्त्स्यमाने
सर्वैरुपायै रवशीकृतेऽस्मिन् श्रान्तोऽवशेषे गुरुरित्यमाह ॥२४॥

अस्यां नगर्यां विचरन् स्वतन्त्रो नासौ त्रिकालेऽपि पठेत् कथञ्चिन
प्रेष्यः कचिद्यत्र भवेद् विधेयः गेहेऽथवा नित्यमयं सुरक्ष्यः ॥२५॥

क्रीड़ापरः कूर्दति धावनात्मा कदाप्यधीते न च वर्णमेकम्
स्वयं विरक्तोऽध्ययनाद् विरक्तान् वालान् स्वतन्त्रानपरान् विधत्ते ॥२६॥

गुरोः सकाशादतिचिन्तनीयं श्रुत्वापि सर्वं मृदुमानसेन
कुलैकसूत्राय सुताय पित्रा नावोचि किञ्चिन्मृतमातृकाय ॥२७॥

कृतेऽपि यत्ने यदि नास्ति पूर्तिः प्रतीक्षणीयः समयोऽपि विज्ञैः
भाग्ये भवेद्यद् घटतां तथा तत् फलेन्न किञ्चित् समयात् पुरस्तात् ॥२८॥

शुभाशिपायं सततं सुपोष्यः कृपा च रक्ष्या हृदये सदास्मै
ध्रुवं जगत्यां जगतीप्रसादो गुरुप्रसादात् सुलभो जनेभ्यः ॥२९॥

एवं हि तातेन कृतः स्वतन्त्रो मुक्तश्च विद्यालयबन्धनेभ्यः
मनोऽनुकूलं विहरन् कदाचित् व्यायामशालां स गतः सुहृद्भिः ॥३०॥

मल्लान् मिथोवर्षणसंनिलीनान् दृष्ट्वा ततः तत्र विशालकायान्
तेषां स्वभावेन मनोऽस्य मुग्धं शक्तिर्हि शक्तिं तरसाभियाति ॥३१॥

निरातपे शाखिसमीरसान्द्रे बालातपे वा शिशिरे प्रकामम्
गत्वा प्रशान्ते विपिने विविक्ते स पोषयामास शरीर शक्तिम् ॥३२॥

नानाविधैः पक्षिरवैः प्रमत्ते द्रुमैः फलाढ्यैः परिभूषिते च
सरित्तटे वा सरसां हि तीरे वृथाऽक्षिणोदित्थमसौ स्वकालम् ॥३३॥

नित्यम् प्रसक्तश्च शरीरमर्दे दुग्धस्य पाने घृतसेवने वा
मल्लाङ्गणे मल्लकथाप्रमत्तः सस्मार साध्यं किमपीह नान्यत् ॥३४॥

अद्यापि तन्मल्लपदे प्रसिद्धे साम्यङ्गभङ्गी स्फुटमेव भाति
कृष्णापि शुद्धा परुपापि मृद्वी मृत्सा यदीया प्रथिता ससारा ॥३५॥

विराजते चात्र जितेन्द्रियस्य श्री रामदूतस्य मनोजवस्य
मूर्ति विशाला भवभीतिहन्त्री विशाल-वुद्धेः पवनात्मजस्य ॥३६॥

यद्दर्शनेनैव बलस्य वृद्धिं निर्भीकता चैति जनस्य चित्ते
स्मृत्वा च यन्नाम नरा अधीराः सद्यः स्वधैर्यम् हि पुन र्लभन्ते ॥३७॥

तत्रैव निश्चिन्तमतिः स्वमत्तः स ब्रह्मचारी दृढवृत्तिधारी
अचेतने चेतनशक्तिदात्रीं शरीर-शक्तिं ववृधे विशालाम् ॥३८॥

न निर्बलै रात्मबलं हि लभ्यं नच प्रकाशोऽपि सहोऽसमर्थैः
जीर्णे विशीर्णे विकले शरीरे न कापि शक्ति र्नच कोऽपि बोधः ॥३९॥

समीहमानः स्वकुलस्य वृद्धिं पिता विवाहेन नियन्त्रितुं तम्
सम्प्राप्य काञ्चित् सुकुलप्रसूतां गुणान्विताम् सर्वविधिप्रशस्ताम् ॥४०॥

स्थानेश्वरात् हर्ष-विकासभूमेः गीताप्रकाशेन विभासमानात्
सुलक्षणां सौम्यवधूं विधानै हर्षातिरेकेण गृहम् निनाय ॥४१॥
जाते विवाहेऽपि गृहस्थधर्मे काचिद्गति र्नास्य बभूव किन्तु
मल्लस्वभावः पृथगेव कश्चित् प्रेयान् रसस्तस्य च भिन्न एव ॥४२॥
शतै र्जनानां परिवारितोऽसौ सर्वत्र विख्यातबलः स्वतन्त्रः
पुरेव कामं नगरस्थलेषु स्वच्छन्द वृत्तिः सततम् चचार ॥४३॥

अस्यां स्थितौ परमखिन्नमति र्मुरारि
गंत्वा मुरारिशरणं विनतो ह्युवाच
यन्नो घटेत भुवि यत्नशतैः कथंचित्
सद्यस्तदेव घटते भगवत्प्रसादात् ॥४४॥

इति हरनामामृते तृतीयः सर्गः



हरनामामृते चतुर्थः सर्गः

(मल्लस्वभावः, प्रकृतिजनितम् परिवर्तनम्,
यज्जीवनं तद्यश एव लोके, काशीयात्रा)

विरम्य नित्याह्निकभर्त्सनात्तात् प्रतीक्षमाणः समयं हि सौम्यम्
प्रभो विधानाय समर्प्य सर्वम् तूष्णीं स तस्थौ कतिचिद्दिनानि ॥१॥
स्वस्मिन्नुदासीनमतिं सदैवं खिन्नं तथा तं च समीक्ष्य तातम्
ब्रूते यथापूर्वमयं न कस्मात् मयेति पुत्रोऽप्यवशं व्यचेतीत् ॥२॥
प्रसादनायैव पितु र्ययौ तद् गुरो र्गृहम् पुस्तकपाणिरेप
कार्यं कचित् कारणतो जगत्यां पृथग् विचित्रं श्रयते स्वरूपम् ॥३॥
निरीक्ष्य तस्मिन् परिवर्तनं तन् पितुर्मनश्चापि दधार धैर्यम्
स्वयं कदाचिल्लाभतां स्वलक्ष्यं गतिं गृहीत्वाभिनवां स मग्नौ ॥४॥
प्रीतः स पुत्रं निजगाद् भद्र ! त्याज्यस्त्वया सम्प्रति मूर्ख संगः
मौनेन यत्तेन नतेन मूर्ध्ना श्रुतं वचस्तत् स बभूव तुष्टः ॥५॥
अथैकदा वामनपर्वपक्षे समाकुले जानपदैश्च पौरैः
महोत्सवे सर्वजनाभिरामे महोत्सवोऽभूत् परमः प्रसिद्धः ॥६॥
नानाप्रदेशागतमल्लवीरा विशालवक्षःस्थलदीर्घजंघा
प्रदर्शयन्तः स्वकला विभिन्नाः प्राहर्षयन् दर्शक-चित्तवृत्तीः ॥७॥
तेष्वेव कश्चित् स्वबलाभिमानी विचूर्णयंस्तन्नगराभिमानम्
लोकान्मुहु र्दर्पयति स्म यस्मात् गगाक सोढुं नहि तन्मनस्वी ॥८॥
मल्लस्वभावेन हृतात्मधैर्यो विस्मृत्य सर्वाणि पितु र्वचांसि
सम्प्रेर्यमाणः समयेन तेन क्षणेन मल्लाङ्गणमाविवेश ॥९॥
विधाय नाम स्मरणं गुरोश्च ध्यायंस्तथा मारुति वीरमूर्तिम्
आस्फालयन् बाहुतटं विशालं धूलीं स रंगस्य दधार मूर्ध्नि ॥१०॥
परस्परं मल्लकलाभिलीनो हस्तेन धृत्वा प्रतिमल्लहस्तम्
सम्पश्यतामेव ततो जनानां न्यपातयद् भूमितले भटं तम् ॥११॥
स्फूर्त्या स्वशक्त्याऽतुलयाथ दीप्तां स्वस्थान कीर्तिम्परितः प्रकुर्वन्
मुरारिसूनु र्विजयी विरेजे क्षणे क्षणे लब्धजयाविघोषः ॥१२॥

हृष्यत्सु लोकेष्वपि न किन्तु तातः सेहे वचो भङ्गमिमं सुतस्य
कथं पुनः पूर्वगतिं गतोऽयं पठेदसावित्यधिकं विपण्णः ॥१३॥

वचः शरैस्तीक्ष्णतरैस्तदेनं विद्धं स चक्रे सुहृदां समक्षे
मुहुर्मुहु र्भर्त्सयते स्म चैनं "मुखम्पुरो मे नहि दर्शयेति ॥१४॥

अपि स्वभावं जनकस्य जानन् मर्माहितोऽयं सुहृदां समाजे
क्षुब्धः क्षणं स्तब्ध इवात्र तस्थौ ससार मौनं च ततः स खिन्नः ॥१५॥

तैस्तैं विकल्पैं विचलात्मवृत्ति विहाय सर्वान् सुहृदोऽथ बन्धून्
निर्लक्ष्यगामी व्यवसाय शून्यो बभ्राम बाह्येषु पुरस्थलेषु ॥१६॥

दैवात्तु मार्गे मिलितेन तावत् केनापि वृद्धेन स तत्र पृष्टः
"किं भो कथं भ्राम्यसि काननेऽस्मिन् कथं च ते नाद्य मुखम्प्रसन्नम् ॥१७॥

किं नूतनं कारणमद्य जातम् सदा प्रसन्ने यदुदेति चिन्ता
विज्ञाय हेतुं स उवाच तस्मै नाद्यापि ते बाल मतिर्विलुप्ता ॥१८॥

क्रोधोऽपि पुत्राय शुभाभिलाषी हिताय नित्यं जनकोपदेशः
त्वयापि कार्यं हि तदेव तस्मात् येन प्रसीदेज्जनकान्तरात्मा ॥१९॥

विद्याप्रकाशो द्विजगेहभासी विभुः स्वभावाच्च भवप्रकाशी
सर्वप्रतिष्ठाजनकः स लोके हेतुश्च सौख्यस्य सनातनस्य ॥२०॥

उच्चैः प्रशंसावचनैरुदीर्णा क्षणाय लब्धा यदि साधुवादाः
तेषाम्प्रभावः क्षणमात्रवर्ती प्राप्तुं स्थिरां तत् प्रयतस्व कीर्तिम् ॥२१॥

गृहे स्थिता ते गृहिणी क गच्छेत् करोतु तातस्तव वा किमन्यत्
तपांसि तप्त्वा स्वकुलस्य वृद्ध्यै प्राप्तोऽसि तद् वेत्सि न किं कुबुद्धे ॥२२॥

तद्वेद्मि सर्वं नहि किन्तु वेद्मि क साम्प्रतं मे स्थितिरस्तु काचित्
स्थेयं गृहे नेति दृढो विचारः तातो भवद्भिः परिसान्त्वनीयः ॥२३॥

वयो व्यतीतं समयो व्यतीतः पठामि किं पाठयताच्च को माम्
व्यायामसौख्येन समं न सौख्यं हेयो न सद्यश्च मनोऽनुषङ्गः ॥२४॥

एतावदुक्त्वा प्रणमन् ततोऽसौ तस्मात् प्रदेशात् त्वरितम्प्रतस्थे
वृद्धोऽपि मौनं निजगाद खिन्नो बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥२५॥

अलक्षितोऽटन् यमुनातटेन प्रस्थम्प्रयेदे तत ऐन्द्रमिद्धम्
नानास्मिपुस्तस्य गतिं न केचिद् गवेषयन्तोऽपि गुरुप्रयत्नैः ॥२६॥

तत्रापि मल्लै र्यमुनाप्रदेशे कृतादरः कीर्तिमवाप्य दक्षः
निनाय पौरैरभिनन्द्यमानः सुखं स्वकालं स्वकलानुकूलम् ॥२७॥

घटेत तत् किन्तु चिरं न लोके प्रियं न यत् स्यात् प्रकृतिप्रवृत्त्यै
अतर्कितं सा बहुधा विवर्त्ते तस्माज्जगत्यां बत किं न तत्तत् ॥२८॥

अस्मिन् क्षणे तद् घटितं च सद्यो नतं शिरो येन सदोन्नतं तत्
कीर्तिः क्वचिद् यातुमहो प्रवृत्ता क्षणेन सर्वं परिवर्तितं च ॥२९॥

स्थिरं सदा किंचन नैव लोके कश्चिज्जयी वा न चिरं तथास्मिन्
बलाश्रिताविव जयाजयौ न प्राप्तौ तयो र्दैवमपीह मुख्यम् ॥३०॥

समुन्नते मूर्ध्नि नतेऽद्य जाते व्याप्ते प्रमोदे च विपक्षपक्षे
विडम्बितं ह्यस्य मनस्तदित्थं चिन्ताभिभूतं भृशमुच्चचार ॥३१॥

यशोविहीनं नरजीवनं किम् यज्जीवनं तद्यश एव लोके
यत्र स्थितं मानवतैव नित्यं तत्रैव हीनोऽपि कथं वसेयम् ॥३२॥

गृहोत्सवानां सुखदे क्षणेऽपि स्थितः कदाचिन्न पुरा गृहे चेत्
बलेन बोधेन च वंचितोऽहं तत्रैव किं याम्यथवाऽद्य खिन्नः ॥३३॥

किं वा वदेयं बत तत्र पित्रे नाकर्णितं यस्य वचः कदाचित्
किमालपेयं ह्यथवा गृहिण्या क्षणाय नालापि पुरा तया चेत् ॥३४॥

तस्माद् वरं मे परदेशवासः तथाभिवृद्धिश्च शरीर शक्तेः
दृढेन विश्वासबलेन कीर्ति लुप्तां यथाहम्पुनरुद्धरेयम् ॥३५॥

व्यग्रं निशम्यास्य समीहितं तत् हितैषिणा तेन महाशयेन
प्राबोधि कर्तुं सहसा न किञ्चिन् समीक्ष्य निर्धारयितुं चलक्ष्यम् ॥३६॥

हिताय नित्यं यतते परेषां स्वभावतः सज्जन-चित्तवृत्तिः
वचांसि तेषां न मनश्च केषाम् प्रभावयन्त्यप्रतिमैः प्रभावैः ॥३७॥

मन्ये कुलीना न भवन्ति दीना न मानहीनाश्च वसन्ति मान्याः
त्वमात्मशक्त्या नहि किंतु हीनो धत्से मृषा ग्लानिमिमां कुत स्त्वम् ॥३८॥

पराजितस्त्वं सहसा क्वचिच्चेत् शक्तोपि किं किं न परत्र जेतुम्
पराजयस्तत् यदि तेऽत्र जातः सद्यो यशस्वी भव चापरस्मिन् ॥३९॥

तस्मात्त्वयाद्यात्मनि पोषणीया शक्तिर्नवा कापि विलक्षणा सा
यया भवेन्मानव-जन्मसिद्धि र्भवे प्रसिद्धिश्च मनोऽनुकूला ॥४०॥

क्रियासु सर्वासु नवा स्वशक्तिः शरीरमात्रे नहि सा निबद्धा
विवेक शक्ते र्नहि कापि सीमा ह्रासेन युक्ता च शरीर शक्तिः ॥४१॥
न केवलं दैहिकशक्तिभाक् त्वं बुद्धेर्विकासोऽपि न ते विहीनः
जानासि यत्त्वं क्षणमीक्षणेन प्राप्नोपि पूर्णं हि रहस्य-बोधम् ॥४२॥
अत्रैव शास्त्राध्ययनं विधेयं वाराणसीं तद् व्रज वा तदर्थम्
यत्रोभयी साधु विवर्धते ते शरीरशक्तिश्च विवेकशक्तिः ॥४३॥
नाम्नैव काश्या हृतचित्तवृत्तिः श्रीविश्वनाथस्य च दर्शनाय
वाराणसीं पण्डितरङ्गभूमीं गन्तुं सयत्नः स बभूव सद्यः ॥४४॥
आदौ स्वयं यन् कुरुते न मर्त्य स्तत् कार्यते तेन बलाद् विधात्रा
व्रजेत् कदा कोनु पथे हि कस्मिन् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥४५॥
तस्मात् प्रतस्थे कृतनिश्चयोऽसौ विद्यावतामक्षयकोषभूमीम्
श्रीविश्वनाथस्य पुरीं पवित्रां पुनः पदातिः स्वमनः सहायः ॥४६॥
वीरस्वभावः पृथगेव कश्चित् श्रयेत मान्द्यं न पराजितो यः
भवन्ति केचिद् विरता विघातात् केचिच्च तस्माद् द्विगुणं वहन्ति ॥४७॥
नैकेन केनापि विशृङ्खलास्ते समुद्धता वा स्वसमुच्छ्रयेण
नचापकर्षेण भवन्ति दीनाः स्वसाध्यसिद्धयै दृढनिश्चया ये ॥४८॥
प्रचण्डतापा शिशिरा सकम्पा रजोऽभिभूता तमसावृता च
पुरातनी सा च पदातियात्रा पदेपदे श्रान्तिमयी सुदीर्घा ॥४९॥
विद्यार्थिनः किन्तु कदा स्वकष्टं विद्याविगर्त्यां गणयन्ति किञ्चित्
लक्ष्यैकदृष्टि र्मनुजो न विघ्नान् समीक्षते नापि बिभेति तेभ्यः ॥५०॥
कालोह्ययं ते सुतशिक्षणाय कन्याविवाहाय धनार्जनाय
तद् गच्छ गेहं त्यज बालबुद्धिम् मुक्त्वा च भोगान् भज रामनाम ॥५१॥
काश्यां गतिस्ते ननु भाविनी का यस्यां गुरूणां गुरवः पठन्ति
नो वेत्सि सूत्राणि चतुर्दशापि ज्ञातुञ्च सर्वं यतसे क्षणेन ॥५२॥
कुर्वंस्तु सर्वं श्रुतमश्रुतं तत् पथ्यंश्च मार्गे प्रकृतिस्थलानि
देवाधिदेवं मनसा स्मरन् सन् वाराणसीं प्राप स मल्लधुर्यः ॥५३॥
विधाय गंगास्नवनं नमीश्यिनम् पुराग्निदर्शलिलुप्तमानसः
प्रणम्य दुर्गां नगरीं विलोकयन् समागतः संकटमोचके स्थले ॥५४॥

इति हरनामामृते चतुर्थः सर्गः

हरनामामृते पंचमः सर्गः

(काशी हि सा पण्डित राजधानी, संस्कृत शिक्षालयानाम्प्राक्तनी दिनचर्या, गृहस्थ जीवन-वैचित्र्यम्, तपस्विनी भारतीया नारी)

विद्यालयानां विबुधालयानां कलालयानां च कुलैकभूमिः
अलौकिकी कापि पुरी त्रिलोक्यां वाराणसी विश्वपते र्विभूतिः ॥१॥
युगे युगे नव्यविमर्शशीलैः पुराण रक्षा-प्रार्थत प्रतिज्ञैः
विद्वद् वरेण्यैः परि सेव्यमाना नित्यं नवा याऽथ सदा पुराणी ॥२॥
यत्पण्डिताः पण्डितराजवर्या श्रुतिस्मृतीनाम्प्रथिता विधिज्ञाः
विभान्ति संसत्सु विराजमानाः काशी हि सा पण्डित राजधानी ॥३॥
अस्या व्यवस्थामधिगन्तुमार्या भ्रान्ते निरासाय च नित्यमेव
तत्तत्प्रदेशात् खलु भारतस्य प्रायो न के तत्र सदा समेताः ॥४॥
अस्यां हि पुर्या वसतां बुधानामुदेति नित्यं स्वयमात्मबोधः
सहैव चास्यां वहतः प्रसन्ने सरित् सुराणां सुरभारती च ॥५॥
का नाम लोके नगरी पुरी वा तया कदाचित् समतां करोतु
कणं कणं यत्र कणादवृत्तिः सर्वान् विशिष्टान् भुवने विधत्ते ॥६॥
या तीर्थराजे सरति प्रसुप्ता सरस्वती कापि दृशो रहस्या
वीथीसु सर्वास्वपि सैव तस्या जागर्त्यलं स्व.सरिता सरन्ती ॥७॥
यस्यां च नित्यं विजया-तरंगा गंगा तरंगस्पृहया ह्यपूर्वम्
नित्यं स्वलोकं रचयन्ति नव्यं दिव्यं विमुक्तं निखिलै रघोऽवैः ॥८॥
सद्यो जनायत्प्रभयोपगूढाः सम्प्राप्य विज्ञान दृशं मुनीनाम्
ब्रह्माण्डपारात् परतोऽपि किञ्चित् क्षणेन पश्यन्ति विभासमानम् ॥९॥
मृत्युं जयस्य स्मरणेनकश्चिद् बिभेति मृत्यो र्नहि यत्र मर्त्यः
शिवं विधत्ते सततं जनेभ्यः कालश्च यस्यामतिभैरवोऽपि ॥१०॥
संघृष्य संघृष्य युगान्तरेभ्यो यस्याश्च विद्वन्निकषोपलेषु
स्वरूपमूल्यं नियतं लभन्ते विद्याविचाराः सुपरीक्ष्यमाणा ॥११॥
तस्यां स काश्याम् पठनाभिलाषी महोदयः स्वात्मगतम् निवेद्य
लेभे प्रतिष्ठाम् हृदये गुरूणाम् विद्यानुरागाय विलक्षणाय ॥१२॥

मल्लेऽपि तस्मिन् युवके विशालाम् ताम्प्रेक्ष्य शास्त्राध्ययनप्रवृत्तिम्
प्रीता बुधास्तस्य मनोरथम् तम् स्वयम् सनाथम् विदधुः कृपार्द्राः ॥१३॥
स चापि सर्वाः पठनैकवृत्तौ प्रसज्य वृत्तीः समयञ्च सवम्
स्वसाध्यसिद्धयै दृढनिश्चयात्मा सिद्धिं प्रसिद्धिञ्च सहैव लेभे ॥१४॥
विद्याधिगत्यै सततं सुयोगो वोद्धं यदात्मा प्रयतो हि नित्यम्
तस्याम्प्रवाना प्रवलाभिलापा स्थिरास्थितिश्चित्तगतेश्च धीरा ॥१५॥
योगेन सर्वं सुलभञ्च लोके न योगिनः क्वापि गते निरोधः
ध्येये निजे यः स्थिरचित्तवृत्ति र्नूनं स योगस्य फलान्युपैति ॥१६॥
स्वयञ्च विश्वप्रकृतिं विशाला विलोक्य हृद्विह्वलतां जनस्य
मातेव सर्वस्य सदा दयार्द्रा कृतार्थयत्येव तपांसि नूनम् ॥१७॥
न पुस्तकान्येव न सुप्रकाशो नच प्रवन्धोऽपि सुखासनानाम्
रम्याणि विद्यार्थिगृहाणि नासन् प्रासादतुल्यान्यधुनातनानि ॥१८॥
दिवेव रात्रावपि ते तथापि प्रज्वाल्य पर्णानि विलोक्य पाठम्
निद्राप्रवृत्तेः परिहृत्य वार्ताम् विद्यार्थिलक्ष्यं व्यदधुः कृतार्थम् ॥१९॥
शक्तिम् पदार्थग्रहणे विचित्रां निरीक्ष्य हृष्टा गुरवश्च तेषु
स्वतो ववर्षुःस्वगतं हि सर्वं पात्रं न लोके सुलभं सदा यत् ॥२०॥
लभेत शिष्यः प्रतिभानिधिश्चेत् स एव लाभः परमो गुरूणाम्
न यत्र शोच्यं भवतीह दत्तं कृतार्थतामेति च यत्र यत्नः ॥२१॥
लब्धाश्च ते तेन महानुभावा भाग्येन योग्याः सहपाठिनोऽपि
परस्परं येषु विमर्शभासा स्वतो रहस्यं विशदीवभूव ॥२२॥
मन्ये कदाचित् स्वविकासहेतून् विद्यैव तान् शिष्यवरान् वृणोति
येभ्यः प्रभूता वलवद् विचारा लोकानसंख्यान् जनयन्ति नव्यान् ॥२३॥
शिवस्वरूपाः शिवसत्कुमारा दामोदराः शास्त्रिवराः प्रसिद्धाः
ख्याताश्च तांत्येति विदाम्वरिष्ठा गंगाधराः काव्य-रसावताराः ॥२४॥
न्यायाब्धिपोतो मरुमण्डलश्रीः श्रीस्नेहिरामो बुधवर्यधुर्यः
श्रीनानुरामो द्विजराजचूडः परे प्रसिद्धा वहवश्च विज्ञाः ॥२५॥
एभिर्वयस्यैः प्रतिभासदस्यैः सदा सदाचारपरैः समृद्धः
स ब्रह्मचर्येण विभासमानः सिद्धः स्वयोगे स्थिरसम्प्रयोगः ॥२६॥

काव्यां श्रुतात् पण्डितराज-राजा-रामा त्तथा शिष्यवराच्च तस्य
श्री वालसूरे रभिलब्धभाना भाष्याब्धिनेतृत्वमकारि तेन ॥२७॥

विशुद्धबुद्धिः प्रकृतिप्रबुद्धः परं स यावद् गतगेहमोहः
तत्त्वं जगाहेऽखिलवाङ्मयस्य स्थितिर्दयार्हैव पितुस्तदासीत् ॥२८॥

नावाप्य वृत्तं पितरौ सुतस्य व्यग्रां गतिं यां हृदये लभेते
पितैव तस्यानुभवी जगत्यां पुत्रैकजीवा जननी तथा वा ॥२९॥

श्रुत्वा यथा यद् घटितं तदातद्-गवेषणे बन्धुगणे प्रवृत्ते
व्यर्थे प्रयत्ने व्यथितान्तरात्मा क्षणाय शान्तिं जनको न लेभे ॥३०॥

भूरिव्ययेनापि दिनैरनल्पै दूरंगतानां सुलभं न वृत्तम्
जनस्तु योऽलक्षितवासभूमिः किं साधनं तत्कुशलाधिमत्यै ॥३१॥

न वाष्पगन्त्री नच मृत्तरीवा न साधनान्याशु गमागमानाम्
मृग्यश्च मार्गो भुवि नाल्पमात्रो येन व्रजेद् बांधवमार्गणाय ॥३२॥

निद्रावियुक्तः क्षुधया विमुक्तः किं कृत्यमूढः सुतमोहमग्नः
निनिन्द नित्यं विफलं स्वदैवम् भृशं जगर्हे च गृहस्थधर्मम् ॥३३॥

अहो गृहस्थस्य गतिर्विचित्रा क्षणेन दीना मुदिता क्षणेन
पेया सदा यत्र सुधाऽद्वितीया वज्रस्य पाता अपि तत्र सह्याः ॥३४॥

सहैव दुःखञ्च सुखञ्च भोक्तुं गृहस्थवृत्तिर्विहिता विधात्रा
आशापगायामवगाहतोऽपि नैराश्यनक्रात् नहि यस्य मुक्तिः ॥३५॥

दीनां परित्यज्य वधूं वराकीमहो खलोऽसौ गतवान् क्व मूर्खः
किंनाम भाग्ये लिखितं मदीये कुलस्य का वा भविता दशेयम् ॥३६॥

यथा तथा तेन परं स नीतः भक्तेन तद्दुःखयुतोऽपिः कालः
अहर्निशं चिन्तयतोऽपि वृत्तिं नैपञ्चलाऽभूद् भवभक्तिभावे ॥३७॥

भक्तं जनं नैजयते हि चिन्ता स्वभावतश्चापि नराः सुधीराः
निराश्रयायाः पति जीवनायाः कालो गृहिण्याः कथमेतु किन्तु ॥३८॥

तया परं शान्तिधियैव सर्व-व्रतादिकं सद्मनि संचरन्त्या
"स्वयं कृपालुः स भवेत्कदाचित्" इत्याशया प्राणगनि धृतासीत् ॥३९॥

अहो विचित्रं कुलपालिकानां पतिव्रतानां कठिनं तपस्तत्
यस्मिन्नहो सह्यमतीव सर्वम् वाच्यं स्ववाचा च वचो न किञ्चित् ॥४०॥

स्वप्नायितं हा खलु सर्वमेतत् नारीसमाजेऽद्यतने तु किन्तु
लक्ष्यं किमासां नहि वेद्यमेतत् नचापि वेद्या च गतिर्हि तासाम् ।।४१।।

दास्यं हि यासां स्वजनोपसेवा कारा कठोरा स्वगृहस्थितिश्च
मनोऽनुकूलो न पतिः क्षणश्चेत् विवाहविच्छेदविधिः सुसज्जः ।।४२।।

स द्वैतहीनं परिपक्वभावे सर्वास्ववस्थास्वपि निर्विकारम्
दाम्पत्ययोगं कलयन् मृषावाक् विश्रान्तिभूमीं भवभूतिरद्य ।।४३।।

लब्धस्य नानाव्रतदानपुण्यैरवाप्य वृत्तं न चिराय तस्य
निसर्गवीरोऽपि पिता वियोगं शशाक सोढुं न सुतस्य भूयः ।।४४।।

यः कोऽपि यात्री पथि जातुदृष्टः स एव पृष्टो विकलेन तेन
दृष्टः क्वचित् किं हरनामदत्तः किंचित् श्रुतं वाऽस्य कृते कुतश्चित् ।।४५।।

इत्थम्विधैः संशयितैः हि भावैः दोलाधिरूढं बत तस्य चित्तम्
"एयात् पुनः किं न गृहं कदाचित् नयेत तं वा प्रकृतिः स्वतस्तम् ।।४६।।

कष्टाकराण्येव भवन्ति नूनं दुःखानि सर्वाण्यपि जीवनेऽस्मिन्
मनः परं संशयशूलविद्धं भवत्यसह्यं बत मर्मवेधि ।।४७।।

समानि नित्यं न परं दिनानि क्लेशोऽपि नित्यो न तथेह कश्चित्
विलोकित स्तज्जनकेन तस्माद् घनेऽपि तस्मिन् तमसि प्रकाशः ।।४८।।

काश्या हि कस्माच्चन यात्रिवर्यात् श्रुत्वा स्वसूनोःप्रगतिम्प्रशस्ताम्
ततः प्रतस्थे सह पुत्रवध्वा स्वबन्धुवर्गै रितरैश्च कैश्चित् ।।४९।।

अहो सा कीदृशी रम्या सद्यात्रा काऽप्यलौकिकी
आशापुष्पाणि यात्रासन् प्रफुल्लानि पदे पदे ।।५०।।

मार्गे सर्वेषु तीर्थेषु स्नानं कुर्वन् यथाविधि
विश्वनाथं स्मरन्नीशम् प्राप्तोऽसौ पावनींपुरीम् ।।५१।।

नाम्नो निर्देशमात्रेण प्रापितः पुत्र सन्निधौ
धन्यं मेने स आत्मानं दृष्ट्वा तं शिष्यसंवृतम् ।।५२।।

अकस्माज्जनकं दृष्ट्वा सम्मुखे समुपस्थितम्
सम्भ्रान्तः स समुत्तिष्ठन् चक्रे ह्यस्य समर्हणाम् ।।५३।।

साष्टांगपातमुत्थाय स्वासने तं निवेशयन्
आज्ञामन्यो हि सुश्रोतुं स्थितो मौनं कृताञ्जलिः ।।५४।।

जनकोऽप्यात्मजं पश्यन् निर्निमेषं क्षणं ततः
आदिदेश तमानेतुं वहि द्वारिस्थितां वधूम् ॥५५॥
शिष्यै शावश्यके सद्यः कृते गृह्योऽर्थ संग्रहे
ततस्ते न्यवसन् प्रीता वर्णयन्तः कथा मिथः ॥५६॥
अहो धन्यो गृहस्थानां कालः सोऽपि सुखाकरः
यत्र श्रद्धा - प्रसूनानि स्वतो वर्षन्ति सर्वतः ॥५७॥
स्मारं स्मारं पशुपतिकृपां तातवर्यः कृतार्थः
नीत्वा कांश्चित् सुखददिवसान् विश्वनाथस्य पुर्याम्
स्नायं स्नायं सुरसरिति स प्राप्तपुण्यप्रकर्षः
दृष्ट्वा पुत्रं गृहगतिरतं निर्वृतः सन् निवृत्तः ॥५८॥

इति विद्याधर शास्त्रि विरचिते हरनामामृते गृहस्थ-
सौख्यजनकः पंचमः सर्गः



अथ हरनामामृते षष्ठः सर्गः

(बलीयसी लोकगतिः, शोक वैकल्यम्, वृद्धजनोपदेशः, अभिनवानुभूतिः, ब्रह्मराक्षसेन संलापः, तद् विमुक्तिश्च)

तातेनिवृत्ते स्वपुरीं ततोऽसौ गृहस्थधर्मे निरतः सुखेन
सुतस्य पश्यन् विविधा हि लीला बलीयसीं लोकगतिम्प्रपेदे ॥१॥
दृष्ट्वा गतिं यस्य मतिं च हृद्यां नित्यम्प्रसन्नौ पितरावभूताम्
क्षणेन हा हन्त स एव बालो हतेन दैवेन हृतोऽद्य सद्यः ॥२॥
ज्ञानं विलीनं जगती विलीना लीनं च सर्वं सुखशान्ति-बीजम्
विडम्बनामात्रमिदं च सर्वं तस्मै प्रतीतं क्षणिकं क्षणेऽस्मिन् ॥३॥
शोकाग्निदग्धोऽपि भृशं स्व चित्ते हठेन नौर्ल्यं स जहास नृणाम्
स्थिरं कथंकारमहोऽस्थिरेऽस्मिन् पश्यन्ति ते हन्त गतिं हि कांचित् ॥४॥
खेलन् स बालो लुलुपे क्व सद्यः स्मितिश्च तातस्य कपलेन लीना
भ्रान्तः स्मृतेरुत्कट-घूर्णनेन प्रत्यक्षमैक्षिष्ट परोक्ष मेष ॥५॥
शोकेन सर्वप्रथमेन शीर्णः सन्त्यज्य सर्वं नियतं स्वकर्म
एवम् यदा मौनपरः सदासौ सर्वत्र भेजे परनामुपेक्षाम् ॥६॥
वृद्धाः समागत्य बुवास्तदैनम् हठेन सर्वैरनुभूयमानैः
प्रबोधयामासुरनेकभावै र्गीतोपदेशै र्जगतीक्रमैश्च ॥७॥
को वेत्ति कस्ते सुत एष आसीत् कुतः समायात् क्व गतः पुनर्वा
को वा समेता सदनं परस्मो नेदं रहस्यं मनुजेन वेद्यम् ॥८॥
यज्जीवनं तद्रचितं विधात्रा सुखस्य दुःखस्य च वेदनाय
यदेव यस्मिन् दिन एति किञ्चित् जनेन मौनेन तदेव सेव्यम् ॥९॥
भोग्यं हि यत् तत् खलु भोग्यमास्ते हातुं न तज्जातु जनेन शक्यम्
नचापि नित्यं जन एष दुःखी जीवन् हि यः सौख्यगतानि भुंक्ते ॥१०॥
स्मृत्यापि शोकस्य विकम्पमानो नूनं जनो विह्वलचित्तवृत्तिः
सञ्जायतेऽयं प्रकृतिस्वभावो वीरेण धैर्यं नहि किन्तु हेयम् ॥११॥
न जीवनं द्वन्द्वविहीनमेतत् कदापि भूतं न पुनश्च भावि
नचापि सृष्टेर्गतिरेकरूपा सनातनेऽस्मिन् हि भवप्रवाहे ॥१२॥

दुःखेऽपि वज्रोपमचेतसा तत् सह्यं हि यत्तद् भुवि सह्यमेव
वज्रं पतन्तं प्रसमीक्ष्य मूर्ध्नि न पर्वतालिः प्लवते कदाचित् ॥१३॥❀
सुखेऽपि दुःखेऽपि च सान्त्वनायै विवेकशक्तिः प्रभुणा प्रदत्ता
स्थितिं समालोच्य यया जगत्या विवेकिनो दुःखनदीं तरन्ति ॥१४॥
स्वयं स्वदुःखाभिभवो विधेयो विज्ञेन भाव्यं च न मोहितेन
स एव विद्वानिति माननीयो वद्धो न मायाकृतवन्धनैर्यः ॥१५॥
छित्वा स्वपाशांश्च परस्य पाशान् सर्वान् स्वतन्त्रान् विवुधो विदध्यात्
तस्यावतारो भवतीह लोके, भियां निवृत्यै भवजन्मभाजाम् ॥१६॥
गतागतिर्येन्नियता जगत्यां गतोऽपि वन्धुर्न पुनः किमेतु
शीघ्रं भवान्याः कृपया लभेथा विचक्षणान् पुत्रवराननेकान् ॥१७॥
तस्मात्प्रशान्तश्चर कर्म नित्यम् पुनश्च शास्त्रेषु मतिं निधेहि
सर्वात्मना कर्मरतस्य लोके चित्तं न शोकादभिभूतिमेति ॥१८॥
एवम्बुधैः सम्परिवोधितात्मा कालेन पूर्वाञ्च गतिं गतोऽसौ
पुनर्यथापूर्वमभिप्रवृत्तोऽप्यध्यात्मविचाररसिको वभूव ॥१९॥
गुणेषु दृष्ट्वा परिवर्तमानाम् गतिं गुणानां विषमां समाञ्च
नित्यंस्थिरं शान्त मथाववोद्धुं शास्त्राणि सर्वाणि पुनर्ममन्थ ॥२०॥
नवानुभूत्या नव एव जातो नवेन वोधेन विभासमानः
विद्यालये व्यैत् समयं समस्तम् दिनस्यचर्यां नियतां विधाय ॥२१॥
ब्राह्मे मुहूर्ते प्रकृतिप्रशान्ते विधाय गंगासवनं प्रशान्तः
दुर्गालये वा शिवमन्दिरे वा तस्थौ स्थिरौ ध्यानसमाधिलीनः ॥२२॥
अथैकदोन्निद्रितवृत्तिमेनं रात्र्यास्तृतीयेप्रहरे प्रवुद्धम्
कालभ्रमात् स्नातुमिमं व्रजन्तं सोपानमार्गं निरुरोध कश्चित् ॥२३॥
पुरःस्थितं वीक्ष्य विलक्षमेकं निरुद्धमार्गः सहसा कुतोऽपि
पप्रच्छ कस्त्वं कुत एषि किम्वा चिकीर्षितं ते त्वरितं वदैतत् ॥२४॥
स्थित्वा क्षणं मौनरतस्ततोऽसौ गीर्वाणवाचा विशदस्वरेण
उवाच सर्वं निजवृत्तमेवं - तदात्मवृत्तश्रवणोत्सुकाय ॥२५॥
शृणोमि नित्यं प्रयतो महात्मन् पातञ्जलं यद् विवृणोषि सारम्
दयार्द्रचेता असि सज्जनोऽसि शुद्धोऽसि नित्यं भजने रतोऽसि ॥२६॥

❀ भयभीता स्वस्थानम्परित्यज्य अन्यत्र न पलायते इति भावः ।

संलापकामोऽवसरं प्रतीक्षे तुभ्यं सदा श्रावयितुं स्ववृत्तम्
ग्राह्यात्परं किन्तु गतिर्मदीया नास्ते विधाने कठिने विधातुः ॥२७॥

लब्धोऽद्य कश्चित् प्रकृतिप्रदत्तः सौभाग्यपूर्णोऽवसरो मयायम्
मत्तो न भीति र्भवता विधेया स्वयं विनम्रः शरणागतोऽस्मि ॥२८॥

श्रुत्वा तदीयं वचनं विचित्रं विचिन्त्य चित्राञ्च गतिं जनानाम्
औत्सुक्यपूर्णो गतभीतिरेनं पप्रच्छ नम्रः पुनरेवमेष ॥२९॥

बुधोऽपि किं भो कुगतिं गतस्त्वम् पापीयसीं हन्त खलै रवाप्याम्
महात्मनस्ते यदि दुर्दशेयम् गतिं लभेरन् बत कां न मूढाः ॥३०॥

नम्रेण तेनेदमभाणि विद्वन् ! सत्यं त्वदीयं वचनं किलेदम्
भोग्यं परं कर्म - फलं हि लोके मूढैरमूढैश्च सदैव सर्वैः ॥३१॥

विधेयमार्गात् च्यवते पदं न विधे विधानं स्वविधौ कठोरम्
सूचीमुखो वेद्मि न नाम तृप्ते र्भोक्तुं न शक्नोमि बुभुक्षितोऽपि ॥३२॥

विश्वासघात - प्रतिशोधबुद्धि - प्रवृद्धवैर - प्रति यातनाग्निः
शान्तोऽपि शत्रो रपकृत्य शान्तो नाद्यापि मेऽन्तः करणे दुधुक्षन् ॥३३॥

मत्तो न मूढोऽप्यधिकश्च कश्चित् पंकेन यः क्षालितवान् स्वपंकम्
वैरेण वैरं तमसा तमो वा पापेन पापं च न शुद्धिमेति ॥३४॥

शरीरपातेऽपि मनः शरीरी दुःखानि जीवो विकटानि भुंक्ते
भावप्रधानस्य न भावनायाः तृप्तिः कदाचिद् भवतीह यस्य ॥३५॥

मयाप्यधीतं सुकृतं कृतञ्च स्वभावतो नास्मि खलश्च कश्चित्
तथापि यद्राक्षसयोनिमाप्तो बलीयसी कर्मगति हि लोके ॥३६॥

निशम्य तद् वृत्तमिदं मदीयं परोपकाराय धृतप्रयत्ने
उदेतु चित्ते करुणामये ते मदुद्दिधीर्षामतिरद्य सद्यः ॥३७॥

विलोक्य तं दुर्गतिकं हताशं श्वेताम्बरं चेतसि विस्मितोऽसौ
संभाषमाणं विकलस्वरेण द्रुतं हि पप्रच्छ विधेयमर्थम् ॥३८॥

कृपालुनैवं विहितानुकम्पः पश्यन्निवान्तं निजपापराशेः
स प्रोक्तवान् गद्गदता स्वरेण स्नातो नवाशामृतनिर्झरेण ॥३९॥

भूजन्मने मुक्तिपथाधिरोही व्यधायि मार्गो विधिना य एकः
तस्यां गयायां न गति हि यावत् सह्यं मया तावदिहैव कष्टम् ॥४०॥

विज्ञाय हेतुं तमहेतुबन्धु स्तद्योनि-मुक्तयै परिसान्त्वयंस्तम्
अत्रैव गंगाजलमार्जनेन त्वां मोचयामीति ददौ वचोऽस्मै ॥४१॥
सद्यो गयायां पितृभिः स्वकीयैः सपण्डिभावं हि भवान् प्रयातु
पिशाचयोने र्भवतो विमुक्तयै दूरे न कालः खलु रक्ष धैर्यम् ॥४२॥
प्रणम्य चैनम्प्रणतम्प्रयातः स्नानाय शोचन् हृदि तद् गतिं ताम्
ततो निवृत्तश्च विचार्य शिष्यै र्गया प्रबन्धं विधिना व्यधत्त ॥४३॥

इह शुभाशुभकर्म - समुद्भवां
मनुजयोनिगतिं च विचिन्त्य ताम् ।
प्रववृधेऽस्य रुचि निगमेऽधिकं
भवविमुक्ति-पथैक-निदेशके ॥४४॥

श्री विद्याधर शास्त्रि-रचिते हरनामामृते षष्ठः सर्गः



अथ हरनामामृते सप्तमः सर्गः

(मरुदेशाभियानम्, काशीपरित्यागानुतापः, मरुसौन्दर्यम्, न नीरसं चेतसरसं विवत्ते, नियतिप्रभावः)

शास्त्राब्धि-सन्मंथनमत्तमूर्ते रार्यत्वरक्षा-नियत-प्रवृत्तेः
शनैः शनैस्तस्य सरित् सुकीर्ते स्ततो मरौ चापि ससार सौम्या ॥१॥
पातुं ततः शास्त्रसुधां प्रकामम् तरंगिणी या तरलीचकार
चेतांसि सद्ज्ञानपिपासितानां विद्यार्थिनां सद्विदुषां च सद्यः ॥२॥
धन्वेऽपि विद्यामृत-वर्षणार्थं सम्प्रार्थितः शिष्यवरैश्च कैश्चित्
काशी-परित्यागविचारमेनं पापस्य कस्याप्युदयं स मेने ॥३॥
तदैव दैवप्रहितो मनस्वी सत्श्रेष्ठिवर्यो भगवानदासः
विद्यानुरागी धृतवर्मबुद्धिः प्रणम्य विज्ञं विनतो बभाषे ॥४॥
विद्वन् धरित्र्यां बहवः प्रदेशाः सर्वेऽपि काश्यां कथमावसन्तु
यत्रापि विद्वान् कुरुते निवासम् तत्रैव नव्योद्भवतीह काशी ॥५॥
इयं विशाला च शिवस्य काशी विभासते नैव सदेह तावत्
यावत्तु तां ज्ञानमयैः प्रकाशै र्मनीषिणो नैव विभावयन्ति ॥६॥
श्रुत्वा वचस्तस्य सुयुक्तियुक्तं विहस्य तं शान्तमति र्जगाद
श्रेष्ठिन् क नेतुं यतसे वृथा माम् देशं प्रसिद्धं मतिविभ्रमाय ॥७॥
गंगातरङ्गालिकृताभिषेकः नित्यञ्च विश्वेश्वरदर्शनार्थी
काशीं परित्यज्य कथं हि कश्चित् प्रयातु तां वारिविहीनभूमिम् ॥८॥
शास्त्रैकचर्चामृतपानतृप्तः सरस्वती-निर्झरिणीप्रसिक्तः
प्रचण्डमार्तण्डकराभितप्तै देशे प्रयातै ज्वलितुं प्रजेत्कः ॥९॥
जाने मरुस्था विनता विबुद्धा विद्यार्थिनः सन्ति विचक्षणाश्च
वाराणसी तैरपि किन्तु सेव्या स्थेयञ्च विश्वेश्वर-पादमूले ॥१०॥
तिरस्कृतं वीक्ष्य निजार्थमित्थं विद्वद्वरेण्येन विलक्षितोऽयम्
गतोऽपि नैराश्यमिवेष्टसिद्धौ निनीषयैवम् पुनराबबन्ध ॥११॥
अहो महात्मन् मनुजस्य लोके भीमा हि भीति र्वत कल्पनायाः
स्वप्नेऽपि यन्नैति दृशं कदाचित् तत्रैव यादृग्म्प्रतनोति भीमम् ॥१२॥

शरीरविज्ञानविचक्षणेन प्रशंसितोऽयं चरकेश्वरेण
स्नेहार्द्रभावैकरसैः विशिष्टः शुष्कोऽपि नित्यं सरसः स देशः ॥१३॥

न निन्दनीयो नच शंकनीयो मरुप्रदेशोऽमर भूमिरद्य
यः पांसुलोऽपि स्वशुभैश्चरित्रै रपांसुलानां धुरि कीर्तनीयः ॥१४॥

काश्यामभावो विदुषां न कश्चित् मरुप्रदेशः सुधियामपेक्षी
तृप्ति विधेया क्षुधितस्य पूर्वं किं तर्पणं तृप्ततमस्य लोके ॥१५॥

का नाम विद्या द्रविणञ्च किं तत् प्रयुज्यतां यन्न हिते परेषाम्
तनुष्व कीर्तिं मरुमण्डले तत् प्रवाहयन् धर्मविचारधाराः ॥१६॥

ज्ञानप्रकाशस्तमसि प्रकाश्यः स्वयं प्रकाशैव सदैव काशी
मरुस्थले यत्पृषदोऽपि मूल्यं धाराधरस्यापि न तत्समुद्रे ॥१७॥

निवारिते चापि बुधैश्च तत्र क्वचित् क्वचिद् बाह्यतमः प्रसारे
आभ्यन्तरं येन तमो विनश्येत् नाद्यापि तत्रोदयते स भास्वान् ॥१८॥

अर्थैः कृतार्थोऽपि मरुप्रदेशो ज्ञानाक्षिपूर्णो नहि यावदास्ते
लक्ष्याधिगत्यै क्षमतां न तावत् न वीक्षते कोऽपि निमीलिताक्षः ॥१९॥

धर्मार्थयोः संगम एव सौख्यं धर्मं विनार्थो न धनं विषं तत्
दाहैककर्मानल एष लोके ऋते हि यज्ञं क्षमते न वृष्ट्यै ॥२०॥

विभासते दिक्षु सरन् विवस्वान् पातीह लोकांश्च चरन् नभस्वान्
देशाटनं तद् विबुधैर्विधेयम् लोकस्य कल्याणधियापि नित्यम् ॥२१॥

यस्याप्यहंभावविवृद्धिजन्यं जाड्यं जड्यां नैवमतिम्प्रकुर्यात्
सर्वेऽपिदेशाः सुखशान्तिपूर्णाः स्वयं स्वदेशाः प्रभवन्ति तस्मै ॥२२॥

न नीरसं चेत् सरसं विवत्ते कथं विशिष्येत बुधस्य बुद्धिः
विशेषता सैव सुधाकरस्य ग्रावापि यस्माद् द्रवते द्रवेण ॥२३॥

प्रोत्साहितैस्तद् वचनैः प्रियार्थै मरौ दिदृक्षाजनकानि भूरि
तस्य प्रदेशस्य सुखानि भूयः रम्याणि शिष्यैरपि वर्णितानि ॥२४॥

मरु सौन्दर्यम्

मरुः सुवर्णो नहि येन दृष्टः किं तेन दृष्टं कुहचित् सुदृश्यम्
स्फुटं मरौ भान्ति सुमेरुशृंगाः शिलासु कृष्णासु न ते हि मृग्याः ॥२५॥

रम्ये क्वचित् सैकतवप्रसानां सुकोमले भास्वति हेमवर्णे
प्रातः प्रदोषे च सुखं स्थितानां केषां न चेतांसि विकासवन्ति ॥२६॥

स शीतलो गंधवहः समीरः स तित्तिराणां मधुरो विरावः
तन्नर्तनं वर्हं विभूषणानां समुत्प्लुतिः साच कुरङ्गमाणाम् ॥२७॥
ते तुन्दिलाः स्वादुरसाः कलिङ्गाः सा शारदी चञ्चलचन्द्रिकाच
स्फूर्तिः स्फुरन्ती स्फुरणावलीषु क्रमेलकानां गतयश्च तास्ताः ॥२८॥
आसारगन्धः परितः प्रसारी भूमे विशुद्धिं प्रकटीकरोति
तेजस्विनी गीतिगतिश्च मत्तां सर्वां स्वरोत्थाम् जगतीम् विधत्ते ॥२९॥
गावः प्रसन्ना मनुजाः प्रसन्ना देवाः प्रसन्ना व्रतदानयज्ञैः
किं नाम तद्यन्न मरौ समृद्धम् विद्या समृद्धो भवता विधेयः ॥३०॥
पलाशिनो विप्रवरा न यस्मिन् विजृम्भते यत्र च वीरवृत्तिः
हरेर्जनानां हरिभक्तिभाजां गुञ्जन्ति वाण्यः सुरसाश्च यस्मिन् ॥३१॥
वर्षागमे चारुमरुं विहाय क्वान्यत्र कस्यापि रमेत चित्तम्
सरःसु वर्षासमयेऽपि यस्मिन् शरत् प्रसन्नं सलिलं चकास्ति ॥३२॥
इत्थं मुहुस्तद्गुणवर्णनेन प्रियैः स्वशिष्यैरपि चार्थ्यमानः
सम्प्रेरितोऽन्तर्हितया नियत्या गन्तुं बुधस्तत्र तदानुमेने ॥३३॥
यत्रापि सा वाञ्छति यं नियोक्तुं तत्रैव सा तं प्रहिणोति नूनम्
मूल्यं न किञ्चिज्जनभावनायाः सम्मर्दनायैव समुत्थितायाः ॥३४॥
गुप्तं सुगुप्तं विदधाति यस्मात् निजं विधेयं नियति प्रभावः
जानाति कश्चिन्न कदानु केन स्थेयं क्व वा गम्यमितो हि तेन ॥३५॥
न मानवं पृच्छति सा कदाचित् बुद्धेरजीर्णेन विशीर्णवृत्तिम्
क्रियाहि तस्याः पृथगेव काचित् पृथक् च तस्याः करणप्रकारः ॥३६॥
तस्मादचिन्त्यं बहुधा जगत्यां सदैव तत्तद् घटते विचित्रम्
स्वप्नेऽपि लोकैरवितर्कितैव स्थितिश्च काचित् प्रकृतिप्रियास्ते ॥३७॥
इत्येव विद्वान् स विनम्रमौलि विश्वेश्वरस्यानुमतिं ययाचे
नत्वान्नपूर्णामथ जन्हुकन्यां प्रणम्य काशीं च ततश्चचाल ॥३८॥
अधीतिलुब्धाः सुधियः प्रगल्भाः केचिच्च शिष्या गुरुतीर्थमेनम्
विहाय काशीमनुजग्मु रेनं गुणेषु केषां नहि पक्षपातः ॥३९॥
भाष्याब्धिचन्द्रो हरनामदत्तः काशीं विहायाद्य परत्र गच्छेत्
श्रुत्वेति विज्ञा विकलीभवन्तः सर्वे सखेदं मिथ एवमूचुः ॥४०॥

शुष्कोऽद्य शास्त्रार्थरसो नगर्या मार्गो निरुद्धोऽथ रहस्य भूमेः
प्रत्यक्षरूपेण विभाव्यमानो यदेष जातो हि महानभावः ॥४१॥

बुधैरेवं काश्यां स्मृतगुणगणैः संस्तुतमतिः
महः साक्षात् काश्या दिशिदिशिकिरन्-दिव्यमभितः ।
यशस्वी सम्प्राप्तो विदितमहिमानं शुचिगतिः
शुचि राजस्थानम् पथि जनगतैः पूजित-पदः ॥४२॥

इति विद्याधर शास्त्रि रचिते हरनामामृते सप्तमः सर्गः



हरनामामृते अष्टमः सर्गः

(प्राक्तनी सात्विकी कान्तिः, विद्या विलासः, प्राक्तनी शिक्षण पद्धतिः, विद्यार्थिजीवनम्, संध्यावन्दनादि-सौख्यम्)

निशम्य तस्यागमनं बुधस्य प्रतिक्ष्यमाणं सुचिरेण सर्वैः
चूरू पुरं तद्भृशमापुपूरे तच्छिष्यवर्यै रपरै र्बुधैश्च ॥१॥
कुर्वन्ति मानं सुनृपस्य लोका नेतुश्च राष्ट्रार्पित-जीवनस्य
श्रद्धा जनानां हृदये लसन्ती बुधाय भिन्नैव परं जगत्याम् ॥२॥
तस्यानने सौम्यविभावभव्ये विद्या स्फुरन्तीव विभासते स्म
दिव्याकृतिं यं समवेक्ष्य भक्त्या शिरांसि नृणां स्वयमानतानि ॥३॥
विशालभाले रुचिरे निसर्गात् सद्धर्ममूर्तेः सुसमाहितस्य
काचित् पवित्रा प्रभुभक्तिकान्ति नित्यं विरेजेऽस्य महोदयस्य ॥४॥
शान्ताः कथानां श्रवणे निमग्नास्तत्त्वार्थशङ्का-विनिवारणाय
तांस्तान् गभीरान् विमलान् विचारानाकर्णयन्तोऽनुगता जनास्तम् ॥५॥
प्रतिक्षणं तम्परितः स्थितानां श्रद्धावतां धर्मविवेक-बुद्धिः
कं कं नवीनं न विकासमाप्नोत् सर्व स्वतो हृष्यति सुप्रभाते ॥६॥
संन्यासिभि र्विज्ञवरैरनेकै रन्यैश्च सद्भिः सुविवेकदक्षैः
संलाप-मग्नस्य स तस्य कालो न कस्य चित्तं विमलीचकार ॥७॥
कालस्य तस्य स्मृतिरेव रम्या बोधाय बोधो भवति स्म यस्मिन्
विडम्बनेयं महती बुधानां दास्याय विद्या यदवाप्यतेऽद्य ॥८॥
प्रेक्ष्या हि सा क्वाद्य महामहिम्नां स्थिरामतिः स्वात्मरतिश्च तेषाम्
कणं कणम्प्राप्तुमहो कुतश्चित् भ्रमन्ति दीना अधुना बुधाश्चेन ॥९॥
ययापि रीत्या द्रविणागमः स्यात् सा सैव विद्याऽद्य मता प्रधाना
रहस्यभारं क्षमते न सोढुं क्षुधाकृशो ह्यद्यतनो बुधोऽयम् ॥१०॥
तस्योपदेशः प्रथमः प्रधानो दिव्योभवत् किन्त्वयमेव नित्यम्
निरक्षरे वीक्ष्य महाधनत्वं विद्या न हेया विदुषा कदाचित् ॥११॥
विद्यासमं वित्तमिहास्ति नान्यत् नचापरः कोऽपि सुखस्यहेतुः
सर्वेऽपि तत्राह्निकेऽत्र योग्याः तेन स्वतः तुष्यति चान्तरात्मा ॥१२॥

विद्यामृतं येन जनेन पीतं पेयं किमन्यत् ननु तेन लोके
पदे पदे तस्य कृते विकीर्णः सुधाप्रवाहो भवतीह नित्यः ॥१३॥
गतिः क चानन्तपथेऽनिरुद्धा भवेन्न विद्यारथिनो रथस्य
स्वयञ्च सर्वं किमु नाम गुह्यं स्वतः प्रदीप्तं भवतीह नास्मै ॥१४॥
उन्मील्यते बोधविभाकरेण यथायथाऽभ्यन्तरचक्षुरस्य
तथा तथा कापि नवैव सृष्टिः क्षणे क्षणे दृष्टिगता विभाति ॥१५॥
नृपः स्वदेशे लभते प्रतिष्ठां विद्वांश्च मान्यो भुवनेऽखिलेऽस्मिन्
आभ्यन्तरो यस्य महान् प्रकाशो दिव्यश्चकर्ष स्वयमेव सर्वान् ॥१६॥
क्षणाय येनाथ समागमः स्यात् गुणैस्तमेव स्ववशीकरोति
सारस्वतः कोऽप्यनुभावएष पलेन यः प्रह्वयतीह विश्वम् ॥१७॥
धनं जनैर्नाधिगतं न खेदः लब्धा न कीर्ति नहि सापि चिन्त्या
लब्धः सुबोधोऽपि भवे हि किञ्चित् नवेति नित्यं परमं विचिन्त्यम् ॥१८॥
सर्गं स्वकीयं सृजतीह धीमान् नव्यं स्वकीयं कुरुते च नाट्यम्
लीलापरः कोऽपि विहारशीलो बुधो जगत्यां विधिरद्वितीयः ॥१९॥
भूते च भाव्येप्यथ वर्तमाने निरन्तरं संचरते बुधाय
विश्वात्मवृत्त्यै विभुदर्शनाय प्रतिक्षणं सर्वमिहास्ति नित्यम् ॥२०॥
परोपदेशाय वचोविलासो नास्याभवत्केवलमेष बाह्यः
आभ्यन्तरोऽप्यस्य महो हि दिव्यं स्वतो जनानां हृदयं ह्यमासीत् ॥२१॥
निरीक्ष्य चैनं निजकर्मनिष्ठं शिक्षा स्वयं शिष्यगणै रथाप्ता
आचारशिक्षैव परा सुशिक्षा न कापि शिक्षा वचनैकदक्षा ॥२२॥
सूर्योदयात् प्राक् कृतनित्यकृत्यः ध्यानालये ध्यानविधिं समाप्य
अध्यापयामास ततः स्वशिष्यान् शास्त्राण्यनेकानि महार्थवन्ति ॥२३॥
विश्लेषणं तत् पदवाक्यवृत्तेः रहस्यनिर्देशपरं वचस्तत्
वैशद्यहृद्यो विषयप्रकाशः कान्यत्र सा तन्मयता च लभ्या ॥२४॥
शिष्यैः सुखं पाठरसं पिबद्भिः न कांक्षितं किञ्चन सौख्यमन्यत्
चुंकारशून्या चटकापि दृष्टा पाठं पिबन्ती सुसमाहितेव ॥२५॥
तादृग् गुरुः संस्कृत संस्कृतात्मा सा संस्कृति र्भारतजन्मभाजाम्
क्वाश्च सौम्यं बत सात्त्विकं तत् गतं क सर्वं शुचि जीवनं नः ॥२६॥

विद्यार्थिनां संस्कृतपाठशाला-निवासिनामाचरितव्रतानाम्
श्लाघ्यास्थितिः सा विनयान्वितानां क्वाद्य लोके मनुजैर्निरीक्ष्या ॥२७॥

तेजस्विनो रक्षित वेदचर्याः सर्वेऽपि यस्यां विनय-प्रधानाः
शिष्या बभूवु र्गुरुभक्तिभाजः धृतव्रता निश्चितसाध्यसिद्ध्यै ॥२८॥

का नाम हा हन्त दशा विहीना किस्वास्तु दुर्दैवमतः परञ्च
विद्यार्थिकालेऽपि यदद्य सा नो मते विकासस्य गति निरुद्धा ॥२९॥

गार्हस्थ्यचिन्ताकुलिताशयानां सर्वस्वनाशि व्यसनावृतानाम्
नित्यं गुरोर्निन्दनतत्पराणां हतामति दुश्चरितै र्हतानाम् ॥३०॥

अधीतिनः किन्तु पुरा पुराणीं दैनन्दिनीं तां हि हितामवृण्वन्
पदे पदे यत्र मनः प्रसादो विद्योतते सत्वमयी च बुद्धिः ॥३१॥

प्रातः समुत्थाय हरिं स्मरन्तः विधाय संध्यासवनादि कर्म
सूक्तं पठन्तः पुरुषस्य पुण्यम् भुञ्जन्ति मौनं हरये निवेद्य ॥३२॥

सर्वे पदार्थाः सुलभा भवेऽस्मिन् सौभाग्यवद्भ्यो विविधस्थलेषु
विद्यार्थिवासे सह सद्वयस्यै र्लभ्यं सदा पंक्ति सुखं न किन्तु ॥३३॥

सा शुद्धपंक्तिः सच मौनभावः तदर्पणं ब्रह्महविः प्रयुक्तम्
मेध्यञ्च तत् हृद्यमहो सदन्नम् विश्वम्भरास्ते वलि वैश्वदेवाः ॥३४॥

स्वास्थ्यस्य सत्थापनमेव यस्मिन् तद्यज्ञशेषामृतमेव साक्षात्
सर्वं निलीनं क्वनु कालगर्ते तत् सात्विकं भोजनमद्य शुद्धम् ॥३५॥

किमद्य लभ्यं वत पक्षिपोतै र्नित्यं हृतै र्वा पशुभिर्वराकैः
विभक्ष्य सर्वानपि निर्दयोऽयं तृप्तो हि ना नाद्य भवेत्पुन र्वा ॥३६॥

भुक्तेः परं लेख-विशेषलग्ना मध्यान्हकाले निजपुस्तकानाम्
अज्ञासिसु स्तत् हृदयं स्वयं ते स्वयञ्च ताश्चित्रकलाः सुरम्याः ॥३७॥

ततोऽपराण्हे मननप्रवृत्ताः विभावयन्तिस्म समेत्य छात्राः
अर्थान् नवान् भावविशेषभव्यान् शास्त्रार्थमर्मस्थलमामृशन्तः ॥३८॥

यदा यदा चैति धृतावकाशा प्रतीक्ष्यमाणा प्रतिपञ्चिरेण
छात्रैः प्रहृष्टैरभिनन्दितेयं सदागताचापि नवागतेव ॥३९॥

गुरोरनुज्ञामधिगम्य गन्तुम् वहिर्विहाराय विहारिभिस्तैः
दृष्टानि नानारसभावितानि स्थलानि रथ्यास्वथ चेष्टितानि ॥४०॥

सौन्दर्यभारालसगामिनीनां क्वचित् कदाचित् पथि कामिनीनाम्
व्यलोकि यत्तैरपि हावलीला मनःप्रवृत्तिर्हि विनोदशीला ॥४१॥

सौदामिनी चेत् कुहचित् स्फुरन्ती विलोकितैर्भि र्न दिदृक्षयापि
रूपप्रभावो बलवान् स्वभावात् स्वतो हरत्येव दृशो न केषाम् ॥४२॥

स्फीत - स्तनीनां घटधारिणीनाम् संदर्शनीये गजकुम्भमर्दे
दृष्टिर्यदृच्छापतितापि दूरात् जनं विदीर्णं कुरुतेस्म दीनम् ॥४३॥

भीतोऽपि वेणी-विषसर्पिणीभ्यो निमील्य नेत्रेऽवनताननस्तत्
छात्रो वराकश्चलतिस्म कष्टं मुहुः कटाक्षोग्रशरै र्विकीर्णः ॥४४॥

इमां गतिं तस्य विलोक्य दान्तां नार्यश्च काश्चिन्मिथ एवमूचुः
नायं नरो ह्रीविषयोऽस्मदीयः छात्रो वराकः किल कश्चिदेष ॥४५॥

सायन्तनी का नच सा सुवेला यस्यां न खेला विविधा बभूवुः
यस्यां च वृद्धोऽपि नवां नवां स व्यायामरीतिं नहि निर्दिदेश ॥४६॥

विधीयते साहसजन्म-भूमिः युयुत्सुभावस्य न चेत्प्रवृत्तिः
नवे वयस्येव विभग्नमध्यः कथं जयेद् द्वंद्वरिपूनघृष्यान् ॥४७॥

आलस्य दोषैरभिभूयतां नो न निर्बलः कातरतां तनोतु
ह्रासश्च जायेत न राष्ट्रशक्ते व्यायामशिक्षेति सदानिवार्या ॥४८॥

मरुस्थली सैकत - कोमलाङ्गी विमर्दिता रागवतीव जाता
मन्ये शिशिक्षे तत एव चासौ कणे कणे कूर्दनकेलिवृत्तिम् ॥४९॥

संरम्य रम्ये प्रकृतिप्रदेशे, वायुं नवं स्फूर्तिकरं निषेव्य
ततो निवृत्ता दिवसावसाने सांध्ये विधौ ते निरता बभूवुः ॥५०॥

बद्धासना विस्मृतबाह्यबोधा धन्या हि ते येऽनुभवन्ति नित्यम्
ध्यानैकताने निजचित्तवृत्तौ शान्तं स्वरूपं पुरुषोत्तमस्य ॥५१॥

विधाय संध्यां च समाप्य जाप्यं सर्वेऽपि पूजासदने समेत्य
देवाधिदेवस्तुति - गीतिमग्ना नृत्यन्ति ढक्कां च निनादयन्ति ॥५२॥

अहो स कीदृङ् मधुरश्च तारः स्वरो जनानां स्तवने रतानाम्
प्रविश्य यः श्रोत्रपथं जनस्य प्रसह्य चेतः कुरुते प्रमत्तम् ॥५३॥

नीनास्ततोऽन्त्याक्षर - काव्यवादे पद्यानि सूत्राणि नचेत्स्मरन्ति
विधाय सद्यस्तु नवानि तानि स्मृत्या स्वमेधां सुसमेधयन्ति ॥५४॥

रात्रौ प्रसुप्तेऽथ गुरौ प्रसुप्ताः प्रभुं स्मरन्तो मधुरस्तवेन
ब्राह्मान्मुहूर्ताच्च पुरा प्रबुध्य आवर्तयन् सर्वमधीतिजातम् ॥५५॥

तेषामेवं सुधीनां सुकृतपथजुषां शास्त्रचिन्तारतानाम्
लोकेऽस्मिन् प्रार्थनीयं यमनियमवतां सात्विकं जीवनं तत् ।
शान्तं सौम्यं पवित्रं जगति विजयते संस्कृतात् संस्कृतानाम्
यस्मिन् धर्मस्य नित्यं भवदुरितहरी भासते पुण्यधारा ॥५६॥

इतिश्रीहरनामामृते परिपूर्णोऽष्टमः सर्गः



हरनामामृते नवमः सर्गः

(दुर्भिक्षाक्रान्तो मरुदेशः, गौर्वल्व्यम्, जड़ाप्रकृतिः, शिवाभिषेकः, यज्ञप्रभावः, जलाप्लुतमही, शिवस्तुतिः)

अथ तत्र सुखेन वाङ्मयामृतपानं नियतं हि कुर्वतः
भयदो मरुदेशदुर्दशा दयनीयः समयः समागतः ॥१॥
प्रकृते विकृति हि मानवैः खगम्या नहि कापि चंचला
अमृतं च विषं सहैव या निजगर्भे सततम् प्रपुष्यति ॥२॥
अतिदुर्लभमेव सन्ततं सलिलं यत्र मरौ स्वभावतः
यदि तत्र विधिर्न वर्षतात् कतमो जीवतु जीवनं विना ॥३॥
नियतैव परं मरुस्थले वसति दुःसमयस्य शाश्वती
प्रकृतिर्हि मता जलाल्पता विकृतिर्यत्र च वारिदर्शनम् ॥४॥
विदलस्य तरोरधस्तले रवितापेन भृशम्प्रतापिताः
विहगा विकला हि निश्चला कठिनं हा कथमुच्छ्वसन्ति ते ॥५॥
नहि किन्तु जलस्य विप्रुषः क्वचिदंशोऽपि समेति दृक्पथम्
सलिलभ्रमतो भ्रमतो मृगान् नहि कान् हन्ति हतान् मरीचिका ॥६॥
निपतेद् यदि दृक्पथे क्वचित् मलिना तन्व्यपि तूलसंहतिः
जलदस्य कलेति विभ्रमात् तृषितो वारि ततोऽपि याचताम् ॥७॥
यदि चेह कुतोऽपि धूमिका गगने कापि विलोक्यते जनैः
तत एव नवा नवा न का समुदीक्षा समुदेति मानसे ॥८॥
न जलं जलजा कृषिःकुतः सुतमूल्यैरपि दुर्लभाः कणाः
उदरस्य दरी हि कस्यचित् न भृता वल्कलभक्षणैरपि ॥९॥
रुदनं रुदनं बुभुक्षिता विलपन्तो जठराग्निधुक्षिताः
शतशः शिशवोऽपि चुक्रुशुः जननी रोदिति सा करोतु किम् ॥१०॥

पशवोऽप्यपरे बुभुक्षया गमिता पञ्जरमात्रशेषताम्
हठतो हृदये विलोक्य यान् उदिता शापमतिर्विविम्प्रति ॥११॥*
सुरभि र्वत कापि विक्लवा विषमेऽस्मिन् समये तृषातुरा
विनिमील्य दृशौ पपात यत् करुणामूर्तिमतीव तत्पथे ॥१२॥
विचचाल धृति विलोक्य तां स्थिरता चास्य पलायिताऽखिला
इति चिन्तयतोऽन्वहं मुहुः करणीयं किमु तेन साम्प्रतम् ॥१३॥
नयने खलु मूक-जीविनाम् वदतस्तारस्वेण वेदनाम्
नयनैरस्य स श्रुतो ध्वनिः नहि केषां च विचालयेन्मनः ॥१४॥
जननी च परा गवा समा ननु का भूतलवर्तिनी भवेत्
न नराः खलु तेहि दानवा हतकै यैं र्वन सापि हन्यते ॥१५॥
मनुजो मनुजश्च नास्त्यसौ हृदयं वा नहि तस्य विद्यते
अवलोक्य दशामिमां स्वतो नहि यस्य द्रुतिमान्तरं व्रजेत् ॥१६॥
मृदुता करुणार्द्रचेतसः सततं प्रोच्छ्वलति स्वभावतः
लभते न फलं क्वचित् सुखं परदुःख समुपेक्ष्य येन स ॥१७॥
लयमेति न किन्तु भीषणा परमेषा वत चिन्तयैव नः
कुपिता प्रलयाय भीषणं निजरूपं हि यदाश्रयेदियम् ॥१८॥
न धनेन बलेन वा पुन र्नच विद्या-विनयै र्वशीकृता
कुटिला प्रकृति हि नीरसा विरमेन्त स्वनृशंस कर्मभिः ॥१९॥
ऋषिभिस्तपसा यथा तथा विजितेऽप्यान्तरसर्गसंग्रहे
सहजैव जडा तमोमयी न हि बाह्या प्रकृतिर्निरुध्यते ॥२०॥
शिव एव कृपामयः स्वयं नहि यावत् शिवरूपतामियात्
जगतो हितकाम्यया चला प्रकृतिः शाम्यति नैव तावता ॥२१॥
इति सोऽथ विमृश्य मानसे समामामन्त्र्य महीसुरांततः
समुवाच तपस्विनांवरः सकलांस्तान् श्रुतिशास्त्रपारगान् ॥२२॥
अयि मंत्रदृशो द्विजेश्वराः समयेऽस्मिन्ननु किं विधीयताम्
म्रियते निखिलैर्निराशया भुवि जीवैर्विवशैः पिपासया ॥२३॥

* येषाम् परमदयनीयामिमां दशां विलोक्य जनस्य हृदये निष्करुणं विधिम्प्रति हठात् शापमतिः प्रादुरभूत् ।

समुपेक्ष्य जगत् किमास्यते भवपापैर्यदि दह्यते मही
परतापनिवारणाक्षमं न मुहुर्ब्राह्मणजन्म लप्स्यते ॥२४॥

नहि विप्रवरैः कदा कदा विहता दैवकृता विपत्तयः
भवभीतिकरी यदा यदा विषमा कालगतिः समुद्गता ॥२५॥

क्रियते निजशक्तिविस्मृतिः किमु भूदेववरैः प्रमादतः
क्व गता भवतां दृढा मतिः नवविश्वोदयकारिणी हि या ॥२६॥

दृढता यदि मर्त्यमानसे रचना तेन विरच्यते न का
सततं हि जनैः शुभक्रिया सुविधेया निजसिद्धिमीप्सुभिः ॥२७॥

विफला च कदा स्तुतिः सतां परमेशे शुचिभावभाविता
करुणावरुणालयो हि यः कठिनात्मापि तया प्रसीदति ॥२८॥

विहितैर्विधिना द्विजोत्तमैर्नहि यागैरिह किञ्च सिध्यति
विहिताङ्गमही जलप्लुता स्मरणीयं खलु शृङ्ग-कर्म तत् ॥२९॥

जनकेन कृते हलाध्वरे ननु देवो न ववर्ष तत्र किम्
जलदस्य हि यज्ञजन्यता नियतेयं प्रकृतिः सनातनी ॥३०॥

समवेत्य विधीयतां मखो जलधाराभिरथाप्लुतः शिवः
क्रियतां कलशैस्तथा यथा जलमात्रं भुवने स पश्यतात् ॥३१॥

अथ तस्य वचोऽनुमोदकैः शिवभक्तैः श्रुतिपाठतत्परैः
शतशः कलशैरहर्निशं पयसा तत्रभवोऽभ्यसिच्यत ॥३२॥

विगतेषु बहुष्वहःस्वपि प्रबला वातगतिर्न शाम्यति
न तथापि निराशतां ययौ विदुषस्तस्य शिवस्थिरं मनः ॥३३॥

प्रसमीक्ष्य परं जनान् परान् हृदि सन्देहपरान् फलम्प्रति
स बुधः शरणं ययौ पुनः पदयोः शुद्धधियाऽऽशुतोषिणः ॥३४॥

अयि शङ्कर ! शंकोरऽपि किम्
निजमायां तनुषे भयंकरीम् ।
हर ! संहर रौद्ररूपतां
हर तापं जगताञ्च सत्वरम् ॥३५॥

मनुजैर्यदि दुष्कृतं कृतं पशुभिः किं किल पापमाहितम्
अपि जीवतु ना यथातथा परमेभिः शरणं क्व लभ्यताम् ॥३६॥

विवशैश्च तवैवमायया क्रियते कर्म जनैः शुभाशुभम्
मनुजेऽपि कथं कठोरता शिव तर्हि भवेद्भवन्मता ॥३७॥

जगतो ननु का हि सा क्रिया क्व च सा तिष्ठति वस्तुधर्मता
भवदेषणयैव याहि नो भवसर्गे भवति प्रवर्तिता ॥३८॥

विहिता जगतो हिताय या विफला चेद् यदि सा मखक्रिया
श्रुतिरेव न हीयते ततो जगतो धर्ममतिर्विलुप्यते ॥३९॥

गतवत्सर एव मेदिनी खलु दुर्भिक्षहतैव सर्वथा
किमु सम्प्रति हन्यते हता शिव याता क नु ते दयालुता ॥४०॥

प्रकृति र्वशवर्तिनी सदा भवतात् ते भव भूतये भुवः
न पुनः परितप्यतां जगत् समये वर्षतु वारि वारिदः ॥४१॥

शिवमेवमुपास्य चेतसा प्रगुणान् कर्मणि योजयन् द्विजान्
क्षणमेव न शान्तिमाययौ नहि यावत्तु तुतोष शंकरः ॥४२॥

स्तुतिभिर्मधुराभिरञ्चिता प्रकृतिः सा परिवर्तनोन्मुखी
सुकृतैरिव संस्कृतान्तरा जपहोमैरनुभाविताभवत् ॥४३॥

सहसा विरराम मारुतो गगने वर्णगति र्गतान्यताम्
स्वजनस्य दिदृक्षयेव च स्वयमौष्ण्यं हृदि वारिणा दधे ॥४४॥

शशिशेखरभस्मधूसरा दिवि कैलाशदिशा—समुत्थिता
जलदस्य तनीयसी ततिः ददृशे कापि समुत्सुकैर्जनैः ॥४५॥

स्फुरिता सकृदेव चञ्चला क्षणमेकं च जगर्ज वारिदः
ददृशुः परितः परक्षणे परितृप्तां सलिलाप्लुतां महीम् ॥४६॥

शिशिरः पवनोऽवहन्मुदा प्रियकेकाकलिताश्च केकिनः
अभिनव्यमिवाभवद् जगत् स्वभिषिक्तास्तरवो विरेजिरे ॥४७॥

मुदिता कृतकृत्यतामिता द्विजराजिर्निजविस्मृतिं गता
हरकीर्तनगानतत्परा स्तुतिनादैर्भुवनं व्यगुञ्जयत् ॥४८॥

जयत्यशेष-विश्वताप पाप नाशतत्परः
समग्र दैन्यदुःखदोषदारिशंकरो हरः ॥४९॥

क्षणेन यस्य पावनैः कृपाकटाक्षवीक्षणैः
समेति सौख्यसन्ततिः प्रवर्तते महोत्सवः ॥५०॥

सुखं सदा सरत्वयं नियन्त्रितो जगत्क्रमः
उदेतु नोद्धता क्वचित् तमः स्वभावता पुनः ॥५१॥

क्षमाद्यैव मृष्यतां भवस्वभावदुष्कृतिः
अहेतुकीत्यमेव ते विधीयतां कृपाततिः ॥५२॥

पयोधरै रसाप्लुता भवत्वसौ वसुन्धरा
प्रभूत शस्यसम्पदा प्रजा प्रमोदनिर्भरा ॥५३॥

सुखं वयं यजामहै भवद्वितीर्णवैभवैः
भवन्तमेव भूसुराः सदैव विश्वभूतये ॥५४॥

त्वदीयपादवन्दना - रतं मनो निरन्तरम्
यथा भवेत् तथा मतिः प्रदीयतां च नोऽधुना ॥५५॥

सकला नगरी च विस्मिता सहसा हर्षभरोल्लसज्जना
परिवारितयज्ञमण्डपा बहुमानेन ननाम भूसुरान् ॥५६॥

अधुनापि सदा जलात्यये सुक्तमेयं हि तथैव गीयते
नच वर्षति चेत्पयोधरः सरणि सैव पुनर्निषेव्यते ॥५७॥

एवं यज्ञफले सिद्धे खाद्य सम्पन्नवत्सरे
तुष्टे जनपदे श्रद्धा शास्त्रेऽवर्धत नूतना ॥५८॥

नानाधर्म्येषु कार्येषु प्रवृत्तेषु गृहे गृहे
द्रष्टुं पुण्यानि तीर्थानि तुष्टः सोऽपि मनो दधे ॥५९॥

अथ च बुधवरं तं तीर्थयात्रां चिकीर्षुम्
सपदि विदितवृत्ता अन्वयुः केऽपि पौराः ।
सुफलमिह दिनं तद् यत्र संभूय सन्तः
विगत — विविधचिन्तास्तीर्थचर्या श्चरन्ति ॥६०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रिप्रणीते हरनामामृते—
मरुदुर्भिक्षदुर्दशाहारिहरप्रार्थनामयोनवमःसर्गःपरिपूर्णः

हरनामामृते दशमः सर्गः

(मारवीयात्रा, पवित्रं ग्रामजीवनम्, दस्युराज प्रतिबोधनम् तीर्थदर्शनम्)

अहो द्राघीयसी यात्रा मारवी सा भयावहा
दुर्लभं दर्शनं यस्यां शाखिनां सलिलस्य च ॥१॥

शकुनानि परीक्ष्यन्ते पान्थैर्यत्र पदे पदे
कुत्र संयाति मार्गोऽसौ पृच्छ्यते च मुहुर्मुहुः ॥२॥

यत्र सम्भूय गन्तव्यं सावधानैर्निरन्तरम्
लुण्टाकैः क्वचनाक्रांतै र्वात्या भ्रान्तैश्च कैश्चन ॥३॥

क्रोशानपि न कर्तव्यं तृषितै र्ग्रामदर्शनम्
निदाघे कीर्यते वन्हिः शिशिरे हिम वर्षणम् ॥४॥

तस्यामायासबाहुल्य - भीषणायामपि क्वचित्
प्रकृत्यैवाध्वगैः कैश्चित् आनन्दोऽप्यनुभूयते ॥५॥

निशायां शान्तिरम्यायां समे च विषमे पथि
नीरवे निर्जनेऽरण्ये मधुरः स रयध्वनिः ॥६॥

शनैराक्रम्य चाध्वानं गच्छताम् उष्ट्रसादिनाम्
लम्बस्वरेण गीता सा मादिनी तेजसः कथा ॥७॥

यथा प्रातः तथा सायं दृश्यते प्रकृतेश्छटा
कमनीयोषसः कान्तिः सन्ध्या रागवती तथा ॥८॥

मार्गे मनोविनोदाय श्रमापनयनाय च
हृद्यं गीतं कथालापः ताम्रकं वा निषेव्यते ॥९॥

क्वचिद् दृष्टिपथं याते कूपस्तूपे धृतिप्रदे
श्रान्तास्ते पिप्पलच्छायाम् आश्रिताः सुखमासते ॥१०॥

शीतलं जलमापीय - प्रपूर्याथ जलैर्दृतिम्
मध्ये विश्रम्य विश्रम्य स्वमार्गेऽग्रे सरन्ति ते ॥११॥

यात्रामेवं प्रकुर्वन्तो ग्राममेकं प्रपेदिरे
कान्त्या विद्वानिति ग्राम्या जनास्तं पर्यवारयन् ॥१२॥

वर्षे भाविनि किं भावि कीदृशः समयो भवेत्
प्रष्टुमेतत् समाजग्मुः कृषकास्तं समुत्सुकाः ॥१३॥
परितो वन्हिमासीनाः ते सर्वेऽपि पिपृच्छवः
पप्रच्छु विनयात्सर्वे स्वस्व — प्रश्नांस्ततो मुदा ॥१४॥
किमेतत् सत्यमेवास्ते पण्डिता म्लेच्छतां गताः
नित्यं गावो विहन्यन्ते स्वैरिण्यश्चाभवन् स्त्रियः ॥१५॥
अधर्मस्य प्रवाहोऽयं ग्रामेऽपि प्रविशेन्नु किम् ?
किं राज्येऽस्मिन् फिरंगाणां सर्वेस्यु वर्णसंकराः ॥१६॥
सदाचार — परिभ्रष्टाः श्रूयंते नागरा जनाः
अपि सर्वा विनश्येत स्थिति धर्म्या पुरातनी ॥१७॥
श्रुत्वा प्रश्नान् परं प्रीतोग्रामसारल्यशालिनाम्
अमानी मानदो विद्वान् हसन्नेवं समादधे ॥१८॥
चतुराणां धुरीणस्त्वं चौधरीति निगद्यसे
नाश्चर्यं यदिमान् प्रश्नान् निपुणं परिपृच्छसि ॥१९॥
विधर्मिशासनस्यायं प्रभावो राष्ट्रसंस्कृतिम्
दूषयत्येव मूलेन स्थैर्यं तस्मात् समाहितैः ॥२०॥
रुधिरेण गवां धात्री भारती यै विदूषिता
तेषां यावन्न निष्कास स्तावदत्र सुखं कुतः ॥२१॥
धर्मः क्षीणोऽद्य वर्णानाम् वर्धन्ते वर्ण दूषकाः
म्लेच्छशिक्षा - प्रसारेण स्वशास्त्राणां च विस्मृतेः ॥२२॥
परं पुण्यतमे वर्षे भारतेऽस्मिन् सनातनः
धर्म एव सदा स्थायी सर्वमन्यद् विनंक्ष्यति ॥२३॥
केचित् संसर्ग - दोषेण क्वचिच्चेत् पतिता द्विजाः
नहि तेन च्युताः सर्वे व्यक्त्या जाति र्न दूष्यते ॥२४॥
त्यक्त - सद्धर्म - मर्यादा या स्त्री स्वच्छन्द - चारिणी
आद्दति भर्ता रते तस्या न भूता न भविष्यति ॥२५॥
परिवर्तनसम्पन्नं सदा पत्तनजीवनम्
चंचलं बुद्धिवादेन श्रद्धाहीनं च विकृतम् ॥२६॥

स्वात्मा भारतवर्षस्य ग्रामेष्वेव विराजते
संरक्ष्यः पत्तनाचारै र्यथायं तैर्न दूष्यते ॥२७॥
न भेदो विद्यते कश्चित् सद्ग्रामेऽथ तपोवने
विधेयं नित्यमातिथ्यं गावो रक्ष्या गृहे गृहे ॥२८॥
रक्ष्या भगवति श्रद्धा रक्ष्या प्रीतिः परस्परम्
सर्वकर्माणि संभूय कर्त्तव्यानि गतक्लमैः ॥२९॥
अद्य यावत् पथा येन श्रेयो युष्माभिरर्जितम्
त्यज्यते चेत्स नह्यस्त्वा शांति ग्रमि सदा स्थिरा ॥३०॥
तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा यथार्थं धर्मसम्मतम्
पप्रच्छुस्ते पुनः प्रीता दशां वर्षस्य भाविनीम् ॥३१॥
सोऽपि सर्वान् समाधाय प्रश्नांस्तेषां तथा तथा
प्रातरेव समुत्थाय प्रतस्थेऽनुदिते रवौ ॥३२॥
गत्वा च कतिचित् क्रोशान् ग्रामाद्दूरे वनाध्वनि
सहसा तिष्ठतिष्ठेति शुश्रुवे कर्कशध्वनिम् ॥३३॥
सम्मुखे चागतान् दृष्ट्वा लम्बग्रीवान् क्रमेलकान्
शीघ्रम् पप्रच्छ निर्भीकः शङ्करं रथवाहकम् ॥३४॥
"किमेतत् क इमे लोकाः किं वा वाञ्छन्ति पृच्छ्यताम्"
"मौनं स्थेयं महाराज ! नियन्त्रैवं न्यपिध्यत" ॥३५॥
भवन्तो नैव जानन्ति ख्यातान् दस्यूनिमान् खलान्
अहमेव समाधास्ये प्रश्नानेषां दुरात्मनाम् ॥३६॥
ततस्तानाह भो वीराः ! धार्मिकाः पण्डिता इमे
गम्यते तीर्थयात्रायां नैन्यः कोऽपि वनागमः ॥३७॥
रुचि र्वश्चेत्कथां श्रोतुं श्रूयतां धार्मिकी कथा
उपदेशो हि धर्मस्य प्राज्ञानां शाश्वतं धनम् ॥३८॥
अनादृत्यैव तद्वाक्यं प्रोचुस्ते निष्ठुरं खलाः
आस्तां ते धर्म चर्चेयं वित्तमाख्याहि यद्भवेत् ॥३९॥
तेषामेतद्वचः श्रुत्वा समागत्य रथाद्बहिः
प्राह गम्भीरया वाचा गृह्यतां गृह्यते हि यत् ॥४०॥

निर्भयं तद्वचः श्रुत्वा दृष्ट्वा ताश्च द्विजाकृतिम्
सौम्यां तेजस्विनीं तेऽथ श्रद्धानम्रा अवातरन् ॥४१॥
निपत्य पादयोः प्राहुः क्षत्रियाः स्मो वयं द्विजान्
नैव हन्मो न लुण्ठामः वनिकान् मृगयामहे ॥४२॥

क्रूरानपि धृताचारान् तान्प्रत्याह प्रबोधयन्
क्षत्रियैरपि युष्माभिः किमेषा वृत्तिराश्रिता ॥४३॥
क्षताद्रक्षा प्रकर्तव्या कर्तव्यं राष्ट्ररक्षणम्
क्षत्रियाणामयं धर्मः गर्हिता दस्युवृत्तिता ॥४४॥

सर्वमेतत् यथा प्रोक्तं तत्तथा किन्तु साम्प्रतम्
ब्राह्मणा ब्राह्मणा नैव क्षत्रियाः क्षत्रियास्तथा ॥४५॥

सत्यमेतद् महाराज क्षुधा किन्तु बलीयसी
सर्वं पापमपापञ्च क्षिपामो जठरानले ॥४६॥

नचाद्य ब्राह्मणाः केचित् ब्राह्मणाः सन्ति वस्तुतः
वणिग्भ्योऽप्यधिकं लुब्धाः किंकराः श्रीमतां हि ते ॥४७॥
तावदेव हि सन्मार्गो धर्मस्याध्रियते तथा
लोके जीवन वृत्तिर्हि नृणां यावन्न रुध्यते ॥४८॥
आहरन्ति च वित्तं ये कृपणाः कैतवार्जनात्
तेभ्यः किञ्चिद् हरामश्चेत् पश्यामो नात्र गर्हणम् ॥४९॥

लुण्ठन्ति चापणे येऽन्यान् लुण्ठामस्तान् वयं वने
आदानस्य प्रदानस्य स्थितिरेषा सनातनी ॥५०॥
यत् किञ्चित् शक्यते कर्तुं क्रियते तन्निरन्तरम्
दीनेभ्यो दीयते द्रव्यं रक्ष्यन्ते धेनवस्तथा ॥५१॥

वयमप्यथ गच्छामो मार्गोऽस्माकं पृथक् पृथक्
नातिक्रमोऽस्तु वेलाया भवान् यातु यथासुखम् ॥५२॥
उष्ट्रेष्वारुह्य ते याताः प्रस्थितश्चेष चिन्तयन्
क्षत्रियाणां गतिः केयं संजाता हन्त साम्प्रतम् ॥५३॥

मरो मार्गानतिक्रम्य प्राप्तोऽयं व्रजमण्डलम्
दर्शनैः कीर्तनैः प्रीतः प्रतन्वे सेतुबन्धनम् ॥५४॥

अथ तां दक्षिणामाशां जगाहे स विचक्षणः
यत्राचार्यैः परंब्रह्म स्वहस्तामलकी कृतम् ।।५५।।
अप्यरण्ये कृतावासा विन्ध्याचलतपस्विनी
नर्मदा प्राभवत्तस्मै प्रस्नुतेव पयस्विनी ।।५६।।
रामेश्वरे कृतातिथ्यो दाक्षिणात्यै र्विदाम्वरैः
सर्वाधिकारसम्पन्नं चक्रे तत्र शिवार्चनम् ।।५७।।
परिपूतमिवात्मानं कृतार्थः सन्नमन्यत
अन्येऽप्यस्यानुगाश्चैवं लेभिरे निर्वृत्ति पराम् ।।५८।।
महिम्नोऽतिशयः कश्चित् स्थितः तीर्थेषु शाश्वतः
यतीनां च गृहस्थानां यदाकर्षेन्मनोऽनिशम् ।।५९।।
दीनो हीनोऽपि यल्लोभात् सार्यमावध्य पर्यटन्
राष्ट्रैक्यम् पोपयेन्नित्यम् पावपैच्चात्मनः कुलम् ।।६०।।
यत्तु किंचित् क्वचिद्रम्यं प्रकृति र्यत्र सात्विकी
दुर्गमं साहसापेक्षि स्थलं वा यत्र पावनम् ।।६१।।
यत्र स्रोतांसि पुण्यानि सर्वरोगहराणि च
तत्रैव तीर्थसद्वुद्धि र्भारतीया सनातनी ।।६२।।
युवानोऽद्य प्रगश्यन्ते पर्वताग्रेपु रोहणात्
जीर्णाश्चापि पुरा भक्त्या दुर्गं कैलाशमाविशन् ।।६३।।
एवं सर्वेपु तीर्थेषु यजन् मज्जंश्च तर्पयन्
सम्पन्नोऽनुभवैर्दिव्यैः कृतार्थोऽसौ न्यवर्तत ।।६४।।

दर्श दर्श भुवनविदितां भारती पुण्यभूमीम्
तीर्थीभूतः स वरणिसुरः सेव्यमानो महद्भिः
याजं याजं सुविहितमखै स्तत्रदेवद्विजातीन्
दिव्यैः शिष्यै निजमपि पुरं चारुतीर्थी चकार ।।६५।।

इति श्रीहरनामामृते परिसमाप्तोऽयं दशमः सर्गः



हरनामामृते एकादशः सर्गः

(वानप्रस्थाभिरुचिः, विद्याधनं ह्येव धनं बुधानाम्, अद्यतनी दयनीया गृहस्थगतिः, आत्मनात्मानमुद्धरेत् हरद्वार-निवासः, पार्वती सुषमा)

शान्तोऽप्यशान्तात् जगतो मनस्वी कौबेरकाशीं बहुधा जगाम
गुहास्थितः कश्चन यत्र सिद्धः प्रबोधयामास बुधं तमित्थम् ॥१॥
बुद्ध्वापि बोध्यं विबुधं हि यद्यत् लब्ध्वा च तद्यत्परतो न लभ्यम्
किं यापयन् व्यर्थमहो स्वकालम् नैवात्मनः कृन्तसि विश्वपाशान् ॥२॥
लभ्यं हि नेदं नरजन्म नित्यं स्थेयं न वा भूतल एव नित्यम्
कार्याणि कर्माणि तथापि नित्यं गृहे स्थितानामथ चापरेषाम् ॥३॥
कुटुम्ब सम्पोषणमात्र लीनैः रायैः स्थितं नेह सदैव गेहे
लक्ष्यं हि यद् वास्तविकं जनानां तत्प्राप्ति हेतोरपि तैः प्रयत्यम् ॥४॥
श्रुत्वा तदीयं वचनं हितं तत् स्थितिं ह्यनित्यां च विचिन्त्य लोके
नवाय सज्जः परिवर्तनाय स्वचित्तमावर्त्त वनस्थ-वृत्तौ ॥५॥
आहूय सद्यः स्वसुतं विदेशात् षट्शास्त्रबोध - प्रतिभासमृद्धम्
समग्रलोकव्यवहारदक्षं देवीप्रसादं च तमेवमाह ॥६॥
तत्रैव दुर्गाचरणाब्जभृङ्गो भ्राता कनिष्ठो मदनाभिधानः
अहेतु सर्वोपकृतौ प्रवृत्तः पार्श्वे समाकर्णयति स्म सर्वम् ॥७॥
धनाश्रिता यद्यपि लोकयात्रा तदर्जनं तत् सुविधेयमेव
विद्योन्नते किन्तु गृहं बुधानां विद्याधनैरेव परैर्न रत्नैः ॥८॥
उपार्जितं तत्र वितीर्यते चेत् काणनिबद्धं शपते द्विजं तत्
स्तुत्यश्च विद्याविभवोऽपि नासौ विद्वत्सु चेद् भाति न कीर्ति कांतिः ॥९॥
धनार्जने मग्नधियैव पुंसा स्व सन्ततिश्चेन्न सुशिक्षिता वा
किमर्जितं मूढधिया हि तेन प्रक्षिप्य रत्नानि वराटिकाभ्यः ॥१०॥
त्यक्त्वा धनाप्तेर्व्यवसायबुद्धिं वृणीष्व तद् बुद्धिपथं बुधानाम्
परोपकारेण निजोपकारो विश्वोपकारश्च सदा विधेयः ॥११॥
तद्योग्ययोर्न्यस्य गृहस्थभारं स्कन्धे समर्थे युवयोः स्वतन्त्रः
स्वयं तृतीयाश्रममाश्रयिष्ये क्षीणाः स्वतो यत्र गृहस्थ बन्धाः ॥१२॥

जपैरनेकै र्व्रतयज्ञदानैः श्रुतिस्मृतीर्नाहि च तपदेशैः
गृहे गृहस्थैः समुपार्ज्यते यत् संपीयते तस्य रसो वनस्थैः ॥१३॥
गृहस्थधर्मं परिपालयद्भिः प्रवृत्तिमार्गो ध्रियते प्रकृत्या
सुखं निवृत्तेरपि तैर्निषेव्यं मता निवृत्तिः परमा प्रवृत्तिः ॥१४॥
कर्माणि तत्रापि न कानि कानि श्रेष्ठाणि दीक्षान्यथ दिव्यभावैः
स्वबन्धुभावोऽत्र विभुः स्वभावात् स्वस्मिन् परस्मिश्च न कोऽपि भेदः ॥१५॥
स्थितैर्निवृत्तावनुभूयते या सर्वात्मभावैक - रसानुभूतिः
संसारसिन्धोः प्रबलैस्तरङ्गैरालोडितैः सा सुलभा क लोकैः ॥१६॥
गृहस्य कोणे कचिदाहृतानां श्वासेन कासेन विनिद्रितानाम्
किं जीवनं हन्त जरावृतानाम् रोगैर्वियोगै रुदतां सदैव ॥१७॥
नाहं निबद्धोऽस्मि गृहस्थ बन्धै र्युवां च लोके व्यवहार दक्षौ
एषा कृपा कारुणिकस्य शंभो र्विद्वद् गृहं बंध-विमोचनाय ॥१८॥
इत्येवमाभाष्य स भाष्यभानुः मौनं सुताभ्यां विदितागमाभ्याम्
अङ्गीकृतार्थोऽमरसिंधुतीरं निषेवितुं प्रीतमना बभूव ॥१९॥
धन्यो गृहस्थः किल सोऽस्ति लोके गृहं त्यजेद्यो गृहभारमुक्तः
न तैलिकानां वृषभैः समानः चक्रे चलन्नेव विपद्यते च ॥२०॥
धन्यानि राष्ट्रस्य दिनानि तानि वनेषु वासं स्पृहयन्ति येषु
चितासु दग्धेऽपि गृहस्थचिता प्रवर्धमानेव न दह्यतेऽद्य ॥२१॥
जनोऽद्य विस्मारितविश्वरूपो नियन्त्रितः केन गृहे निरुद्धः ?
हेतोश्च कस्माद् विवशी - कृतोऽयं गृहात्परं पारयते न गन्तुम् ॥२२॥
बध्नन्ति तं भोगसुखानि किम्वा नित्यं कलत्रात्मजपोषणेहा
समाजदोषा उत धर्महीना भ्रष्टा गति र्वाऽद्य जनस्य सर्वा ॥२३॥
किं जीवनं जातमिदं जनानां प्रतिक्षणं चिन्तितचेतसां नः
येषामभावस्य न कापि पूर्तिः तुष्टिश्च भाग्ये लिखिता न येषाम् ॥२४॥
इयं यथा गेहगतिस्थितिर्नः क्षीयेत सद्यो भवजन्मभाजाम्
तथा प्रयत्नः सकलैर्विधेयो नातः परं सह्यमिदं च मौनैः ॥२५॥
"भाव्येन भाव्यम् नहि जातु कश्चित् तदन्यथाकर्तुमिह प्रभुःस्यात्
धृतव्रतानामिह चित्तवृत्तौ कदाप्युदेत्येष न दीनभावः ॥२६॥

क्षणेन सर्वं सुलभं जगत्यां नेच्छा जिगीषो स्वरोधमेति
अग्रेसरैर्भाव्यमतो महद्भि विधूय विघ्नानि मनोबलेन ॥२७॥
स्वार्थस्य सिद्ध्यै धृतभूरिवेषो न कोऽपि नेता पथदर्शको नः
निःश्रेयसे तत् स्वयमेव विज्ञो मार्गे स्वतन्त्रे स्वगतिं विधत्ते ॥२८॥
आर्यैः पुराणैः सुतरां विभक्तो मार्गश्चतुर्धाथ य आश्रमाणाम्
स एव मार्गोऽत्र यथानुसार्यः क्रमाच्चलन्नेव समेति लक्ष्यम् ॥२९॥
सुरापगाया रमणीय तीरे भव्ये निवासाय कुले - ऋषीणाम्
स विज्ञवर्यो हरनामदत्तः ययौ हरद्वारमतो वदान्यः ॥३०॥
ज्वालापुरस्थेऽपि महाप्रशांते विद्यालये वा नरदेववर्यैः
सम्प्रार्थितः शास्त्रिवरैः वेदान्त्यै भाष्यामृतं विज्ञवरो ववर्ष ॥३१॥
साक्षात् कृतार्थै र्भुवनस्य धर्माः शान्तिश्च येषां मनसि स्वभावात्
सन्यासिनस्तत्त्वविवित्सया ते मुमुक्षवोऽप्यस्य जहुर्न पार्श्वम् ॥३२॥
तं शुद्धबोधः स्वयमेव तस्मिन् सविग्रहः सन्ततमासिषेवे
कस्येह कालः स न वंदनीयः शास्त्रीय चर्चा निरतस्य तस्य ॥३३॥
धन्या स्मृति स्तत्समयस्य पुण्या तत्त्वार्थमालोचनतत्पराणाम्
प्रतिक्षणं यत्र विचारवीची मथ्नाति नित्यं नवनीतमर्थम् ॥३४॥
प्रतीपगा एव वहन्ति धारा विविधश्च भिन्नः सुधियां हि येषाम्
समेत्य ते तत्र महासमुद्रे एकार्थतायामभवन् कृतार्थाः ॥३५॥
श्रुत्वा विसम्वाद - विचारचर्चा मध्येस्थितोऽयं विहसन् तटस्थः
नानाश्रयाणां स्वरमूर्छनानां साम्यं मनोहारि चकार नित्यम् ॥३६॥
सिद्धाश्रमे तस्य पवित्रवासे चचाल चर्चा च सदेयमेव
किं ब्रह्म शब्दस्य च किं स्वरूपं कथं जनानां सफलञ्च जन्म ॥३७॥
किं जीवनं कुत्र वयं भ्रमामः कथं च लोके प्रगतिर्विधेया
योऽयं प्रपञ्चः प्रततः समन्तात् केनप्रकारेण निरस्य एष ॥३८॥
अद्वैतसिद्धान्तपथानुयायी तस्यैव नित्यं परिपोषकश्च
विशुद्धमानन्दमयं यतीशम् निजं गुरुं भासयतेतरां स ॥३९॥
सर्गेषु सर्वेष्वपि सन्धिमिच्छन् विसर्गसंधिष्वपि सोऽत्र वव्रे
स्वरेण नित्येन च संधिमिच्छन् न व्यञ्जनैः संधिमसौ व्यधत्त ॥४०॥

कचिद् विविक्ते गिरिपार्श्वदेशे गंगातटे वा स्थिर चित्तवृत्तिः
निनाय कालं स सुखेन शान्तो भ्रमन् प्रदेशेषु सुचं गिरीणाम् ॥४१॥
सौन्दर्य रागेश्च विभीषिकायाः सहैव येषां वसतिः शरीरे
ये दूषिता हिंसकवृत्तिवासै रपि प्रियाः सन्ति मुनीश्वराणाम् ॥४२॥
नोष्मा कदाचित् शिरसीह येषां ये चासमाश्चापि सुधीरधुर्याः
येभ्यश्च पाषाणकठोरहृद्भ्यः स्वच्छाः सदा सत्सरितो वहन्ति ॥४३॥
नक्षत्रमालाः सततं नवीनम्प्रतिलक्षणं यत्र च यामिनीषु
रम्येषु संधापयते प्रसन्नाः स्कन्धेषु हारं रमणीयतायाः ॥४४॥
छाया तरूणां शिशिरा न्यसेवि कचिन्नदीनां मृदुसैकतञ्च
क्वचित् प्रियः शीकरशीतवायुः कचिद्गिरीणां शिखराधिरोहः ॥४५॥
एवं स वाग्मी विहरन् स्थलीषु स्वभावरम्यासु सह स्वशिष्यैः
व्यलोकि तां तां रचनां विधातु र्गुणै र्विचित्रामिह निर्गुणस्य ॥४६॥
एषैव मायास्य विलक्षणस्य ग्रस्ता विरोधै र्विविधैः समस्ता
ज्ञाता न कैश्चिद् विदुषां वरेण्यै र्नचापि वेद्या पुनरत्र कैश्चित् ॥४७॥
पदे पदे तेन पदं नवीनं कथा च काचित् कथिता नवीना
तत्तत्स्थलानामितिहास-चर्चाः संश्राविताः सच्चरितैरुदाराः ॥४८॥
मुखेऽवनद्धा रजतेन यष्टिः करे परस्मिंश्च सवारि पात्रम्
विभूषयामासतुरस्य हस्ता वाचारपूतस्य सदैव तस्य ॥४९॥

हृदयसरसिजं विकासयन् सन्
दिशिदिशि मौर्ख्यमयं तमो निरस्यन्
सुकृतपथि नियोजयन् समस्तान्
रविरिव विजवरश्चरन् बभासे ॥५०॥

इति हरनामामृते परिसमाप्तो एकादशः सर्गः



हरनामामृते द्वादशः सर्गः

(निःसत्त्वमद्यतनं युगम्, प्रहृष्टा संस्कृतसंस्कृतिः, ऋषिकुल-महाविद्यालयादि विद्वन्मण्डली, कुरुक्षेत्रम्, विप्रसम्मेलनम्)

सौम्ये सुरसरित्तीरे तस्मिन्नेवं विहारिणि
आसीने ध्यानमग्ने वा शान्ते सिद्धाश्रमे सुखम् ॥१॥
दुर्गापाठरते मौनं तत्तच्छास्त्रानुशीलने
विद्वद्गोष्ठीपरे प्रीते शिष्यवर्गानुशिक्षणे ॥२॥

युगेऽस्मिन्नपि निःसत्त्वे स्वेच्छाचारपरायणे
पतिते भौतिकावर्ते तत्तत्कुव्यसनावृते ॥३॥
भौतिकैरैन्द्रियैर्भोगैरात्मशक्ति - विनाशकैः
स्वातन्त्र्यमन्त्रघोषेण स्वातन्त्र्यस्यापहारके ॥४॥
सत्यज्ञान - तपोदान - श्रद्धा - सत्कर्म - शत्रुभिः
तैस्तैरन्यैश्च दुर्भावैरभिभूतात्मवृत्तिभिः ॥५॥

नित्यमन्तस्तमोग्रस्तैर्बहिर्विद्युद् विमोहितैः
दिक्षु सर्वासु निस्सारैर्निर्मूलैः सर्वतोगतैः ॥६॥
वाक्शूरैर्मञ्चशूरैर्वा मिथ्याचार - विहारिभिः
कृत्रिमे जीवने व्यस्तैरापूर्णे च दुरात्मभिः ॥७॥
कलौ काले महाघोरे सर्वसंस्कार - वर्जिते
ज्ञानभानुप्रभा - ध्वंसि - धूलिभिः सर्वतो वृते ॥८॥
संगेनास्याभवद् हृष्टा भूयः संस्कृत संस्कृतिः
आर्याणां च महो दिव्यं स्थले तस्मिन् बभौ पुनः ॥९॥
महर्षीणां तपोभूमेर्जातं साक्षाच्च दर्शनम्
निन्दिता पापिनी वृत्ति र्धार्मिकी च समादृता ॥१०॥

यज्ञधूमैः पुनः सर्वम् संव्याप्तम्परितो नभः
देवाः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः सर्वे लोकाश्च संस्कृताः ॥११॥
सदाचार - सदाधार - ज्ञान - तेजो - विभासुरैः
प्रख्यातैश्च बुधैः पूर्णो साक्षात्कृतपरात्परैः ॥१२॥

गंगा तरंगसंगीते वेदध्वनिनिनादिते
घृतेन पयसा तृप्ते हविर्गन्धैः सुगन्धिते ॥१३॥
नानाखगमृगाकीर्णे नानारामैर्विभूषिते
घनैर्वनैः समाच्छन्ने पर्वतैः परिवेष्टिते ॥१४॥
आर्षे कुले सरित्कूले महाविद्यालये पुनः
पुण्ये कनखले भव्ये नव्ये गुरुकुले तथा ॥१५॥
विदुषां ज्ञानतीर्थानां श्रेणयस्ता विरेजिरे
ब्रह्मलोकम् परित्यज्य सस्नौ यत्र सरस्वती ॥१६॥
त्रिपुर्याः कोऽपि कालोऽयं शिलातारुण्यसूचकः
ननृतु यत्र गंगायाः स्तरङ्गैर्नानवीचयः ॥१७॥
नान्या गिरिवरास्तेषु नानाशास्त्रधुरंधराः
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्षं दिव्यमूर्तयः ॥१८॥
दृष्टिर्नव्या प्रदत्ता यैः दर्शनालोकहेतवे
रक्षार्थं संस्कृतेर्नित्यं कटिबद्धाश्च ये सदा ॥१९॥
साहित्यदर्पणादर्शाः शालग्राममहोदयाः
विद्वद्वरेषु विख्याताः टीकया विमलाख्यया ॥२०॥
प्रसिद्धा अद्य नेतारो विद्वद्गोष्ठी - विशारदाः
तत्रैवासन् तदा तेषु श्री कालेलकरा अपि ॥२१॥
सिद्धा व्याकृतिसंसारे नान्या लक्ष्मणशास्त्रिणः
वेदज्ञाः पन्तवर्याश्च दुर्गादत्तमहोदयाः ॥२२॥
कापिलैः पुरुषैस्तुल्या बलरामा उदासिनः
ज्ञानदीप्ता अभासन्त प्रशान्ते गुरुमण्डले ॥२३॥
वसुर्वालाङ्कुरे तद्वद् दर्शनानन्दमानिनः
तेजस्विनो महात्मानः शुद्ध - बोधाश्च योगिनः ॥२४॥
स्वाध्यायामृतपानाय यावज्जीवं धृतव्रताः
वेदवेदांगतत्त्वज्ञा नरदेवाश्च शास्त्रिणः ॥२५॥
साहित्यारण्य - कुञ्जेषु स्वैरं गर्जनतत्पराः
समालोचक - पञ्चास्याः पद्मसिंहमहोदयाः ॥२६॥

विज्ञा गुरुकुलेऽप्यासन् सर्वशास्त्रदिवाकराः
काशीनाथा महाभागा विद्वत्पूज्याः सतांमताः ॥२७॥
श्रद्धानन्देति च ख्याता मुंसीराममहोदयाः
सद्धर्महुतसर्वस्वा निर्भीका ज्ञानदीपकाः ॥२८॥
विद्यालङ्कारसम्पन्ना इन्द्रप्रभृतयो वुधाः
लेखका वाग्मिनो नाना — नवान्वेषणतत्पराः ॥२९॥
देवादेवंम्विधा दिव्याः छात्रा अपि तदाऽभवन्
उज्ज्वलानीव रत्नानि द्योतन्ते ये पुरे पुरे ॥३०॥
अद्याप्याशास्यमानैव चर्चा चेत् कापि संसृतौ
श्रूयते सुरभारत्याः तेषामेव हि तत्फलम् ॥३१॥
पूज्या गुरुकुलाचार्या वृन्दावन — विहारिणः
द्विजेन्द्रा मयराष्ट्रस्थाः शास्त्रालोक — विभासुराः ॥३२॥
सांख्यसत्त्वप्रकाशेन तमोविध्वंसने रताः
उदयवीर - सन्नाम्ना राजमानाः सभास्थले ॥३३॥
निमज्ज्योन्मज्ज्य शास्त्राब्धौ सन्ततं यः प्रहृष्यति
प्रसन्नवदनो वाग्मी दर्शनेन सुदर्शनः ॥३४॥
श्री परमेश्वरानन्दः - उपाध्यायो महान् महान्
षडम्बु कुरुते यस्य पश्चाम्बु शिष्यवाहिनी ॥३५॥
लीलाधरो महाभागो नानाशास्त्र—विचक्षणः
कर्मठो ध्यान - संलीनो धर्म - व्याख्यान - भास्करः ॥३६॥
मनस्वी परमानन्दः सत्कवीनां विनोदभाक्
माधवो रामदत्तश्च प्रसिद्धौ काव्यसंसृतौ ॥३७॥
नित्यं शास्त्ररसे मग्ना लेखकाः प्रेमवल्लभाः
सर्वज्ञा इन्द्रदेवाश्च साहित्यामृतवर्षकाः ॥३८॥
सर्वैरेभिर्महाभागै रन्यैश्च नरपुंगवैः
तत्तद्देशसमायातै नित्यं विद्वद्भिराद्दते ॥३९॥
प्राचीनेऽपि नवीनानां भक्तिस्तस्मिन् वलादभूत्
पूजार्हो लभते पूजां यत्र कुत्रापि संविशन् ॥४०॥

नित्यं शास्त्ररसं नव्यं वाणी तस्य ववर्ष ह
यं निपीयाप्यलं विद्वान् पातुमैच्छत् पुनः पुनः ॥४१॥
रसस्य तस्य लोभेन सारस्वततटाश्रिता
मुहुः सम्प्रार्थ्य निन्युस्तं महामान्यं स्थले स्वके ॥४२॥
कुरुक्षेत्रे महाक्षेत्रे शौर्यज्ञानसमुज्ज्वले
धर्मार्थोत्सृष्टवीरासृग् - रक्तपङ्कज — संकुले ॥४३॥
धर्मराज्याय वीराणां यत्र हुत्वाप्यसून् सताम्
लोकस्थितावधर्मस्य प्रसारोऽद्यापि नो हतः ॥४४॥
पुराऽस्मिन् भ्रातृ - संघर्षे कुलमेक मनीनशत्
साम्प्रतं निखिलं विश्वं स्वनाशे दृश्यते रतम् ॥४५॥
तस्मिन् किन्तु समुदभूतं गीतं तन्महदद्भुतम्
लघ्वीमपि तनुं बिभ्रद् नरो यस्मादभूद् विराट् ॥४६॥
प्रबुद्धा यस्य गानेन मुक्ता सर्वापि संमृतिः
अज्ञानध्वान्तसंरुद्धो ज्ञानमार्गश्च शोधितः ॥४७॥
अच्छेद्यत्वमभेद्यत्वं यतो मर्त्योऽपि विन्दति
ध्रुवां कीर्तिं विभूतिञ्च जिगीषुरधिगच्छति ॥४८॥
शाश्वतो यत्र सन्देशस्त्रिकाले चाव्यया मतिः
गति र्यत्रच सर्वापि स्वलक्ष्याधायिनी सदा ॥४९॥
यत्रास्ते सर्वधर्माणां दर्शनानाञ्च पूर्णता
नवोत्साहो नवा स्फूर्ति र्जीवनञ्च पदेपदे ॥५०॥
यत्र चानुपमा काचिद् वहति त्रितटा नदी*
निमज्ज्यैव नरो यस्यां संसाराब्धिं तितीर्षति ॥५१॥
तीर्थे यत्र च साम्राज्ये श्री हर्षस्य यशस्विनः
युगपद् भासिनी विश्वं वाणी बाणस्य गुञ्जिता ॥५२॥
यत्र सर्वान्तकृन् - कालश्चार्याणां भाग्यमग्रसत्
कृतो येनोरुभंगेन भंगो राष्ट्रकटेरपि ॥५३॥
तस्मिन्नेवेतिवृत्तस्य स्मारके भारताङ्गणे
भारतादखिलाद् विज्ञाः ब्राह्मणा धर्ममूर्तयः ॥५४॥

---

* ज्ञानकर्मोपासनातटत्रयान्विता ।

नव्याः प्राच्याश्च संभूता विद्यावन्तो यशस्विनः
ब्रह्मतेजोभिरादीप्ताः प्रातः पूज्यास्तपस्विनः ॥५५॥

विद्याकोषस्य सम्वृद्ध्यै श्रेयसेऽभ्युदयाय च
समुद्धाराय चातीत – गौरवास्पदपद्धतेः ॥५६॥

तत्रासीत् स्वागताध्यक्षः सर्वशास्त्रशिरोमणिः
प्रख्यातो धीरधौरेयः साक्षात् श्रीगरुड्ध्वजः ॥५७॥

प्रधानासनदानेन सभ्यैरेभिः कृतादरः
शंकरं हृदि निध्याय विधाय द्विजवन्दनाम् ॥५८॥

स्थापयन् श्रौतसिद्धान्तं पंथानं दर्शयन् सताम्
चूर्णयन् कैतवीं नीतिं भ्रान्तिमुत्सारयन् नृणाम् ॥५९॥

वर्णाश्रमस्य धर्मस्य रहस्यं चानुवर्णयन्
सञ्चारयन् नवोत्साहं पथभ्रष्टान् नयन् पथि ॥६०॥

जातिम्वा सम्प्रदायम्वा नैकमुद्दिश्य केवलम्
उदारां वाचमाचख्यौ रक्षन् विश्वहितां दृशम् ॥६१॥

सदसि तद् गदितं वचनामृतम्
सहृदयै रवधाय निपीयताम् ।
तदनुदर्शित – भारत – संस्कृते
प्रतिजनं रस एष च सिच्यताम् ॥६२॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि विरचिते हरनामामृते कुरुक्षेत्राद्भुत रहस्य प्रकाशकः परिसमाप्तो द्वादशः सर्गः



हरनामामृते त्रयोदशः सर्गः

(अध्यक्षीयं भाषणम्, वैज्ञानिकी वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणत्वम्,
विश्व-कल्याण-भावना)

विश्वंभरातोऽखिल विश्वदर्शिनः
विश्वात्मसंतर्पण दत्तचेतसः ।
संसारसिंधोस्तरणादि - सेतवो
पूज्या नतोऽहं चरणेषु वः सदा ॥१॥

नमोऽस्तु वो भूतलभूषणेभ्यो नमोऽस्तु वो भारतभूसुरेभ्यः
नमोऽस्तु वो न्यक्कृतदुष्कृतेभ्यो नमोऽस्तु वः संस्कृतजीवनेभ्यः ॥२॥
कथं हि कश्चिद्भवतां सभायाः सभापतिः स्यान्ननु मादृशोऽपि
दिवाकराणामुदयाद्रिशृंगे खद्योतपोतः किमुपेतु कान्तिम् ॥३॥
प्रभाकरायापि समर्प्यतेचेद् पूजाविधाने यदि कोऽपि दीपः
नाहं हि सोऽप्यस्मि चलप्रकाशः मन्दोऽस्मि तैस्तै र्जगतीप्रवातैः ॥४॥
क्षम्या हि तस्माद् विवशा स्थितिर्मे क्षमाधरै र्विप्रवरैः सुधीरैः
अभीप्सितार्थ - स्थिरसिद्धि - सिद्ध्यै सर्वत्र संदत्तनिजावलम्बैः ॥५॥
किं नामाभिनवं किञ्चिद् वच्मि तेषाञ्च सम्मुखे
लोकेऽस्मिन् ये स्वयंसिद्धा ज्ञानविज्ञानभासकाः ॥६॥
अशान्ता जगती शान्ता कृता शान्तिमयीच यैः
त्रिविधं च जगद्दुःखं क्षणेनैवापसारितम् ॥७॥
सिद्धान्ताश्चापरे ये ये राजनीतिश्च निर्मला
धर्मशास्त्रं च यत्पुण्यं सर्वं तद्वस्तपसां फलम् ॥८॥
आलोकितं जगत्सर्वं ब्राह्मणै र्ब्रह्मदर्शिभिः
बाह्यमाभ्यन्तरं सर्वं तमश्चास्यापसरितम् ॥९॥
ब्राह्मणैः स्वार्थसिद्ध्यर्थं ते ते धर्माः प्रचारिताः
सासूयं केऽपि ये नित्यं ब्रुवन्त्येवं ब्रुवन्तु ते ॥१०॥
निन्दन्तु यदि निन्दन्ति विचिकित्सापरायणाः
सत्यं सनातनं नित्यं नह्यनित्यं भवेत् क्वचित् ॥११॥

सत्यं न स्वप्रकाशाय जातु हेतुमपेक्षते
स्वयं चन्द्रस्तमोहन्ति स्वयं भानुश्च भासते ॥१२॥
अनार्या अपि चेदार्य – शूद्रसज्जातिमाश्रिताः
विप्राणामेव सा शक्तिर्विप्राणामेव सा कृपा ॥१३॥
फलैर्मूलैश्चजीवद्भिः क्वचिदेकान्त-कानने
कस्यापि क्वचिदेभिश्चेत् हृतं किञ्चित् हृतं हि तत् ॥१४॥
कृषकेभ्योऽखिला धात्री शिल्पिभ्यः शिल्पसंहतिः
क्षत्रियेभ्योऽखिलं राज्यं विप्रैः सर्वं समर्पितम् ॥१५॥
धनं धान्यं धरा सर्वा यदन्यद् वृत्तिसाधनम्
दत्तं तत्सर्वमन्येभ्यः स्वयं भिक्षाश्रितैर्द्विजैः ॥१६॥
छद्मना किन्तु पाश्चात्यै र्नीतिरेषोररीकृता
'ब्राह्मणा भारतप्राणा दूषणीया यथातथा ॥१७॥
ब्राह्मणे निन्दिते जाते स्वयं निन्द्येत संस्कृतिः
कारणे विकृते जाते कार्यं विक्रियते स्वयम् ॥१८॥
ब्राह्मणै रक्ष्यते नित्यं ब्राह्मणस्वार्थसाधिनी
वर्णाश्रमव्यवस्थेयम्'' वदन्त्येतच्छ छलेन ते ॥१९॥
किन्तु नाविष्कृता विप्रै रियं स्वाभाविकी स्थितिः
धर्मार्थकाममोक्षाणां शाश्वती कापि साधिका ॥२०॥
सामान्यश्च विशेषश्च द्वौ पदार्थौ सनातनौ
साम्ये सत्यपि सर्वत्र विशेषोऽपि सनातनः ॥२१॥
न च कार्याणि सर्वेषां तुल्यान्येव हिताय नः
भिन्नभिन्नार्थ–सम्पत्त्यै वैशिष्ट्यं हि करणे करणे ॥२२॥
कैश्चिच्चेद् ब्राह्मणैः स्थेयं ज्ञानविज्ञानरक्षकैः
राष्ट्ररक्षापरैः कैश्चित् क्षत्रियैरेव सर्वदा ॥२३॥
सांकर्ये वर्णवृत्तीनामेकत्रापि स्थिते क्वचित्
कर्मक्षेत्रेऽपि सांकर्यं भवेन्नित्यं भयावहम् ॥२४॥
क्षत्रियो युद्धभूमौ चेत् ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रयेत
त्यक्तशस्त्रो विरक्तोऽयं राष्ट्रपाताय जायते ॥२५॥

सर्वैस्तस्मादनुष्ठेयं स्वस्वकर्म दृढात्मभिः
स्वधर्मः श्रेयसे नित्यं परधर्मो भयावहः ।।२६।।

शूद्रा द्विजत्वकामाश्चेत् तेषामेषा मतिः शुभा
अखिलैरेव सम्पोष्यो लोकेऽस्मिन् सात्त्विको गुणः ।।२७।।

सदाचारपरैः स्थेयं सर्वैस्तैः किन्तु सन्ततम्
विना सत्त्वस्य संशुद्धिम् द्विजत्वं नैव वर्धते ।।२८।।

दुर्वृत्ता नैव जायन्ते ब्राह्मणा अपि ब्राह्मणाः
शान्तो दान्तः क्षमाशीलो ब्राह्मण -- इति पूज्यते ।।२९।।

स्वाभाविकी भवे भक्तिः सत्यरक्षापरा मतिः
दिव्या सारस्वती शक्तिः ब्राह्मणे समपेक्ष्यते ।।३०।।

निर्भीतिः सत्यवक्तृत्वं सभायां स्पष्टवादिता
सर्वेषां यत्र विश्वासः ब्राह्मणः स समर्च्यते ।।३१।।

वेदमूर्तिरयं विप्रः प्रकाशितपरावरः
तस्मिन् स्वस्थे जगत्स्वस्थमस्वस्थेऽस्वस्थमेव तत् ।।३२।।

न क्रोधाय न लोभाय स्थानं देयं द्विजात्मना
कश्चित्तेन न च स्थेयं वृत्त्यै परवशात्मना ।।३३।।

विप्रैरद्य परित्यक्ता गुणाः स्वाभाविका निजाः
परिक्लिश्यन्ति तस्मात्ते भृशं लोकश्च खिद्यते ।।३४।।

दैन्यवृद्धिकरी ह्येषा स्वात्मसत्त्व विनाशिनी
ब्राह्मणैः ज्ञानखड्गेन छेत्तव्या हीनभावना ।।३५।।

दुष्टाः सर्वेऽपि दग्धव्याः प्रदीप्तब्रह्मतेजसा
क्षन्तव्या न क्वचित् केचित् पापमार्गप्रचारकाः ।।३६।।

पुण्यावृत्तिः समुद्भाव्या दौरात्म्यक्षयकारिणी
शास्त्ररक्षा च कर्त्तव्या शिक्षा देया च शाश्वती ।।३७

गर्हितञ्चेत क्वचिद् विप्रैः कृतं वा क्रियतेऽधुना
न केनापि प्रशस्यं तत् गर्हितं गर्ह्यमेव हि ।
सर्वे देशाः स्वदेशा नः हिते लोकस्य नो हितम्
व्यापिनी नो महावृष्टिः कस्य क्षेत्रे न वर्षति ।।३८।।

कलेः कालस्य घोरस्य प्रभावो धर्मनाशकः
विश्व-दृष्टिर्विलुप्ता यत् ब्राह्मणे ब्रह्मदर्शिनि ॥३९॥

क्षुद्रा दृष्टिः सदा हेया विधेया विश्वहर्षिणी
यत्र कुत्रापि यत्सत्यं ग्राह्यं तच्च ततस्ततः ॥४०॥

सत्यं न स्वविकासार्थं जातु जातिमपेक्षते
यत्र सत्यं स्वयं तत्र जातिः स्याद् गुणशालिनी ॥४१॥

द्विजद्रुहः सन्तु सहस्रशोऽपि द्विजै र्न तेभ्यः परिशङ्कनीयम्
द्विजस्वरूपे प्रकृतिप्रशान्ते विद्वेषवह्निः स्वयमेतिशान्तिम् ॥४२॥

ओजस्विनीं तस्य निशम्य वाचम्
कर्तव्य - बोधेन विचारमग्नाः
प्रोत्साहितास्तेन विपश्चितस्ते
दीप्ता बभूवुर्निजगौरवेण ॥४३॥

स्थित्वा यथेच्छं कतिचिद्दिनानि स्नात्वा च पुण्ये सरसि प्रसन्ने
पुनर्न्यवर्तिष्ट निजे निवासे ततो मनोहारिणि सिद्धपीठे ॥४४॥

इति श्री हरनामामृते विप्रवैभवो नाम परिसमाप्तोऽयं त्रयोदशः सर्गः



हरनामामृते चतुर्दशः सर्गः

(यज्ञशाला, वैदिकी हिंसा न हिंसा, हिंसाविरोधः, स्वार्थग्रस्तः साम्प्रतिको जनः)

पदे पदे तीर्थशतैरुपेते राज्ये ततोऽथ त्रिहरेः कदाचित्
सद्भिः स नीतः त्रिहरि विशालाम् पुरीम्प्रसन्न-प्रकृति-प्रसन्नाम् ॥१॥
सुस्वागतैः पौरजनैरसंख्यै विज्ञैश्च सर्वैरभिनन्द्यमानः
भव्यामसौ कामपि यज्ञशालां ददर्श यस्यां हुतदिव्यगंधाम् ॥२॥
शास्त्रीयचर्चाञ्चितचारुभावाः तास्ताः कथा यत्र बभूवुरार्याः
नानाविधैः कर्मभिरातिथेयैः स्वाहेति मन्त्रध्वनिभिः सहैव ॥३॥
अहो बुधानां हि समागमेषु प्रतिक्षणं के न नवा विभावाः
हासेऽपि येषां रुचिरैर्विलासैः सरस्वती नृत्यति यत्रमत्ता ॥४॥
तदत्र यज्ञाङ्गबलिप्रसङ्गे चर्चाथ काचित् प्रचचाल रम्या
मान्यै वंदान्यै हरदत्तसंज्ञै विद्वत्समाजप्रथितप्रभावैः ॥५॥
आस्ते न लोको हि सदैक बुद्धि नैकश्च पक्षोऽपि बुधस्य वादे
यमेव पक्षं श्रयते हि वाग्मी सर्वात्मनाऽसौ हि तमेव पुष्येत् ॥६॥
मांसाशिनः केचन मांसभक्ष्याः सम्प्रेर्यमाणा जगतश्च गत्या
हिंसा न हिंसा यदि वैदिकी सा शास्त्रप्रमाणैरिति साधयन्ति ॥७॥
हिंसेति नाम्नापि विकम्पमानाः कृपालवः सात्त्विकवृत्ति शीलाः
परे च केचिद्धि हतिम्पशूनां वाञ्छन्ति न क्वापि विशुद्ध यज्ञे ॥८॥
स्वैरं विहङ्गा गगने चरन्तु स्वैरं कुरंगाश्च वने प्रसन्नाः
लोकेऽखिले सर्वहितेऽनुरक्ता नराश्च लोके मुदिता अदन्नाः ॥९॥
स्वभावतः कोमलवृत्तिवर्ती स्मरन्स्मृतीनां वचनं स तस्मात्
"यस्यात्ति मांसं स तमत्ति नूनं" पुपोष यज्ञे न वधं पशूनाम् ॥१०॥
स्वयुक्तिभिः शास्त्र वचोऽनुगाभिः संस्थापयंस्तत् स्वमतं स सम्यक्
स्थितिं परेषाञ्च समीक्षमाणो धीरो न केषां न मनांसि जह्रे ॥११॥
नाहं विरोधी खलु यज्ञवृद्धे यज्ञा विधेयाः सततं विधिज्ञैः
यज्ञात्मकं चक्रमिदं जगत्याः यज्ञं विना न प्रगतिं करोति ॥१२॥

संस्कारमार्यं दधती विशालं सा संस्कृति र्यज्ञमयी द्विजानाम्
सदैव रक्ष्या च सदैव मान्या त्रैलोक्यसंतृप्तिपरा स्वभावात् ॥१३॥

विधिः प्रसिद्धः प्रकृते विधाने "सर्वैर्मिथः स्व प्रगति र्विधेया"
सोमेन तृप्यन्तु सदैव देवाः पर्जन्यजन्यैश्च धरा पयोभिः ॥१४॥

मोदेत लोको घृतधूमगन्धैरध्यात्मयज्ञै र्निखिलान्तरात्मा
स्वाध्याययज्ञै र्हि महर्षिसंघः सन्मानदानैः सुधियश्च सर्वे ॥१५॥

तत्त्वं तदेतन् परमद्यलुप्तम् विध्वंसबुद्धिर्बलवत् – प्रवृत्ता
लोकै र्न चेदं बत चिन्त्यते यत् परस्य नाशेऽपि निजो विनाशः ॥१६॥

जगद् द्रुहां दुष्कृतशोधनार्थं निश्चीयतां कापि सुयोजना तत्
यज्ञे प्रधानं नहि बाह्य रूपं विज्ञै विमृश्यं खलु तस्य तत्त्वम् ॥१७॥

बलिः पशूनां न बलिर्मतो मे बलिस्तु देयो निजदोषरागैः
स्वार्थस्य होमेन परार्थसिद्धि र्विधीयते यत्र स यज्ञधर्मः ॥१८॥

प्रादुर्भवेच्चेदिह यज्ञबुद्धिः राष्ट्रं न राष्ट्रं निगलेत् कदाचित्
दहेन्न लोकं विवशं रणाग्निर्धात्रीव शान्तिश्च भवं प्रपुष्येत् ॥१९॥

सर्वश्च सर्वस्य सुखाभिनन्दी सर्वत्र सर्वाभ्युदयं विदध्यात्
गुणा यथाऽन्योऽन्यकृतोपकारा स्त्रयोऽपिसंभूय सृजन्ति सर्गम् ॥२०॥

यज्ञाय चेत्तां विदधीत हिंसां हिंसा न सा स्यादिति ये वदन्ति
मीमांसकास्ते दुरिताग्निदाहै र्मुक्ता नहिंस्यु विधिरेष नित्यः ॥२१॥

वाचस्पतेरुक्तिरियम्प्रसिद्धा पापं हि पापाय न मङ्गलाय
देवा न किं भेजुरकं कदाचित् पश्विष्टि - सम्प्राप्त - सुधांधसोऽपि ॥२२॥

हिंसा न हिंसा यदि वैदिकी सा मान्योऽपि पक्षः क्वचनैष तस्मात्
न सार्वभौमो नच सर्वमान्यः स्वार्थस्यभावेन स यज्ञ हीनः ॥२३॥

तन्मानवैरेव निजात्मतुष्ट्यै पन्था वृतोऽयं हि विभाति कश्चित्
स्वघातकं वीक्ष्य पुरः स्थितं न हृष्टः पशुः कोऽपि कदापि दृष्टः ॥२४॥

देशेष्वनेकेषु पुरा सुराणां मतापि चेत् चेयमथ प्रणाली
नेयं पुराणी नच सात्त्विकीयम् आर्यस्वभावो व्यथते हि यस्याः ॥२५॥

शास्त्रेषु पक्षा विविधा विमृष्टाः सिद्धान्त-पक्षे नहि किन्तु भेदः
भिन्नेषु पक्षेषु बुधैः समीक्ष्यः समन्वय स्तत्र भवेत् क्वचिच्चेत् ॥२६॥

विधिः क्वचिद्यः स परत्र चापि स्थितो विधिर्नैष विधिर्हि कश्चित्
देशस्य कालस्य च योग्यतायाः कपोपलेऽसौ सततं परीक्ष्यः ॥२७॥*
सामान्यधर्मं स्वविशेषधर्मौ विशेषधर्मश्च विबाधतां किम्
रुद्धेऽपि वाते क्वचनावरोधैः सदागति स्तस्यहि केन रुद्धा ॥२८॥
जैनैश्च बौद्धै र्न. समं सदाहं सर्वत्र हिंसावचनै र्विभेमि
हिंसाप्यहिंसा भवतीह काचित् न तां विना सिध्यति यत्र यात्रा ॥२९॥
रणांगणे सा निजधर्मगुप्त्यै क्वचित् कृताचेत् क्रियतां प्रकामम्
दग्धोदरस्यैव कृते कृतेयं गृहस्य कोणे न परं समर्थ्या ॥३०॥
स्वार्थी नरो नित्यमहो न कं कं स्वार्थं सृजत्यद्य नवं जगत्याम्
कां कां न चासौ श्रयते न नीतिं पुनः सदा तस्य च साधनाय ॥३१॥
हिंस्रस्य जन्तोर्न कदापि कैश्चिद् बलिश्च दत्तो विधिना स्वयज्ञे
न यज्ञबुद्धिर्नच धर्म बुद्धिः स्वभोज्य–बुद्धिस्तदिह प्रधाना ॥३२॥
सिंधावगाधेऽद्य न कापि रक्षा न चापि काचिद् गगने दविष्ठे
यतो यतो याति नृदृक् विपाक्ता ततस्ततो वर्षति वह्निराशिः ॥३३॥
के के प्रदेशाः प्रकृते सुरम्याः नोत्सादिता हन्त न कामचारैः
कलात्मकं किं न च वस्तुजातं तपः फलं ध्वस्तमहोऽद्य नीचैः ॥३४॥
विलोक्य यान् रोदिति रम्यतेयम् विभीषिका नृत्यति दत्तताला
विडम्बनेयं जनजीवनस्य काचित्प्रवृत्तिश्च चलैव धातुः ॥३५॥
वनानि कृन्तन् विहगान्पशूंश्च तन्वन् प्रजाः कीटगणानिव स्वाः
दुष्पूरणीयोदर–गर्तपूर्त्यै जनो न किं किं कुरुतेऽद्य पापम् ॥३६॥
अहो जघन्या नरसृष्टिरेषा किमद्य सर्वान् यतते विहन्तुम्
कृतार्थता यस्य सुजन्मनस्तु प्रेमात्मना भूतदयैव नान्या ॥३७॥
परस्परं भिक्षितुमुद्यतानां मूढात्मनामल्पधियां तिरश्चाम्
कथं हि षड्वर्गजितां नराणां साम्यं भवेद् ज्ञानदृशां कदाचित् ॥३८॥
पशुत्ववृद्ध्यै न मनुष्ययोनिर्यस्यां तितिक्षा च शमः प्रधानः
दूष्ये न नेत्रे निजपक्षपातैर्भागः परेषामपि रक्षणीयः ॥३९॥
दृष्टंमया ताण्डवनृत्यमेतत् स्वार्थस्य वृत्तेश्च निजांधतायाः
यज्ञेऽपि नैतत् परिदर्शनीयम् स्वभावतो विश्वजनीनसङ्गे ॥४०॥

---

* एकत्र यो विधि र्भवति स परत्रापि विधिरेव भवेत्, एवम्विधः कश्चित् विधि र्नास्ति

अपक्षपातं वचनं तदीयं श्रुत्वा समेषां हृदयान्यहृष्यन्
श्रोतुश्च भूयोऽप्यथ तद्विचारान् स्यातुं पुनस्तत्र तमन्वरुन्धन् ।।४१।।

अथ स निववृते विधाय तृप्तान्
सदसि पिपासितचेतसः समस्तान् ।
निज-वचन-सुधारसाभिषिक्तान्
रुचिरविवेचनया चमत्कृतांश्च ।।४२।।

इति श्री विद्याधर शास्त्रिरचिते हरनामामृते काव्ये परिसमाप्तोऽयं चतुर्दशः सर्गः



हरनामामृते पञ्चदशः सर्गः

(परमपावनी सुरसरित्, स्मरणीया संघयात्रा, संरक्ष्या स्वसंस्कृतिः संस्कृते संस्कृतिः शुद्धा, विकृतिः स्याद् विघातिनी, ननिन्द्या बालवृद्धयः, साभाषा सुरभारती, नवः सर्गः प्रवर्त्यताम्)

पावने जाह्नवीतीरे बुधेऽस्मिन्नित्थमास्थिते
पर्वराट् - सुकृतस्रोतो महान् कुम्भः समागतः ॥१॥
प्रसन्ना दिवि देवाश्चैतस्मिन् पर्व समागमे
न हृष्यन्तु कथं ह्यस्मिन् भुवि भारतजा जनाः ॥२॥
देशात् देशात् सुविख्याता विद्वांसो ब्रह्मदर्शिनः
कन्दराभ्यो गिरीणाञ्च महात्मानस्तपस्विनः ॥३॥
असंख्याता नरा नार्यो भक्तिश्रद्धापरिप्लुताः
उपेक्ष्य मार्गजं कष्टं के के तत्र न संगताः ॥४॥
एकमेव हि सर्वेषां येषां लक्ष्यमहो महत्
गंगास्नानं भवेत्पुण्यं आत्माभूयादकल्मषः ॥५॥
युगेभ्यो भारतेवर्षे गंगेयं सर्वपावनी
धीरा परमगंभीरा मनः केषां न कर्षति ॥६॥
गतानां वर्तमानानां भूतानां भूतिकारिणी
संसृताप्यर्णवं नित्यं संसारार्णवहारिणी ॥७॥
उपस्पृष्टा स्तुता स्तोत्रैः पुष्पमालाभिरञ्चिता
प्रदोषे प्रत्यहः प्रीता प्रतरद्दीपतारका: ॥८॥
उच्चैः क्वचिद्धसन्तीव नृत्यन्तीव क्वचिच्चला
धुन्वतीवाम्बरं याति प्रस्तरेषु स्फुरद्‌गतिः ॥९॥
कुञ्जरव्रजसञ्चारे नमद्वञ्जुलमञ्जुला
कूले सद्‌गीति मग्नाभिर्ललनाभिः समाकुला ॥१०॥
शैलकूटादवो वेगात् स्रवन्ती गुञ्जिताचला
न चित्तं हरते केषां कलैः कल कल स्वरैः ॥११॥

नित्यं संसेव्य यत्तीरं निर्निमेषा निमेषतः
असीम्नोऽपि परं पारं सुपश्यन्ति मुनीश्वराः ॥१२॥
तस्या एव शुभे तीर्थे स्थले द्वे एव यात्रिणाम्
जह्रतुर्हृदयं भूरि स्वस्वभक्तिं मनोहरे ॥१३॥
ब्रह्मकुण्डे महापुण्ये सस्नुस्ते तीर्थयात्रिणः
ययुर्वा चित्तशुद्ध्यर्थं हरनामाङ्किते स्थले ॥१४॥
यत्र संगत्य तच्छिष्यैर्गुरोः सम्मानकांक्षिभिः
प्रार्थितः संघयात्रार्थं भक्तैश्चान्यैर्मुहुर्मुहुः ॥१५॥
नानुमेने मतं तेषां वाह्याऽडम्वरलक्षणाम्
अन्तरायञ्च नित्यानामाह्निकानां स्वकर्मणाम् ॥१६॥
प्रकृत्यैव जनो लोके गुणवैशिष्ट्यमर्चति
प्रवृत्तिश्च विशिष्टानां नित्यं मानपराङ्मुखी ॥१७॥
प्रसृतां नाम लोकेऽस्मिन् स्वख्यातिं को न वाञ्छति
किन्त्वेषा लोकतत्त्वज्ञं स्वात्मारामं न कर्षति ॥१८॥
आग्रहः किन्तु शिष्याणां गरिष्ठो हि गुरोरपि
अतोऽयं वारणासीनोनीतस्तैः संघयात्रया ॥१९॥
भाष्याचार्यं तमन्वीयु गुरुगौरवसत्कृतम्
परिव्राजोऽपि सत्पूज्याः पुरस्कृत्य जनैःसह ॥२०॥
भवन्ति कारणैस्तैस्तैस्तेषां तेषामनुव्रजाः
भयात् केचिन्नरेन्द्राणां लोभाद्धनवतां परे ॥२१॥
केषाञ्चित् स्वार्थसिद्ध्यर्थं कौतुकात् क्रीड़िनामपि
पर सर्वात्मना सर्वे गुणानामेव तेऽनुगाः ॥२२॥
अहो काचिदनिर्वाच्या शिष्यश्रद्धा गुरुम्प्रति
उपहृत्यात्मं सर्वस्वं यत्रात्मासम्प्रसीदति ॥२३॥
स्वप्रभावप्रकाशिन्यो हस्त्यश्व - शिविकायुता
संघयात्रा भवन्त्येव प्रायस्तीर्थेषु पर्वसु ॥२४॥
विरला तादृशी काचित् दर्शकैः किन्तु दृश्यते
दिव्यां यां शोभयामासु वेंदाः साक्षात् समूर्तयः ॥२५॥

प्रोल्लिखन् धर्मसंस्कारान् स्वच्छमानसभित्तिषु
निवृत्तोऽसौ बुधस्तस्या यात्रायाः सत्वरं परम् ॥२६॥
अर्च्यानर्चयितुं विज्ञान् परिपत्सु समागतान्
सत्कृतो हि भवेत्स्वस्थः सत्कृत्यैव सतः परान् ॥२७॥
विदुषां संगमे तस्मिन्नपूर्वे संस्कृतात्मनि
के के न संगता विज्ञाः सर्वविद्या दिवाकराः ॥२८॥
सीतारामा महाप्राज्ञा विद्यामार्तण्डभास्वराः
व्याख्यातवेदवेदाङ्गा शास्त्रिणो लोकविश्रुताः ॥२९॥
भट्टाः श्रीमथुरानाथाः काव्यपीयूषवर्षिणः
मञ्जु — गीति — कलाकेलि — कविताकुञ्ज — केकिनः ॥३०॥
प्राच्यनव्यरहस्यानां व्याख्याता ऽथ प्रकाशकः
श्रीमान् प्राध्यापकश्रेष्ठः सूर्यनारायणः सुधीः ॥३१॥
अङ्गात् वङ्गात् कलिङ्गाच्च राजस्थानात्तथैव च
मिथिला प्रान्ततः प्राप्ता वच्चूभा च विदाम्वराः ॥३२॥
अन्ये च बहवो विज्ञा ये ये तत्र समागताः
आचरत् स्वागतं तेषां भक्त्या संस्कृत संसदि ॥३३॥
समासीनेषु सर्वेषु प्राज्ञवर्येषु मण्डपे
स्वहार्दं स्वागताध्यक्षो व्याञ्जिजद् भाष्यभास्करः ॥३४॥

※ अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन स्वागत भाषणम् ※

मान्या विद्वद्वराः पूज्या महात्मानो विचक्षणाः
अन्ये च संस्कृतात्मानः आर्यावर्त — विभूतयः ॥३५॥
कीदृशं स्वागतं कुर्वे कथम्वा क्रियतां हि तत्
विभूनां विदुषां यद्वः सर्वेषां वैभवं विभु ॥३६॥
नूनं भाग्योदयं मन्ये कञ्चनाद्य विलक्षणम्
दर्शनै र्यत्र मान्याना मन्तरात्मा प्रसीदति ॥३७॥
वय मद्य प्रवृत्ताः स्म वेदोद्धार विचारणे
संस्कृतम् संस्कृतैर्भावैः कर्तुं लोकञ्च सर्वशः ॥३८॥

स एव हि क्षणो लोके मान्या मान्यतमो मतः
यस्मिन् विगतचिन्तोऽयं जनः स्वात्मानमीक्षते ॥३९॥
शाश्वतं वेत्ति यो विद्वान् यश्चास्ते तदुपासकः
स एव पण्डितो नूनं सर्वेऽन्ये भ्रान्त — बुद्धयः ॥४०॥
विस्मृतं सर्वमेवाद्य प्राक्तनं हन्त गौरवम्
क तद् ज्ञानं च विज्ञानम् मौर्ख्ये पाण्डित्य मास्थितम् ॥४१॥
अविद्यैवाद्य सद्विद्या कुनीति र्नीतिरेव च
शिक्षालक्ष्यं गुनो वृत्ति वित्तं मानाय कल्प्यते ॥४२॥
अहो दुर्मतिरद्येयं कीदृशी जृम्भते भवे
यया रत्नानि निक्षिप्य ध्रियते काचमण्डनम् ॥४३॥
विवेको न सदाचारो लुप्ता तत्त्वविचारणा
शुष्कवादरजोव्रातै र्दूषितं लोक — लोचनम् ॥४४॥
अनाचारेण घोरेण तेजो राष्ट्रस्य नश्यति
प्रमादालस्यसंमोहै राक्रान्तश्चाभिभूयते ॥४५॥
आचारः प्रथमो धर्मः—आचारश्चार्य — संस्कृतेः
लोके संरक्ष्यते सर्वम् आचारे रक्षिते सति ॥४६॥
तस्मादद्य हरद्वारे गंगायाः पावने स्थले
संस्कार्यैव निजा शिक्षा संरक्ष्या च स्वसंस्कृतिः ॥४७॥
संस्कृते संस्कृतिः शुद्धा विकृतिः संस्कृते कुतः
सर्व – शुद्धोज्ज्वले रत्ने कुतो रेखा मलीमसी ॥४८॥
कुतो वा कल्मषं किञ्चित् गांगेये निर्मले जले
प्रकाशो न तमः नूते सुकृतं नच दुष्कृतम् ॥४९॥
एकांशोऽपि क्वचित् कश्चित् नास्ते यस्यां निरर्थकः
वाक् सेयं संस्कृता साक्षात् सर्वशुक्ला सरस्वती ॥५०॥
शब्दे या व्यापिनी शक्तिः सा, व्याप्ता संस्कृतेऽखिला
तस्या एव परिस्फोटो लोके सर्वत्र भासते ॥५१॥
नादोऽव्यक्तश्च यः कश्चित् न व्यक्तः संस्कृतैः स्वरैः
शाश्वतीं श्रुतिमापन्नः श्रूयते सन्ततं सुरैः ॥५२॥

तत्तद्रूपवती भाषा यथाद्यास्ते तथा पुरा
यावन्मुखानि तावन्तो व्याहाराः स्युः पृथक् पृथक् ॥५३॥
सिद्धः शब्दस्तु सर्वेभ्यः परमेभ्यः परः क्वचित्
स एव भासते नित्ये संस्कृते सुरसत्कृते ॥५४॥
अपभ्रंशो हि भेदानां जनकः पातको नृणाम्
साम्यमिच्छन्ति ये लोके संस्कृतं तैः प्रयुज्यताम् ॥५५॥
पृथिव्यामेव नैतेन साम्यं सम्प्राप्स्यते ततः
सहजो येन सम्बन्धः सर्वैर्लोकै र्विपश्चिताम् ॥५६॥
संसर्गान् म्लेच्छभाषाणां तैस्तैरन्यैश्च कारणैः
सर्वत्र प्राकृते लोके वर्तते वाग् – विपर्ययः ॥५७॥
सम्यक् शब्द - प्रयोगेण शब्दोऽसौ लभते बलम्
स एव जायते क्षीणो न चेत् शुद्धः प्रयुज्यते ॥५८॥
दुष्टान् शब्दान् प्रयुञ्जाना दुष्टान् लोकान् प्रकुर्वते
विशुद्धां तद् बुधा वाचं नित्यं रक्षन्ति यत्नतः ॥५९॥
जायते स्वरवैषम्याद् वैषम्यं जगति स्वतः
विशुद्धैः स्वरयोगैश्च सौम्यं साम्यं समेधते ॥६०॥
रक्षायै वेदतत्त्वानां शब्दशक्तेश्च गुप्तये
शब्दास्तन्मुनिभिर्नित्यं संस्क्रियन्ते पुनः पुनः ॥६१॥
स्वगतं सूच्यते नित्यं काकैरपि पिकैरपि
स्वरतो वर्णतो भेदे भेदः किन्तु स भीषणः ॥६२॥
वर्णा रक्ष्याः स्वरा रक्ष्या रक्ष्या सार्थकता-मतिः
जाते शब्दे हि निःसारे विकृतिः स्याद् विघातिनी ॥६३॥
क्रियन्तां यत्र तत्रापि-आदेशाः प्रत्ययास्तथा
अक्षरे मौलिके शब्दे विकृति र्न परं क्वचित् ॥६४॥
शक्तिरेषा महामाया शाश्वती शब्दरूपिणी
अस्या एव विकासो ऽयं भवे भावात्मकं हि यत् ॥६५॥
अस्या एव स्वरस्फोटे वर्णाः सर्वे स्फुटाः स्वयम्
ब्रह्मणि सर्वतत्त्वाना माभासो भासते यथा ॥६६॥

अक्षरस्य प्रपञ्चोऽयं पञ्चातीतः स एव हि
एकैकमक्षरं मन्त्रः तन्त्रसिद्धान्त – सम्मतः ॥६७॥

एकः शब्दोऽपि सुज्ञातः सुप्रयुक्तश्च सज्जनैः
कामधुग् जायते तस्मात् स्वर्गे लोकेऽपि किं भुवि ॥६८॥

सूक्ष्मं तत् शब्दशास्त्रस्य रहस्यं ज्ञातुमक्षमाः
भाषाया बाह्यरूपाणां माभासैं हृतबुद्धयः ॥६९॥

हसन्त्यद्य नवीनाश्चेद् विज्ञाः पाश्चात्यवृत्तयः
मूढात्मानो हि ते क्षम्या न निन्द्या बालवुद्धयः ॥७०॥

येषां हि यादृशी दृष्टि स्तादृशं तैं विलोक्यते
कथमन्धैः परीक्ष्येत शुक्ले कृष्णे च भिन्नता ॥७१॥

आलोकितं यदालोक्यं सर्व संस्कृत पण्डितैः
केचिद्दिवापि नेक्षन्ते भास्वांस्तत्र करोतु किम् ॥७२॥

भाषा भाषेति भाषन्ते का भाषेति न जानते
न जानन्ति तथा मूढाः कोऽस्या वक्ता च शाश्वतः ॥७३॥

सन्त्यद्यापि जना विज्ञाः कवयश्चाथ मोहकाः
किन्त्वालोकेन हीनैस्तैं नन्तिरात्मा सुलक्ष्यते ॥७४॥

पश्यद्भि र्दृश्यते नैभिः शृण्वद्भिः श्रूयते न च
जाग्रतोऽपि प्रसुप्तास्ते, पीता गीः संस्कृता न यैः ॥७५॥

तेषु तेष्वपि देशेषु दर्शनं दर्शकैः कृतम्
दृष्टं कैः किन्तु लोकेऽस्मिन् नित्यं ब्रह्म पुरः स्फुरत् ॥७६॥

कतमः स रसो लोके नास्ते यः संस्कृते क्वचित्
आविर्भूतं तिरोभूतं सर्व ब्रह्मणि जायते ॥७७॥

भाषेयं सर्वभाषाणां संस्कृतीनाञ्च भूतले
माता मान्यतमा नित्या देवलोकेऽपि पूज्यते ॥७८॥

कीदृशीयमहो विस्त्री नित्या संस्कृत भारती
यत्र संकीर्णतावृत्यै नावकाशो हि कश्चन ॥७९॥

शब्दान् सर्वान् समासेन योजयन्ती परस्परम्
तत्तद्विभक्ति - लोपेन नयत्येक – पदे ऽखिलान् ॥८०॥

"सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः
नित्येयं भावना यस्यां सा भाषा सुरभारती ॥८१॥

लोकस्य परलोकस्य द्वयोर्यत्र च रक्षणम्
यथार्थस्य चादर्शे रन्विता सुरभारती ॥८२॥

त्रिलोकव्यापिनी यस्याः संस्कृति विश्वबोधिनी
त्रैकालिकाश्च सिद्धान्ताः सा भाषा सुरभारती ॥८३॥

"सर्वेस्युः संस्कृतात्मानः सर्वे संस्कृतबुद्धयः
कण एकोऽपि लोकेऽस्मिन् नच तिष्ठेदसंस्कृतः ॥८४॥

पूज्यास्ते संस्कृतात्मानो येषामेषाहि भावना
लभन्ते स्वपदं सर्वे विशाले नभसस्तले ॥८५॥

संस्कृतनेऽपि संकोचः तुच्छा वा वृत्तिरात्मनः
असह्या दूरत स्त्याज्या क्षुद्रकामा न यद्वयम् ॥८६॥

येन केन नवेद्युक्तं नानवेनेति का कथा
प्रस्तरेणापि यत्प्रोक्तं नान्यच्चेत् नान्यमेव तत् ॥८७॥

सर्वेष्वपि पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु च
एक एव विभुर्नित्यं विद्यते च विभासते ॥८८॥

"नवीनाः खलु सन्त्येते प्राचीनाः सन्ति ते तथा
मतिरेषाल्प-बुद्धीनाम् विज्ञाः सर्वैक्यदर्शिनः ॥८९॥

कृतं साम्प्रतिकं यच्चत् क्रियते वा नवं नवम्
तस्मिन्नपि शिवांशश्चेत् स्वागतं तस्य कुर्महे ॥९०॥

यच्चिन्तयति यो वेत्ति चेष्टते यश्च सन्ततम्
स एवासीत् पुरासर्गे नव्ये चापि स एवहि ॥९१॥

शाश्वतं शैशवं यस्मिन् शाश्वतं यौवनं तथा
तत्रास्मिन् भारते देशे वृद्धा अपि सदा नवाः ॥९२॥

नह्यत्र किञ्चन प्रत्नं नूतनं वा क्वचिद् भवे
द्रष्टुरेव हि सा दृष्टि यया वैविध्यमीक्ष्यते ॥९३॥

तस्मादुन्मील्य सच्चक्षुरालोको दृश्यतां नवः
नवैर्नवै र्नवोत्साहै र्नवः सर्गः प्रवर्त्यताम् ॥९४॥

उन्निद्रतां समापन्ना साम्प्रतं नः सरस्वती
किमप्यभिनवं गीतं गास्यत्येव नवस्वरैः ॥९५॥
लोकेनापि प्रबुद्धेन ध्रुवं तच्छ्रोष्यते पुनः
प्रफुल्लाच्च मनोलोकाद् वहेन्मन्दाकिनी नवा ॥९६॥
जायते नैवमद्यैव पुराप्येवं व्यजायत
नित्या वेदमयी वाणी नित्यं व्याहरते नवम् ॥९७॥
मूकेऽस्मिन् भवकारणे प्रथमतो वाक् प्रादुरासीद्धिका
कस्याः शब्दगतेः स्वरैश्च मधुरैः मौनं जगत्या हृतम्
शब्दार्थौ च निरर्थकावनियतौ जातौ कुतः सार्थकौ
सन्तृप्ता च कया गिरा विधिसुता सारस्वतं वर्षति ॥९८॥
यस्याः शब्दनिधिः परः प्रतिनिधिस्तत्तद्युगानां महान्
खं ब्रह्मेति विदन्ति वेदमुनयो यस्याः प्रकाशे परे
या नित्या विकृतिर्न यत्र भविता भूता पुरावा क्वचित्
सा शक्तिर्हि कथं विमूढमतिभि र्मर्त्यैर्मृता मन्यते ॥९९॥
किं तद्यन्न पदे पदे सुरगिरः शब्दे विभौ भासते
नित्यो यः सततं सुधामपि हसन् भव्यार्थभावोद्गमः
आनन्दस्य रसो विलक्षणगुणो विभ्रन्महः शाश्वतम्
रम्यामुन्नयतीह कां न लहरीं नित्यं कवीनां हृदि ॥१००॥
दिव्यं संसदि संस्कृतात्ममनसां सन्देशमेवं दिशन्
संस्थाभ्यो विरतोऽपि नित्यनिरतो भाष्यावगाहेपुनः
शान्तः शुद्धमतिः परात्मनि भृशं युञ्जन्स्वकीयं मनः
एकान्ते निवसन्निनाय समयं मुक्तोऽत्र जीवन्नसौ ॥१०१॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रिरचिते हरनामामृते काव्ये परिसमाप्तोऽयं पञ्चदशः सर्गः



अथ हरनामामृते षोडशः सर्गः

(ब्रह्मलोकावाप्तिः, सुधीभिः प्रवर्तिता परम्परा, विविधा विद्वद्वरेण्याः शिष्याः, प्रकृतिः कृत्रिमायते, अनुपमा संस्कृत-संस्कृतिः)

वेत्ति ध्रुवं कः प्रथमे क्षणार्धे
परक्षणे भावि किमद्य सद्यः ।
अतर्कितं तत् श्रुतमद्य सर्वैः
जातोऽद्य मन्दो बत भाष्य-भास्वान् ॥१॥

अस्वस्थतां स्वस्थमतिः स यातः श्रुत्वेति शिष्यैस्त्वरयोपनीतैः
कृतेऽपि यत्ने बहुशो भिषग्भिः बाह्योपचारे न रुचिं दधौ सः ॥२॥
पिबन् स शास्त्रामृतमेव तेभ्यः तदेव भूयोऽपि पिपासति स्म
स्वाभाविकी यद् विदुषामनास्था विनश्वरे भौतिकदेह-धर्मे ॥३॥
ज्ञात्वागुरोस्तां चरमानभीप्सानार्पीणि वाक्यानि निशामयन्तः
समन्ततोऽमुं परिवार्य तस्थुः सर्वे सशिष्या विबुधाग्रिमार्याः ॥४॥
सन्देशदानाय मुहुर्निबद्धो दिदेश बद्धाञ्जलिभिस्तदानीम्
"द्विजैर्द्विजत्वं हि सुरक्षितव्यं सुरक्षितं तेन भवत्यशेषम् ॥५॥
उक्त्वेति वाचं विनियम्य विद्वान् मौनं ततोऽब्रह्मणि संनियुज्य
सम्पश्यतामेव च तत्र तेषाम् स ब्रह्मलोके ह्यभवद् विलीनः ॥६॥

तस्मिन् विलीनेऽपि भुवो न लीना सनातनी किन्तु गतिस्तदीया
तदात्मनोर्या सुतयो र्वहन्ती वर्मौ सुशिष्येषु नवा नवैव ॥७॥
जहौ शरीरं क्षितिनाथरुद्धम् विन्ध्यैनरुद्धाञ्च गतिं जगाम
गतोऽपि तस्मान्न गतः स विद्वान् ज्ञानात्मना जीवति यो जगत्याम् ॥८॥
विवेकधारा च तनोति येषां जगत्त्वसंस्थान् विमलान् प्रवाहान्
कथं मृतास्ते कृतिनः कृतार्था यज्जीवनाद् जीवनमेति धात्री ॥९॥

सहस्रशः पुण्यकणान् प्रसूते कश्चिन्निरुद्धापि गतिश्च येषाम्
पुष्यन्तु शाखा जगतां तरूणां शिष्य-प्ररोहाः सरसाः सदैव ॥१०॥
प्रवर्तको नैव नृपो युगानां हेतुः प्रवृत्तौ ध्रुव एव तेषाम्
यथा यथा तेन विचिन्त्यते यत् प्रवर्त्यते तत्र तथैव लोकैः ॥११॥

विवर्धमाना सततं सुधीभिः प्रवर्तिता तेन परम्परा तत्
तल्लब्धभासां विदुषां यशःसु लोके विलोक्या भुवि भासमाना ॥१२॥

वेदप्रकाशेन विभासमाने
ज्ञानेन मानेन च वर्धमाने
षट्शास्त्रनिष्णातमतावुदारे
देवीप्रसादे तनये तदीये ॥१३॥

95759

पौरैस्तथा जानपदैश्च सर्वैः सम्मानिते सम्मतिशासनाय
तत्तन्नृपाभ्यर्चितपादपद्मे तथापरैः स्नेह समुक्षिते च ॥१४॥

कलौ करालेऽप्यथ येन काले के के न देवा ननु तर्पिता न
स्वाहेति धीरध्वनिना न का वा स्थली सदा नैव कृता सघोषा ॥१५॥

धराप्रतप्ता गगनं प्रतप्तम् शुष्काश्च कण्ठाः कतिशो न सान्द्राः
मेघै र्नभोव्यापिभि रार्द्रनीलैः कृता न तृप्ता नवजीवनेन ॥१६॥

धर्मच्युता येन दृढाः स्वधर्मे कृता हतागा अपि पूरितागाः
बुभुक्षिताः स्वादुरसाभितृप्ता मूढाश्च विद्याविनयैः समेताः ॥१७॥

अपि प्रमथ्नन् सकलान्युदारो भिन्नानि शास्त्राणि मतानि चापि
सनातनीमेव सुधां हि धर्म्यां मेने स लोकाभ्युदयाय मान्याम् ॥१८॥

नित्यञ्च शास्त्रार्थपरस्तदर्थम् सद्युक्तिभिः शास्त्रवचोऽञ्चिताभिः
वादेषु तस्मात्तु विपक्षिपक्षम् हसन् स सद्यो विकलीचकार ॥१९॥

केचिद् विज्ञवराः सुनीतिनिपुणाः कालस्थिति – स्थापकाः
केचिद् ब्रह्मविचारसारनिरता ध्यानेरताः केचन ।
सत्शास्त्रामृतपानमात्ररसिकाः केचिच्च लोके सदा
अस्मिन् सर्वमिदं सुसंगतमहो गेया हि के तद् गुणाः ॥२०॥

ग्रामे ग्रामे विमलमनसो यस्य शिष्याः प्रशिष्याः
धर्मश्रद्धाः परमसुखिनः कर्मकाण्डप्रवीणाः
दैवज्ञाने प्रथितयशसः पाणिनीये च पूर्णा
आयुर्वेदे विहितगतयो लोकयात्रां चरन्ति ॥२१॥

धीरो भिषक् कर्मणि लब्ध कीर्तिः
तस्यापरोऽभू न्मदन स्तनूजः

यः कर्मनिष्ठो गृहनीतिदक्षः
स्वबन्धु — साहाय्यपरः रुदासीत् ॥२२॥
श्रद्धान्वितो धर्मरतश्च नित्यं नित्यश्च शर्वार्चनदत्तचित्तः
सदाशयो यः सुहृदां समाजे निनाय नैजं समयं सुखेन ॥२३॥
विद्यादानैर्भुवि परितता येन शिक्षाप्रणाली
शास्त्रज्ञानामृतरसमयी भारतीया विशुद्धा ।
विद्वद्वन्द्यो विमलहृदयः शुद्धबोधाभिधोऽसौ
भाष्याचार्यान्निजगुरुवरात् लब्धबोधो बभासे ॥२४॥
रामानन्दा बुधवरनुता शब्दशास्त्र — प्रवीणाः
शेखावाट्यां प्रति — जनमता धर्मतत्त्व — प्रकाशाः ।
प्रज्ञादीप्तैः स्वगतनयनैः प्रेक्षका विश्वभासाम्
विज्ञाः शिष्याः विमलचरिता स्तेनिरे तस्य कीर्तिम् ॥२५॥
वाग्मी नेता प्रथितविभवो रामदुर्गाधिवासी
वर्धाक्षेत्रे कलितसुयशा ज्ञान — विज्ञानभासा ।
वेदाचार्योऽधिगत — सुरभिः — पत्रसम्पादकत्वे
आसीन्मान्यः प्रकृतिसुभगो बालचन्द्रः प्रसिद्धः ॥२६॥
शास्त्रं सुदुर्बोधमभूत् सुबोधं स्वतो यदग्रे सुसमीक्षितं सत्
श्रीदत्त शास्त्री महनीयमूर्ति गुरुर्गुरूणां स सुगेयकीर्तिः ॥२७॥
विपक्षपक्षविच्छेत्ता प्रतिवादिभयंकरः
शिवनारायणः श्रीमान् नानाशास्त्र — विचक्षणः ॥२८॥
प्राप्तास्तनुं धर्मइवापरोक्षां विराजमाना द्विजगौरवेण
महाप्रभावा गुरुभक्तिभावा महर्षिकल्पा जयदेवमिश्राः ॥२९॥
जामदग्न्यस्य सद्भक्ता नित्यं तद्रूपधारिणः
ररक्षु द्विज सम्मानं शान्त्या शक्त्या च सन्ततम् ॥३०॥
विद्यालयानाञ्च महासभानां संस्थापका व्यासवरा वरेण्याः
गीर्वाणवाणी हृदयैकनाथः गणेशदत्ताः कवयो विशालाः ॥३१॥
सदार्य – संस्कार-कृतप्रसारा वेदान्तनिष्ठाः सततम् प्रसन्नाः
प्राचीनभावा अपि नव्य भावाः भव्या कन्हैयान्वित लालवर्याः ॥३२॥
शब्दात्मनिष्ठो बहुभिर्वदान्यै र्मान्यैर्बुधैः सम्विहितप्रतिष्ठः
नित्यं समालोचनदत्तचित्तः श्री रामचन्द्रोऽलवरप्रकाशी ॥३३॥

छात्रावासो — निजगुरुयशः संस्मृतौ येन भव्यः
विद्यार्थिभ्यो निरतिसदनं स्थापितो भक्तिभाजा ।
शिक्षादीक्षा प्रवणसुमतिः सोऽग्निहोत्री प्रसिद्धः
नित्यं नाना हवननिरतः पूर्णमल्लो वरिष्ठः ॥३४॥
सौम्यो वदान्यो मधुरात्ममूर्तिर्विपक्षपक्षस्य जवेन भेत्ता
श्री वेगराजो यतिमन्दिरस्थः साहित्यसंसारविहारशीलः ॥३५॥
कालेऽस्मिन् विकृते कृतेऽपि कलिना ह्यार्यस्थितेः स्थापकः
श्रीमानार्यमुनि र्बभूव मतिमान् शास्त्रार्थशूरो महान् ।
विद्वद्भक्तिरतो विशालहृदयः सत्यार्चने संरतः
आसीद् विप्रवरः सदा स्थिरमतिः श्रीजीवराजस्तथा ॥३६॥
राजारामो गुणगणनिधि रामनीतिप्रकाशी
दुर्गाभक्तः स्तवननिरतो नाटकानां प्रयोक्ता ।
मान्यो धीमान् गुरुजन — शुभाकांक्षिणामग्रगण्यः
योगाभ्यासी जलधरगति र्ज्ञानयुक्तो विवेकी ॥३७॥
अपूर्वसिद्धान्तगवेषणार्थी निरन्तरं वेदविमर्श — मग्नः
ज्योतिर्विदां मान्यवरो मनीषी श्रीमल्लिनाथोऽयमहानुभावः ॥३८॥
दैवविद् यमुनादत्तो मान्यो देववने महान्
लब्धनाना महीपालाभ्यर्चनः शास्त्रदर्शनः ॥३९॥
श्रीमान् धीमान् मधुरवचनैः सान्त्वयन् सर्वलोकान्
नित्यं दुर्गास्तवननिरतो धर्मशास्त्र प्रवीणः ।
वक्ता बीकानगर—जनता—सत्कृतः सौम्यमूर्तिः
विज्ञैर्वन्द्यै र्विनततनयै राद्दतो वासुदेवः ॥४०॥
विद्वद्भक्तः सहजसरसो दत्तुरामः कवीन्द्रः
पन्नालालः प्रतिपलरतो ग्रन्थसन्दोह — पाने ।
प्रह्लादोऽन्यः पठनरसिको ह्लादितात्मा महात्मा
कुम्भारामो गुरुपदरतो नैष्ठिको ब्रह्मचारी ॥४१॥
उद्दण्डानां दलननिपुणो रामदत्तो दृढाङ्गः
जीवानन्दः शिवजप — परो यज्ञहोमादिसक्तः ।
राधाकृष्णः सरसरचना सर्वसेवानुरागी
शादीरामोऽतिथि परिवृतः सन् हृषीकेशमान्यः ॥४२॥

माधुर्यमूर्तिः सततं सुधीरः वक्ता वरीयान् गुरुसेवकश्च
साहित्यसंसारविहारशीलः स्मिताभिभाषी बलदेव—शास्त्री ॥४३॥

दशाश्वमेधे निवसन् प्रसन्नोमुनिस्वरूपो जयरामदासः
प्रीतो गुरूणां गुणवर्णनेन प्रतिक्षणं शास्त्र—रसाभितृप्तः ॥४४॥

स्वविश्वासस्य रक्षायै हुतं येनाखिलं स्वकम्
सोऽयं विश्वम्भरोनाथः कुर्विलावो द्विजाग्रणिः ॥४५॥

विज्ञानशक्तिश्च शरीरशक्तिर्यस्मिन् लभेते परिपूर्णशक्तिम्
स वस्तिरामाह्तपाठशाला–प्राध्यापकः शक्तिधरः प्रसिद्धः ॥४६॥

प्रणीय यस्मादमृतं सुबोधम् सचन्द्रभानु र्भुवि राजमानः
सहैव सम्वर्षति सुप्रसन्नः सदा सुधे द्वे सुखबोधशीले ॥४७॥

भूतार्थदृश्वा भगवानदासः स्वधर्मनिष्ठः सहलाग्रगण्यः
बभूव मान्यो नगरस्य विद्वान् पुरन्दरस्यापि तथैव सद्यः ॥४८॥

सत्काव्यमाधुर्यरसानुसेवी संगीतभृङ्गो गुरु—कीर्तिगायी
स्वदेशवस्त्रावृतदिव्यमूर्तिः मान्यो जनानामनवद्यचर्यः ॥४९॥

कन्हैयालालदाधीच. शब्दशास्त्र — विचक्षणः
नित्यं पीत्वापि योऽतृप्तः सुधा भागवती पपौ ॥५०॥

वैद्यः परशुरामश्च सर्वव्याधि — विनाशकृत्
द्रष्टा परमतत्त्वाना साकृतीच निराकृतौ ॥५१॥

कर्मप्रयोक्ता चतुरः सभासु सद्धर्मगोप्ता मधुराभिभाषी
व्यासाग्रणीश्चूरुपुराधिवासी सुधीरधीरः शिवदत्तवर्यः ॥५२॥

प्रसन्नः परमगंभीरः सत्यवाक् स्थिरमानसः
सन्मान्यो ब्रजलालोऽसौ प्राज्ञो गोस्वामिनांवरः ॥५३॥

हथवा — राज्यपतिर्विज्ञो विख्यातो बुधपूजकः
नानाग्रंथप्रकाशीच काश्यां सर्वैं प्रशसितः ॥५४॥

नित्यं दीनार्तिविध्वंसी नित्यंसंस्कृति — रक्षकः
श्री गौरीशंकरो वैद्यः खुर्जामण्डल मण्डनः ॥५५॥

वार्ता सदा यस्य रहस्यपूर्णा हास्यावतारः सुहृदां समाजे
श्री वैजनाथोऽथच गोगराजः सुधीः सदा धर्मविचारशीलः ॥५६॥

सम्बन्धिवर्या अपि तस्य सर्वे स्वस्वप्रदेश-प्रतिभूप्रतिष्ठाः
सदा सदाचारपरा वरिष्ठाः बोधेन मानेन च ये गरिष्ठाः ॥५७॥

युक्तप्रान्ते विदितविभवः सर्वशास्त्राब्धिपोतः
राज्ञां नेता प्रवचनपटुः श्रीगणेशस्य लालः ।
बाबूलालः प्रथितमहिमा शिष्यसंघैर्विशालैः
पुत्रैः पौत्रैरविगतगुणैः ख्यातकीर्तिः सुवैद्यः ॥५८॥

बल्लीरामः प्रतिजनहिते नित्यमासक्तचेताः
गांगेये यः प्रथितसुमतिर्यामुने चापि कूले ।
व्याख्यादक्षः परमरसिको रामलीला – विलासी
मान्यो नेता द्विजजन – सभाशासको विज्ञवर्यः ॥५९॥

एते तथाऽन्ये शतशः प्रसिद्धाः सहस्रशश्चात्मगृहेऽपि सिद्धाः
गुरुप्रतिष्ठां परिपोषयन्तः परम्परां तस्य विवर्धयन्ति ॥६०॥

ख्यातिर्न वा ख्यातिरिहास्तु काचित् लक्ष्यं हि तेषां निजधर्मरक्षा
प्रजुष्यते संस्कृत पण्डितैस्तत् स्वसंस्कृति नित्यमतीत्य हेतुम् ॥६१॥

सा संस्कृतिः किन्तु भुवो व्रजन्ती संदृश्यते सम्प्रति भारतीया
प्रत्यर्थिनी कापि नवीन धारा समुच्छ्वलन्तीव विलोक्यते च ॥६२॥

सात्विकं जीवनं लुप्तं लुप्ता धर्मस्य सा गतिः
कृत्रिमेऽस्मिन् युगे कृत्स्ना प्रकृतिः कृत्रिमायते ॥६३॥
क्षणिकं ज्ञानविज्ञानं क्षणिकं स्नेहदर्शनम्
सर्वेषु क्षणिकं सर्वं शाश्वतं क्षणिकायते ॥६४॥

नव्यं किमेतत् किमुयच्च जीर्णम् किम्वा नवं यत्तु पुनर्विशीर्णम्
गति विचित्रा जगतो गतीनाम् ज्ञेया न केनापि जनेन जीर्णा ॥६५॥
स्नेहं न गेहं नहि वापि मोहम् कस्यापि संरक्षति लोकवृत्तिः
सदैव सा याति निगूढतत्त्वा निगूढतत्त्वैव विकासमेति ॥६६॥

गतागतैस्तैः समयप्रवाहैःक्षम्यन्ति नैते सुधियस्तु सुधियस्तु किन्तु
लक्ष्यं ध्रुवं स्वं नियतात्मवृत्त्या समेत्य पारञ्च परं प्रयान्ति ॥६७॥

तेषां हि सृष्टिरिह सानुपमैव सृष्टिः
काचित् परैव रजसोऽथ च संस्कृतिः सा

नित्यं स्थिता अपि भवे न भवे स्थितास्ते
रुन्धन्ति यान्न विषयाः क्वचिदेकदेशे ॥६८॥
यः कोऽपि तत् हृदयहारि सरो रिरंसुः
आयातु सोऽत्र सुखागमिरामतीरम् ।
सिञ्चन्ति यत्र मुनयः करुणाकणैः स्वैः
स्नेह – द्रवार्द्रसलिलै जगतीं समस्ताम् ॥६९॥
लोके सदा भवतु संस्कृत जीवनं नः
श्रद्धानयं श्रुतिपरञ्च तपोऽभिपूतम् ।
निष्कामकर्मरतिभिः सकलार्थसिद्धिः
विश्वात्मतुष्टिरथ यत्र पदे पदे स्यात् ॥७०॥
तादृक् जनोऽथ नहि यातु वृथात्र कश्चिद्
प्रेमप्रवाह-भरितात् हृदयात्तु यस्मिन्
न प्रोञ्छलन्तु सततं करुणैकसाराः
विश्वात्मभाव — परिकीर्ण — परोपकाराः ॥७१॥
दिव्येयं संस्कृतावाणी दिव्य संस्कार संस्कृता
साक्षात् सारस्वती शक्तिः रक्षेत् सर्वान् सुसंस्कृतान् ॥७२॥
श्रीकालिदासभवभूति — रसाभिषिक्ता
सम्पोषिता कविवरै नवमंगलाय ।
श्री मालवीयतिलकादि — महानुभावैः
संसेविता नवयुगे च नवोदयाय ॥७३॥
भागीरथी – कनखले रमणीय — तीरे
संजातया प्रकटितो द्रुपदस्य पुत्र्या ।
देवीप्रसादतनयो विदुषाम् पदाब्जे
विद्याधरोऽर्पयति काव्यकृतिं किमनाम् ॥७४॥

इति विद्यावाचस्पति-श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रितनय विद्याधर शास्त्रि-विरचिते संस्कृत जीवने हरनामामृते संस्कृत संस्कृति-क्षेत्रमुद्भासयतां विद्वद्वरेण्यानां सत्स्मृति-समलंकृतः परिसमाप्तोऽयं षोडशः सर्गः

ॐ शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ॐ



॥ श्रीः ॥

नवसर्गात्मकम्

अथ विश्वमानवीयं काव्यम्

विस्मृत्य विश्वगतमात्म—विभुस्वरूपम्
लोके क्वचिन्मनुसुतो न भवेत् लघीयान्
इत्येव किंचिदिह यद् विनिवेदितं तत्
मान्यै बुधैः शुभदृशा सुसमीक्षणीयम् ।

॥ श्रीः ॥

अथ विश्वमानवीये काव्ये प्रथमः सर्गः

(विश्वव्यापिनी दृष्टिः, नवीनं यत् पुराणं तत् पुराणं च पुनर्नवम्, सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिताः, नवीनं जीवनं नित्यम्, प्रसुप्ता साम्प्रतं मतिः)

यस्यलीलायितं सर्वं सर्वं यस्मिंश्च भासते
विशुद्धं ज्ञानमेकं तद् विज्ञानं सत्तनोतु मे ॥१॥
व्यापकं तन्महो दिव्यं सच्चिदानन्द सुन्दरम्
अज्ञान – तमसाच्छन्नं जायतां नो नहि क्वचित् ॥२॥
व्यापिनी च शुभा दृष्टि वर्ततां नो निरन्तरम्
प्रेक्ष्यतां न यया कश्चिद् भेदोऽभेदे वृथा क्वचित् ॥३॥
नच भेदो यया मिथ्या विधीयेत क्षणे क्षणे
काले नित्य – प्रवाहेऽस्मिन् नूतनेऽथ पुरातने ॥४॥
क्षणः कोऽसौ नवः कश्चित् पुराणो यो न जायते
पुराणो वा क्षणः कोऽसौ नवो यो न पुन र्भवेत् ॥५॥
नवीनं यन् पुराणं तत् पुराणं च पुन र्नवम्
शाश्वती संसृतावेषा प्रक्रिया प्रकृतेः प्रिया ॥६॥
निरुक्तस्य निरुक्त्याऽयम् पुराणोऽभूत् पुरा नवः
नवो भाविनि कालेऽपि ध्रुवमेष पुन र्भवेत् ॥७॥
विलीनं चेद्दिनं रात्रौ रात्रिश्चाप्यन्हि लीयताम्
फले वीजं समुद्भूतम् वीजेभ्यश्च फलम्पुनः ॥८॥
विश्वरूपे हि लोकेतद् विश्वबुद्धि र्हितावहा
विधेया खण्डिता नेयं स्वार्थदृष्ट्या हि कर्हिचित् ॥९॥
परार्थे निहितः स्वार्थः प्रेक्ष्यतां सूक्ष्मया दृशा
परेषां साधिते साध्ये स्वसाध्यं साध्यते स्वतः ॥१०॥
मानवानां समाजेऽस्मिन् कृतघ्ना नैव मानवाः
साध्यते कर्म येषां तै स्तेषां तत् तैः प्रसाध्यते ॥११॥
स्वसाध्यस्यैव सिद्धयर्थं दुरीप्सा यत्र चैधते
अन्योऽन्यापकृति र्नूनं सद्यस्तत्र प्रवर्तते ॥१२॥

परेषां कार्य – संसिद्धौ सौख्यं यच्चानुभूयते
नह्यस्यांशोऽपि संवेद्यः केवलं स्वार्थसाधकैः ॥१३॥

स्वसाध्यानां हि सत्सिद्धयै सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिता
ऋते पंचीकृतं तत्त्वम् सर्वभूता निरर्थकाः ॥१४॥

क वा कश्चित् कणो लोके क्षणो वा भुवनेऽखिले
स्वतन्त्रा ह्येव काचित् स्यात् गतिर्यस्याः सनातनी ॥१५॥

स्थिता यावद् गुणा भिन्ना सर्गेऽस्मिन् त्रिगुणात्मनि
प्रसुप्ता प्रकृतिस्तावत् हन्त वन्ध्यैव तिष्ठति ॥१६॥

मानवीया हि संघर्षाः निखिलाः स्वार्थमूलकाः
शोधिता स्वार्थलिप्सा चेत् स्वयं शान्ता भवन्ति ते ॥१७॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागदानादयस्तथा
सर्वेऽप्येते हि धर्माङ्गाः सर्वेषां हित – साधकाः ॥१८॥

व्यापके स्नेह – संसारे सर्वेषां हित – चिन्तके
विश्व – मैत्री हि सर्वेभ्यो वर्धते स्वयमात्मनि ॥१९॥

स्वार्थसिद्धौ रतं नित्यम् परार्थस्य च घातकम्
कलिप्रवर्तकं भावम् प्रवदन्ति विपश्चितः ॥२०॥

यस्मिन् भावे च सौहार्द सर्वेभ्यः परिपुष्यते
सद्भिस्तस्यैव सद्वृद्ध्यै लोके नित्यम्प्रयत्यते ॥२१॥

भावैः संकुचितैर्ग्रस्ते भौतिकेऽस्मिन् युगे बुधैः
व्यापकायात्मबोधाय प्रयत्यं तत्समाहितैः ॥२२॥

कलौ काले न शक्योऽयं नैवं विज्ञैर्विचिन्त्यते
युगानां जनका यत्ते न च नित्यो युगक्रमः ॥२३॥

युगानां वर्तमानोऽयं क्रमो नित्योऽथ न क्रमः
कर्मणां बाधको नायं वस्तुतः कापि वर्तते ॥२४॥

एकस्मिन्नेव कालांशे क्वचित् सत्यं क्वचित् कलिः
दृश्यते वर्तमानो यद् राजा कालस्य कारणम् ॥२५॥

नित्ये काल प्रवाहेऽस्मिन् भेदः कश्चिन्न संभवः
कलौ सत्यं कलिः सत्ये जनैरानीयते स्वयम् ॥२६॥

नैराश्येन दुराक्रान्ते नोत्साहः संस्फुरेत् क्वचित्
नैराश्यं कर्मणां शत्रुः तदेव प्राक् निरस्यताम् ॥२७॥

नरो नारायणः साक्षात् सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान्
जयो विजयश्चास्य प्रसिद्धौ पार्षदौ मतौ ॥२८॥

नित्यो दशरथश्चायं जन्मसिद्धः स्वभावतः
गति र्लोकेऽस्य कस्मिंश्चित् नास्ते प्रतिहता क्वचित् ॥२९॥

नैषा गति र्मनुष्याणां यत्ते सन्तु पराजिताः
विजयोऽभिनवः कश्चित् सन्ततं तै र्विधीयताम् ॥३०॥

इच्छा वलवती शक्ति र्विधेया सा न निर्बला
चिकीर्षा जीविता येषां सशक्ता एव ते सदा ॥३१॥

उपादानं स्वतः सर्वं निमित्तं चाखिलं स्वतः
स्वशक्त्या रहितैस्तस्मात् कथं भाव्यं मृषा जनैः ॥३२॥

मानवानामयं धर्मः प्रकृत्यैव सनातनः
नवाशाथ नवो यत्नो नवा वुद्धि र्नवो जयः ॥३३॥

नवोत्साहो नवोमार्गो नवा दृष्टि र्नवा कृतिः
नवीनं जीवनं नित्यं जना नित्यं नवा नवाः ॥३४॥

रुद्धं यत्तदनारोध्यम् अप्राप्यम्प्राप्यतां तथा
सन्ततं ज्ञेयमज्ञेयं नेह किञ्चिदसम्भवम् ॥३५॥

स्वयम्भू र्विदधे नित्यं भवे सर्वं स्वयम्भुत्वम्
मूलमस्याह "भैतत् स्याम् तस्मात् स्याम्" इति भावये ॥३६॥

चैतन्यस्य महान् पुञ्जो मानवः "स्याम्" विधायकः
तस्यैषणा न तत् काचित् निष्फला स्यात् क्षणम् क्वचित् ॥३७॥

नचेहाचेतनं किञ्चित् न वुद्धिश्चेदचेतना
संख्या चेतना तस्मात् वुद्धिरेवाखिलैः पुरा ॥३८॥

चैतन्यं शुद्धमस्याश्चेत् रक्ष्यते नित्यमाहितैः
त्रैलोक्ये नास्ति तत् किंचित् तया यन्न प्रकाश्यताम् ॥३९॥

निःसत्वा सा न कार्या तत् तामसीभिः प्रवृत्तिभिः
दिने विद्योतमानं यत् तच्चाप्यस्यै विधूमिलम् ॥४०॥

युगस्यास्य मनुष्याणां विकृतैवास्ति यन्मतिः
दृश्यते हन्त वैकल्यं जीवनेऽद्य पदे पदे ॥४१॥
मूर्छितेयं मतिर्दीना न वेत्तुं चाद्य सक्षमा
वर्तमानात् परां काञ्चिद् भूतां वा भाविनीं स्थितिम् ॥४२॥
प्रबुद्धाऽथ प्रसन्ना या स्वस्था नित्यं सुनिर्मला
आत्मनः प्रतिबिम्बोऽस्यां दर्शयेन्निखिलं स्वतः ॥४३॥
विद्वेषानल—दुर्दग्धा संकीर्णा संशयान्विता
अस्थिरा चास्थिरैर्भावैर्भीता काल्पनिकैर्भयैः ॥४४॥
चिन्ताभिः सन्ततं ग्रस्ता क्षीणा भोगैश्च भौतिकैः
निद्रया तन्द्रयाक्रान्ता प्रसुता साम्प्रतं मतिः ॥४५॥
स्वशक्तिं किन्तु वेत्तीयं सर्वोत्कृष्टां भवेऽखिले
किञ्चिन् सत्यमसत्यं वा निर्णायं नानया परम् ॥४६॥
समाक्रान्तोऽनया मत्या तामस्या क्षुद्रया जनः
क्षुद्रो जन्तु रहो जातो युगाधीनस्तथा वृथा ॥४७॥
वस्तुतोऽयं युगस्वामी दासश्चैषां न कर्हिचित्
विभुरेष महान् कश्चिद् विधाता देशकालयोः ॥४८॥
स्वशक्ति विस्मृताऽनेन व्यापिनी किन्तु साम्प्रतम्
काव्येऽस्मिन् तां समुद्धर्तुं यत्नः कश्चिन्मया कृतः ॥४९॥
कथा नेयं नवा काव्यं ममेयं काऽपि हृज्झरी
अनुगृण्हन्त्विमां विज्ञा विद्याधर कृतां कृतिम् ॥५०॥
विशेषाऽभिनवा काचित् साहित्ये चास्तु नूतने
पूर्यतां चेत्सदुद्देश्यं दोषो नान्विष्यते बुधैः ॥५१॥
अस्मान्मानवदर्शनाद् बुधवरा लोकत्रये व्यापकम्
रूपं पार्थिवमानवस्य निखिलम् पश्यन्तु विश्वात्मकम्
लोके किञ्चन तन्न यन्मनुसुतैः साध्यं नयत्नै र्भवेत
क्षुद्रैः स्वार्थरजः कणैः कलुषिता तेषां न चेत् स्यान्मतिः ॥५२॥

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि-तनय विद्याधर शास्त्रि रचिते विश्वमानवीये विश्वबुद्धि विभासकः परिसमाप्तः प्रथमः सर्गः

विश्वमानवीये द्वितीयः सर्गः

(ब्रह्मर्षिदेशः, देवीप्रकाशः, ऐश्वरं दर्शनम् लक्ष्यहीनाः शिक्षालयाः)

वन्द्यो न केषां क्षितिजन्मभाजां ब्रह्मर्षिदेशो जगती प्रसिद्धः
कश्चिन्नवो भूतलमध्यवर्ती यो ब्रह्मलोक – प्रतिमूर्तिरास्ते ॥१॥

प्रवर्तको धार्मिक – पद्धतीनां विश्वस्य केन्द्रोऽथ सुसंस्कृतीनाम्
श्रुतिस्मृतीनां कुलजन्मभूमि दुर्गश्च धर्मस्य महानजय्यः ॥२॥

यस्मिंश्च दिव्याः सरितः पवित्राः तीर्थान्यसंख्यानि पदे पदे च
तपोवनस्था मुनयश्च यस्मिन् प्राचीचरन् शाश्वतविश्वधर्मम् ॥३॥

विचारमग्नेव शनैः सरन्ती व्यक्ता क्वचिद् गुप्ततमा क्वचिच्च
सरस्वती खेलति यत्र खेलां कांचिन्नवां नित्यमहोऽद्वितीयाम् ॥४॥

स्वच्छप्रवाहा समदं नदन्ती दृषद्वती तं सरसं विधत्ते
संगम्य या सूर्यसुता – तरंगैः प्रयागराजे मिलति द्युनद्या ॥५॥

अद्यापि यस्मिंश्च सरोवराणां तीरे स्थितो नव्यविचारमग्नः
व्यासाश्रमे व्यासमुनिर्विशालो नवं हि किञ्चित् रचयन्निवास्ते ॥६॥

तत्रोद्भवानां द्विजपुङ्गवानां यज्ञाहुति – प्रीत – समस्तदेवे
गेहे स्वभावात् सुधियो विशालाः प्रादुर्बभूवु र्भवमुक्तिशीलाः ॥७॥

तेष्वेव नान्यो महनीयमूर्तिः सदार्षभा – भासित – भव्यभावः
उवास विज्ञो विमलात्मकीर्ति र्देवीप्रकाशः श्रुतिभिः समृद्धः ॥८॥

तद्दर्शनार्थं शतशो विनम्रा नराश्च नार्यः समुपागतास्तम्
विज्ञाय जिज्ञासितमात्मतुष्टा स्तत्कीर्ति—गीतानि भृशं जगुश्च ॥९॥

एवं सुखं यापयता स्वकालं तस्मिन् स्थले पुण्यफले प्रशान्ते
सहस्रशस्तेन कृताः कृतार्थाः पौरास्तथा जानपदाः स्वभक्ताः ॥१०॥

अथैकदोच्चै र्मिथ आलपन्तः केचिद्युवानः स्वविवादमग्नाः
उपेत्य तम्प्रश्नशतैर्विचित्रैः आस्कन्द्य सोत्प्रासमिदं त्वपृच्छन् ॥११॥

क ईश्वरः कुत्र च तस्य वासः फलं च धर्मस्य किमत्र लभ्यम् ?
ययोः प्रचारेण भवान् विमूढान् विधाय लोकान् लुटने प्रवृत्तः ॥१२॥

प्रश्नप्रणाल्या नवया प्रणाय स्थित्वा स तूष्णीं निजगाद धीमान्
निशामितं सम्यगहो भवद्भिर् नातः परं ज्ञेयमिहास्ति किञ्चित् ॥१३॥

नित्यो भवद्भ्यो नहि दूरवर्ती कश्चिज्जगत्यामयमीश्वरो नः
ध्यात्वा विशुद्धेन हृदावलोक्यः स चिन्मयोऽन्तर्भवतां निगूढः ॥१४॥

पुण्यानि यत् किञ्चन वर्तमानं हितं परेषां सततप्रवृत्तम्
कायस्य पूर्णं प्रकृति—प्रशस्तं तस्यैव तद्रूपमिदं भवत्सु ॥१५॥

नानात्मको भासत यः प्रकाशः सर्वत्र सर्वेषु विशुद्धभावः
उपासनीयः स न केवलान्यः श्रुते हि तं यत् तम एव सर्वम् ॥१६॥

उपास्यते यै र्न च कापि भक्तिः स्वखण्डिताहंकृतिभावभिन्ना
ज्ञातस्य नैकैस्तर्कबुद्धिभिस्तै र्नाम्यं कदाचिच्च विशुद्धकामैः ॥१७॥

तर्केण वेत्तुं गहनं रहस्यं न वेष्टनीयं च निजात्मगर्वात्
बुद्धिर्न शुद्धा भवतीह काचित् क्षणे क्षणे या परिवर्तमाना ॥१८॥

निवार्य विद्वद्वचनं प्रचारं क्षणं विचार्यापि निरुत्तरैस्तैः
शिरोविधानैर्हसितैर्न मौर्ख्ये विद्वद्वरेभ्यः पुनरेवमुक्तम् ॥१९॥

एवंविधैः केवल तर्कजालैः प्रतारणीया न मति र्जनानाम्
अन्यच्च यत्तत्परिकल्प्य दृष्टा श्रुतिस्तु तस्ते प्रहताभिगम्यात् ॥२०॥

तेषामिमामर्चन—प्रवृत्तो वृत्तिं विरुद्धामवलोक्य भूपात्
उद्विग्नचेता अधिबोद्धुमैच्छत् विकारहेतोः प्रथमं निदानम् ॥२१॥

अशिक्षिताः सन्ति न केचिदेते विद्यालयानामपि बहिष्कृताश्च
अतो न यात्येषु मतिभ्रमश्चेत् भुवः क्वचित् कश्चन हेतुरन्यः ॥२२॥

विलासयोश्चेत् सुतरां स्वतन्त्रं यथेच्छया दुर्गमहोऽस्मिन्
अभीतिभावाचरणे विकारः कदापि नायं स्वकृतं स्वभावात् ॥२३॥

दोषस्तु मूलं निहितं क्वचिद् वा शिक्षाविधेरन्तरतो हि तस्य
स एव सर्वप्रथमं गवेष्यः लक्ष्यं सदोषं हि ददाति सिद्धिम् ॥२४॥

लक्ष्यस्थितिश्चेत् कुटिला सदोषा सा नैकधा स्यात् प्रतिघातकर्त्री
वेदस्तथा वेदकमेव हन्यात् आवर्तमानः प्रतिकूलवेगः ॥२५॥

व्यापारैरनिमित्तका हि शीला परोन्नताः सुधियां वरिष्ठाः
मुहुर्मुहुर्यस्य कुतोऽप्यकस्मात् तथागतो हन्ति नितान्तमुर्वम् ॥२६॥

शिक्षाविमर्शे प्रथितात्मकीर्ति विद्वद्वरः शान्तमतिः स आसीत्
परस्परालाप – कथा – प्रसंगे यूनाम्प्रसङ्गोऽप्युदियाय मव्ये ॥२७॥

श्रुत्वा समस्यां स्वसखस्य चैनाम् प्रसन्नचित्तः प्रहसन् वभाषे
नवं विचित्रं वत भाति यत्तो पश्याम्यहं ताण्डवितं सदैतद् ॥२८॥

न साम्प्रतं किन्तु विचिन्त्यमेतद् विद्यार्थिनां चेह न कोऽपि दोषः
शिक्षालयानाम्प्रगतेः प्रकारः क्षणे क्षणे चेत्परिवर्तमानः ॥२९॥

नवे युगे भौतिकलक्ष्यमुख्ये नाध्यात्मिकी छात्रगतिः परीक्ष्या
न मानवे मानवता च मृग्या यन्त्रीकृता यस्य गतिः समस्ता ॥३०॥

नित्यं नवाविष्करणप्रसक्तै नं प्राक्तनं किचन रक्ष्यमेभिः
शिक्षापि सैवाद्रियतेऽद्य तस्मात् यया भवेद्यान्त्रिकशक्ति–वृद्धिः ॥३१॥

अर्थाश्रिता किन्तु यथा जनानां गतिः समस्तापि वताद्य जाता
अर्थविरोधे सति खण्डिताशा अतृप्तकामाः कुपिता युवानः ॥३२॥

अथाद्य भावाश्च यतो जनानां सत्वेन शून्यास्तमसाभिभूताः
विलोक्यते तैं जंगती समस्ता दुःखेन पूर्णाथ विकासशून्या ॥३३॥

पश्यामि नाट्यं सततं वतैषां विद्यालये नित्यमहं नवीने
स्वप्नं पुराणञ्च भवान् वनस्थो नाद्यापि तं विस्मरतीति चित्रम् ॥३४॥

अधीतिनामद्यतनीम् प्रवृत्तिम् तांस्तान् गुरूणां च मनोऽभिवेशान्
निशम्य धीरोऽपि स खिन्नचेताः स्वमित्रवर्यं पुनराह सौम्यः ॥३५॥

अस्मात् निकृष्टो वत चिन्तनीयः को नाम लक्ष्यस्य परोऽस्तु दोषः
आब्रह्म सर्वार्थविभासकोऽसौ कणायते येन जनोऽद्य दीनः ॥३६॥

तत्तद्विधेयस्य विशिष्टसिद्धयै पूर्त्यै च तत्तत्–स्थितिसाधनानाम्
यन्त्रस्य कीलेन समो हि कश्चित् तस्योपयोगः क्रियतेऽद्य लोके ॥३७॥

अचेतनश्चाप्यथ यन्त्रकीलो जनात् वतास्मात् गतशो वरिष्ठः
क्षुधा पिशाची नहि यस्य काचिन् प्रतिक्षणं हन्त विवर्धमाना ॥३८॥

सर्वान् प्रदेशानधिकृत्य तेभ्यो जीवान् समस्तानितरान् स्वभिन्नान्
समूलमुन्मूल्य गतो न तृप्तिं–भुवो विनाशेऽद्य जनः प्रवृत्तः ॥३९॥

वृक्षेषु नास्तेऽद्य वियच्चराणां क्षेत्रेषु केषांचन वा पशूनाम्
नाब्धौ कनिज्जलजीविनां वा वातुश्च कश्चिद् भुवि चाधिकारः ॥४०॥

गर्ह्या प्रवृत्तिर्यदि मानवानाम् नैषा निरस्ता क्रियतां हि सद्यः
नित्ये स्वभावे सुदृढा भवन्ती नेयम्पुनः स्यात् सुकरापनेतुम् ॥४१॥

न गृह्यते यावदनादिसिद्धो महर्षिनिर्देशित एव पन्थाः
तावन्न शिक्षालय–लक्ष्यसिद्धिर्भवेत् कदाचित् सुलभा स्वराष्ट्रे ॥४२॥

मिथो हि कल्याणरताः समस्ता यथापि बुद्ध्या निखिला भवेयुः
यथा च सर्वे सुखिनो जगत्यां तथैव विज्ञैरधुना प्रयत्यम् ॥४३॥

न मानवो भूतलमात्रवर्ती न चान्यजीवप्रकृतिः स हिंस्रः
नरो हि नारायण एव साक्षात् विश्वस्य वैश्वानर एष भर्ता ॥४४॥

नारायणे व्यापकता स्वसिद्धा समा च सर्वेषु निजात्म–वृत्तिः
सर्वेषु लोकेषु गतिः स्वतंत्रा मर्यादिता चात्मगतिः समस्ता ॥४५॥

मनोऽनुकूलं सृजतः स्वसर्गं न तस्य लोके क्वचनैत्यभावः
मतिश्च काचिन्नहि संशयाना स शक्तिकेन्द्रो भवति स्वभावात् ॥४६॥

एभिः समस्तैः स्वगुणैरुपेतः सृष्टो विधात्रा मनुजः स्वयम्भूः
न भिन्नमार्गे नयनीय एष धर्मो विरोधी न हिताय कश्चित् ॥४७॥

न खण्डनीयोऽस्य विमुक्तभावो लघुत्वबुद्ध्या लघुभिश्च लब्धैः
द्वेषोऽस्य लोके नहि कश्चिदेकः श्रेयं नवैकं निजकर्मसिद्धः ॥४८॥

येन प्रकारेण यथा च वृत्त्या निराक्रियेतास्य विकारमूलम्
तदेव पूर्वं सुविमर्शनीयं विधेयमन्यच्च पुनर्विधेयम् ॥४९॥

त्रयो हि सर्वत्र मताः प्रधानाः समाज–संचालन–सूत्रधाराः
गुरु र्नृपो वा जनकश्च मुख्यो धुरं समाजस्य वहन्ति नित्यम् ॥५०॥

तत्रापि मुख्यो गुरुरेव पूर्वं यतः समाजस्य स एव नेता
न तं विना कोऽपि नृपः पिता वा भवेत् कदाचित् निजकर्म योग्यः ॥५१॥

विहाय मोहं नगरस्थितेस्तत् निर्धार्य कर्तव्यपथं च सम्यक्
व्यासाश्रमोऽयं भवतापि सेव्यो राष्ट्रस्य धर्मश्च सुरक्षणीयः ॥५२॥

निमील्य नेत्रे निजधर्मनाशात् समाजनाशो विदुषा न सह्यः
समीक्ष्य निर्धारितमात्म–साध्यं तत् साधनीयं दृढनिश्चयेन ॥५३॥

वृत्तौ मतः क्षोभ करे रसारे ईर्ष्यैश्च पूर्णे नगरोपदेशे
साध्या न शिक्षालय–लक्ष्यसिद्धिः शान्तं तदर्थं स्थलमीक्षणीयम् ॥५४॥

व्यासाश्रमे तत्सुविविक्तदेशे शान्तेन वातावरणेन युक्ते
शिक्षालयोऽयं निजलक्ष्यपूर्त्यै संस्थापनामर्हति शुद्धबोधः ।।५५।।
यत् सात्विकं शांतिमयं स्वभावात् चेतः समुल्लासकरं च शुद्धम्
भूलोकसारं किमपीह तत्वं तदेव तस्मिंश्च भवेत् प्रकाश्यम् ।।५६।।
सुशिक्षकास्ते च भवन्तु तस्मिन् शिक्षैव येषां सहजः स्वधर्मः
स्वाध्यायमग्ना निजचिन्तनाद्ये स्तन्वन्तु नव्यं च मति-प्रकाशम् ।।५७।।
शिक्षार्थिनश्चात्र विनीतभावाः जिज्ञासवः सद्गुरुभक्तिभाजः
येषां विशुद्धाचरणैः प्रसन्नाः स्वयं स्वहार्दं गुरवो दिशन्तु ।।५८।।
ब्राह्मे मुहूर्ते सततम्प्रबुद्धै र्धीरे समीरे परिवाति शान्ते
स्फूर्ति र्नवीनाऽभिनवानुभूतिर्लभ्या सदा तैः प्रकृति – प्रदत्ता ।।५९।।
ज्ञेयस्य लोके नहि कापि सीमा सर्वैश्च सर्वे विषया न वेद्याः
तथापि भाव्यं मनुजैः समस्तैः साहित्यविज्ञान–नयप्रवीणैः ।।६०।।
साहित्यवित् वेत्ति मनोगतां नः गतिं विशुद्धां विकृतां च सर्वाम्
वैज्ञानिको भौतिकशक्तिसिद्धः सृष्टिं च नव्यां सृजति स्वकीयाम् ।।६१।।
विज्ञाय तत्तत् निखिलं हि वेद्यं जनो जगत्यां व्यवहार–शून्यः
न जीवने स्यात् सफलः कदाचित् नयस्य मार्गो न समाश्रितश्चेत् ।।६२।।
कालानुसारं ह्यथ सर्वमन्यत् प्रशिक्ष्यमेवेह बुधैः प्रवीणैः .
भवान्प्रसिद्धोऽनुभवी मतो नः तस्माद् भवानेव कृपालुरास्ताम् ।।६३।।
लब्ध्वा गणेशानुमतिं स्वसाध्ये संतुष्टचित्तो निजलक्ष्यसिद्ध्यै
अपेक्षितं भूवलयं धनं च स्वभक्तवर्गादचिरादवाप ।।६४।।
प्रधानलक्ष्याधिगमः कृतश्चेद् गौणं हि साध्यं स्वयमेव सिध्येत्
पुष्पोदयार्थं विफलः प्रयासो द्रुमेषु जातेषु फलान्वितेषु ।।६५।।
शिक्षोद्देश्ये स्वकीये गतवति सजुषां योगतः सिद्धिमेवम्
शिष्यैः कर्तव्य–बुद्ध्या विकसिति–जनके स्वीकृते सर्वभारे ।
सम्यक् शिक्षा प्रसारे प्रकटित–विभवं स्थापयित्वा गणेशम्
शिक्षा केन्द्रान् प्रसिद्धान् भरतभुविपरान् द्रष्टुमेष प्रतस्थे ।।६६।।

इति विश्वमानवीये काव्ये आदर्श शिक्षालयस्थिति-स्थापकः परिपूर्णोऽयं द्वितीयः सर्गः

—

अथ विश्व मानवीये तृतीयः सर्गः

(उज्जयिनीपुरी, इष्टदेव-स्मरण सामर्थ्यम्, अज्ञेयाकालगतिः त्वमेव माता च पिता त्वमेव, क्षणे क्षणे हन्त कुतोऽयमन्यः)

स सर्वप्रथमं विशालां विद्याप्रकाशेन विभासमानाम्
ययौ पुरीमुज्जयिनीम्पुराणीं शिप्रावृतां विक्रम-राजधानीम् ॥१॥
पुण्येन शिप्रासलिलेन सर्वं पूतं चिकीर्षन् स्वगतं समस्तम्
संविश्य तस्याः पुलिने विशाले संध्याविधौ ध्यानरतो बभूव ॥२॥
ततः सुराणां शुभदर्शनेन स्वान्तः प्रकाशं विशदं च कर्तुम्
सिद्धि-प्रदाया हरसिद्धिगौर्याः पुरा ययौ मन्दिरमेष विज्ञः ॥३॥
देवान् नमस्कृत्य जनः स्वभावात् निजात्मशक्तिं परिवर्धमानः
प्राप्नोति मुख्यं बलमिष्टलभ्यं नान्येन केनाप्यवहेल्यतां यत् ॥४॥
भावाच्च भक्ते मधुरो हि लोके, भावः परो रम्यतरो न कश्चित्
साधीयसी येन समाधि-सिद्धिः स्वेष्ट-प्रसादश्च सुखेन लभ्यः ॥५॥
शक्तिः स्वकीया यदि विद्यमाना देवा न तां कस्यचिदाहरन्ति
कुप्यन्ति तेभ्योऽपि न ते कदाचिद् भक्त्या न ये तान् कुहचित् स्मरन्ति ॥६॥
लाभश्च तेषामिह नित्य-सिद्धो देवान् हृदा ये सततं स्मरन्ति
यथाविधान् देवगणान् स्मरामस्तथाविधा एव वयं भवामः ॥७॥
सरस्वती चेत् समुपास्यमाना सारस्वतास्तेऽपि भवन्ति भूयः
शिवं स्मरन्तश्च शिव-स्वभावा ये भैरवं भैरववृत्तयस्ते ॥८॥
ये नास्तिकास्तेऽपि फलान्विताश्चेत् ये चास्तिकास्ते यदि निष्फलाःस्युः
तत्रास्ति हेतुः पृथगेव कश्चित् विश्वासरूपा हि सुराः समस्ताः ॥९॥
यो नास्तिकः सन्नपि रक्षताच्चेत् क्वचित् स्व-विश्वासमभीष्टपूर्त्यै
ततोऽपि सिद्धिं लभते स नूनं न विस्मरेत् तद् यदि संशयात्मा ॥१०॥
विश्वासशक्ते रथ सत्यशक्ते र्बलीयसी कापि परा न शक्तिः
सत्यं हि सत्यं न भवेदसत्यं सीमा च काचिन्नहि तस्य शक्तेः ॥११॥
ये श्रद्धधाना अथ देवमूर्तौ हार्दं तदग्रेऽपि निवेदयन्ति
प्रत्यक्ष-सिद्धा वरदा भवन्ती सा तान् विधत्ते परिपूर्ण-कामान् ॥१२॥

गौर्या जनन्याश्च कृपा प्रसादो लभ्यो न सद्यो भुवि कैर्नु भक्तैः
हार्दम् पयः पाययति स्वतो यत् माता स्वभावात् स्वसुतानजस्रम् ॥१३॥

लब्ध्वा प्रसादं मुदितात्मनासौ तुष्टाव गौरीं निखिलार्थदात्रीम्
प्रसीद मातर्जगदादिशक्ते ? रक्षेः सदाऽस्मान् शुभकर्म लीनान् ॥१४॥

रक्षेस्तथा नित्यमिमाम्प्रदीप्तां यशस्विनीं भारतमातृ-शक्तिम्
खलो न कश्चिन्निज-दृष्टिदोषात् क्वचिद् विवर्त्तां कलुषां वर्तनाम् ॥१५॥

अस्याः सुताः सन्तु शरीर-शक्त्या तथात्मशक्याऽनुपमाश्च लोके
प्रत्नः प्रतापोऽथ विभातु भूयो यतो विनश्येदखिलं हि दैन्यम् ॥१६॥

आर्ष – प्रकाशेन विभासितेन स्मृतिः पुन र्नश्च भवेत् प्रदीप्ता
यया प्रणश्येदधुनातनं नो ध्वान्तं वतान्तः प्रसृतं समस्तम् ॥१७॥

स्तुत्यानया स्तोत्र पदै स्तथान्यैः स्तुत्वाथ भूत्वा नवशक्तिशाली
अग्रेसरन् विघ्नहरं गणेशं बुद्धेर्निधानं विनतो ननाम ॥१८॥

प्रणम्य सम्प्रार्थितवांश्च तस्मात् जगद् हितार्थं स सतां हि साध्ये
निर्विघ्नसिद्धिं त्वरयोपलब्धां सिद्धौ हि येषां निखिलार्थ सिद्धिः ॥१९॥

विघ्नोऽनिवार्यो यदि कश्चिदास्तां कार्यः स कार्येषु सदा खलानाम्
विघ्नोऽपि विघ्नो नहि वस्तुतोऽसौ साध्यम्परेषां हि सुसाधयेद्यः ॥२०॥

सिद्धिर्गणेशस्य कृपावशाच्च स्वयं जगत्यां सुलभा न कैः स्यात्
नायाति विघ्नो हि कदापि कश्चित् मति विशुद्धा पथदर्शिका चेत् ॥२१॥

ततः स यावद् गणनाथ-धाम्नः प्रसन्नचित्तो बहिराजगाम्
सूर्येण नारायण-संयुतेन व्यासेन तावद् विदुषा स दृष्टः ॥२२॥

तत् क्षेत्रवृत्तं च निशम्य तस्मात् पुण्यां महाकालकथां च तां ताम्
तेनैव सार्धं हरदर्शनार्थी विवेश भव्ये हर-मन्दिरेऽसौ ॥२३॥

आचम्य पूतं शिवकुण्डनीरं शृण्वन् श्रुतीनां मधुरं च घोषम्
प्रभावितोऽन्तः सरसैः स्वरैस्तै र्मेने कृतार्थं दिवसं शुभं तत् ॥२४॥

अभ्यर्च्यमानं सततं विधिज्ञै र्विभासितं तं भसितै र्विशुभ्रैः
पूजोपचारैः परिपूज्य शंभुम् स्तोतुं महाकालमसौ प्रवृत्तः ॥२५॥

उवाच हे शंकर ! रुद्रमूर्ते ! हे हे महाकाल ! विशालशूलिन् !
ईडे कथं त्वामहमल्पबुद्धि र्वेद्यं हि रूपं रहितं समस्तैः ॥२६॥

अनादिकालाद् बुधवर्य-बुर्यैः स्तुतोऽपि तत्तत् स्तुतिभिः सदैव
नाद्यापि कैश्चिद् विवृतं रहस्यं रहस्यमेतच्च रहस्यमास्ताम् ॥२७॥
विभुर्भवानल्पमति-प्रकारै-र्मन्दै हि कैश्चित् कथमस्तु वेद्यः
विभु हि विद्वान् विभुरेव कश्चित् वयं च शून्येन समास्तवाग्रे ॥२८॥
रूपं तथैकं यदि तेऽस्तु किंचित् तदापि तत् स्यात् किमपीह वेद्यम्
क्षणे क्षणे यत् परिवर्तमानं ज्ञातं स्थिरत्वेन कथं तदास्ताम् ॥२९॥

न वा स्वतंत्रोऽसि विभो ! स्वभाने रूपाणि ते सन्ति पराश्रितानि
क्वचित् क्रियाभिः परिवर्तसे त्वं क्वचिच्च खेटैः क्रियसेऽभिभूतः ॥३०॥
क्रिया-प्रधानं परिवर्तनं चेत् कर्ता स्वतंत्रो नर एव लोके
तस्माच्च लोकेऽस्ति स एव मुख्यः कालस्य कर्ताथ युगस्य भर्ता ॥३१॥
सम्प्रेरितो वा भवतैव मर्त्यः करोति तत्तद् विवशं स्वकर्म
प्रवृत्तिमूलं यदि नस्त्वमित्थं त्वमेव किं तस्य फलं न भुंक्षे ? ॥३२॥
अतोऽपि लोकव्यवहार – वृत्ते विभासि मूलं नियतं त्वमेव
कृतेऽपि यत्ने बहुधा न सिद्धिस्त्वमेव दातासि फलस्य तस्य ॥३३॥

ग्रह प्रभावोऽस्त्यथवाऽत्र मुख्यः सुखस्य दुःखस्य च मूलचक्रे
काल-स्थितिश्चेयमहो बलेन प्रतिक्षणं येन भवेद् विभिन्ना ॥३४॥
दशा ग्रहाणामपि वाऽत्र काचित् कर्माश्रितैवास्ति सदा जनानाम्
ग्रहाः स्वतन्त्राः फलदा न तस्मात् वयं स्वयं तद्-गति-कारकाः स्मः ॥३५॥
तवैव माया ह्यथवाऽत्र मुख्या ग्रहेषु चास्मासु विलक्षणेयम्
रक्षेः सदैनां कृपयैकरूपां वृत्तिं तया नोऽत्र सदा पवित्राम् ॥३६॥
नियंत्रिता वा जगती व्यवस्था भवेत् सदैषा भिदयैव साध्या
विना विभिन्नान् विकृते विकारान् विकासमेति प्रकृति र्न सुता ॥३७॥
उद्भेदनं चेत् क्रमिकं न भूयात् बोधस्त्वदीयोऽपि भवेन्न कश्चित्
ज्येष्ठे कनिष्ठे च परत्व-बुद्धिः सत्तां त्वदीयां विशदीकरोति ॥३८॥
क्षणात्मकस्त्वं यदि तर्क-सिद्धः क्षणा अनेके सततं स्वभावात्
क्षणे क्षणे तत्त्वयि भिन्न बोधे रूपाण्यनन्तान्यपि किं न भान्तु ? ॥३९॥
यद् दृश्यते चेह विवर्तमानं नवो नवः स प्रकृते विकासः
एकात्मके शून्यमये न किञ्चित् ज्ञानं, न शक्ति-र्विविधाः क्रिया वा ॥४०॥

वेद्यञ्च वेत्तृत्वमिदं समस्तं ह्रासो विकासोऽथ लयोद्भवौ वा
भेदा अभेदाश्च ततः समस्ता अद्वैतभावे त्वयि विद्यमानाः ॥४१॥
हरो भवान् वा प्रथमं हरि र्वा सहैव वासौ युवयो र्विकासः
नाद्यापि कैश्चिद् विदितं बुवैंस्तत् तत्त्वात्मना तन्न च वेत्स्यते वा ॥४२॥
स्त्री वा पुमान् वाथ भवानुभौ वा कालश्च काली च समानशीलौ
त्वमेव माता च पिता त्वमेव धाता त्वमेवासि च तस्य योनिः ॥४३॥
बीजेऽथ वृक्षे, तमसि प्रकाशे, पुंसि स्त्रियां वा प्रथमानुवृत्तिः
केनाऽपि नाद्यावधि निश्चयेन प्रमाणिता नापि पुनः प्रमाण्या ॥४४॥
अनादिकालादनिरुद्ध – वेगः त्वमस्यनन्तो भगवानखण्डः
अनन्तरूपो मनसाप्यगम्यो विभुः प्रभुः सर्वविधान–दक्षः ॥४५॥
सर्वात्मकः सर्वगतोऽथ नित्यो क्षणेष्वनित्येषु मृषा विभक्तः
क्षुद्रो जनै र्हन्त कृतोऽद्य मूढैः क्षणे क्षणेऽन्यो भगवन्नकाल ? ॥४६॥
तत् क्षम्यतामेष हि नोऽपराधः कृपार्द्रं दृष्टिं च सदैव रक्षेः
काले विरुद्धेऽप्यथ दृश्यमाने कृपा त्वदीयास्तु सदाऽनुकूला ॥४७॥
स्तुत्यानया त्वात्मगतं हि किंचित् निवेद्य तैस्तै र्विविधैः स्तवैस्तत्
स्मरन् महाकालगतिं ह्यगम्यां मौनं ततोऽसौ स्वजपे निमग्नः ॥४८॥
क्षणे क्षणेऽज्ञेय – गतिर्विचित्रः कालश्च मध्याह्नमुखो बभूव
देवार्चका मन्दिर दर्शकाश्च प्रारेभिरे तत्समयां सपर्याम् ॥४९॥

प्राप्तेऽथ दर्शन–फलेऽभिनवे हि बोधे
नत्वा पुन र्बुधवरो भगवन्तमीशम् ।
व्यासस्य मान्य विदुषोऽतिथि–सत्–क्रियार्थं
तद् – भारती – भवनमेष विवेश हृष्टः ॥५०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि-विरचिते विश्वमानवीये
सूक्ष्मकालगति-विवेचकः परिसमाप्तस्तृतीयः सर्गः



अथ विश्वमानवीये चतुर्थः सर्गः

(वीर प्रशस्तिः, शक्तिप्रबोधनम्, वैयक्तिकी सामाजिकी च मानवीया महाशक्तिः, यो ददाति यो भुंक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति)

भारत्या भवने भव्ये वाणी – वीणा – निनादते
तत्तच्चर्चान्वितं चारु स्वागतम्प्राप्य हर्षितः ॥१॥

दुर्गादास महाबाहोः आर्यवीर – शिरोमणेः
सत्कीर्ति – मन्दिरं द्रष्टुं ययौ व्यासान्वितस्ततः ॥२॥

संस्मरत् पूर्वमैतिह्यं तच्चरित्र – प्रभावितः
उज्जगार गिरं ह्येनां यत्रायं बुधमण्डनः ॥३॥

अहो धन्यास्य वीरस्य स्मृतिः सा पावनी यतः
नवरंगोऽपि दुर्दान्तः सद्यः प्राप्नोदरंगताम् ॥४॥

राष्ट्रभक्तो महान् धीरः पूज्यः कै नैंषभूतले
रक्षिता मारवी भूमि र्येन धर्म्या विधर्मिभिः ॥५॥

आदर्शो वीरवर्याणां राष्ट्रोद्धर्ता महामतिः
रक्षकः क्षात्रधर्मस्य प्रतिष्ठातार्य – संस्कृतेः ॥६॥

सद्वीराणाम्प्रसंगेऽस्मिन् व्यासवर्यो महामतिः
खिन्नः पप्रच्छ विद्वांसम् निर्बला अद्य किं वयम् ॥७॥

पाश्चात्यानां हि राष्ट्राणां सम्मुखे का स्थिति र्हि नः
वर्तामहे पराधीना वर्षैरद्य परः – शतैः ॥८॥

निःशक्तो हि जनः कैश्चित् क्वचिन्नाद्रियते परम्
परायत्तस्य राष्ट्रस्य प्रतिष्ठाऽस्तैव चाखिला ॥९॥

अशक्तै र्हि करणैः कैश्चित् लोके किंचिन्न सृज्यते
कर्तृत्वं शक्तिसापेक्षं तत्तामद्य प्रबोधये: ॥१०॥

अस्माभि र्विस्मृतं शक्तेः स्वरूपं तात्त्विकं हि यत्
क्वचिदर्थे क्वचिद् राज्ञां नीतौ तन्मृगयामहे ॥११॥

विदुषोक्तं वयं शाक्ता भारतीयाः स्वभावतः
नित्याऽस्माकं महाशक्ति र्व्यापिनीः या जगत्त्रये ॥१२॥

एकयापि तया शक्त्यानन्तानन्तं – विभाव्यते
भ्रान्ते चानिश्चिते लक्ष्ये नचैदेषा विखण्ड्यते ॥१३॥

स्वधर्मे वर्धते शक्तिः क्षीणा साथ विधर्मिणि
स्वधर्मस्तत्सदा रक्ष्यः परधर्मो भयावहः ॥१४॥

शक्ति र्या भौतिके वर्गे भ्राजते च पृथक् पृथक्
स्वगुणैस्ते विहीनाश्चेत् न सा तेषु प्रकाशते ॥१५॥

विगुणानां गुणैस्तस्मात् रक्ष्यैषा सन्ततं बुधैः
गुणानां सति सांकर्ये गुणो नैकोऽपि भासते ॥१६॥

यत्रैते च विशुद्धाः स्युः स्वस्वशक्ति–समन्विताः
तत्रैषां हि तया शक्त्या लोके किं किं न सृज्यते ॥१७॥

तेषामेव च योगेन सृष्टेयं महती मही
यस्यां सर्वे रसास्तेषां मधुरूपेण संस्थिताः ॥१८॥

पाता येषां मनुष्योऽयं मधुपः कोऽप्यलौकिकः
अन्तर्हिता रसास्तेऽस्मिन् विभाव्यन्ते तपस्विभिः ॥१९॥

त्यक्त्वा तत् सर्वशक्तीनां वर्णनं हि पृथक् पृथक्
मानवस्यैव शक्तेस्तत् कश्चिदंशः समीक्ष्यते ॥२०॥

द्विविधा मानुषी शक्ति – द्विविधे तस्य जीवने
शारीरे भौतिके बाह्ये दिव्ये चान्तरिके तथा ॥२१॥

शरीरं तत्र सम्पोष्यं पूर्वं सर्वैः स्वशक्तये
नह्यात्मा निर्बलै र्लभ्यो नापि भोगश्च रोगिभिः ॥२२॥

शारीराच्चात्मिकादन्यत् रूपं ह्यप्यस्य दृश्यते
दिव्यं वैयक्तिकं रूपं भव्यं सामाजिकं तथा ॥२३॥

व्यक्तिशक्तिः पुरोपास्या व्यक्तिमाश्रित्य यद्भवेे
स्वस्वकर्मानुगं सर्वं फलं सर्वैरवाप्यते ॥२४॥

सर्वैः सर्वविधै र्यत्नैः पुरा तद्व्यज्यतामतः
व्यक्तित्वे समभिव्यक्ते भासतेऽन्यत् स्वयम्पुनः ॥२५॥

ज्ञाते गुणे समुन्नीते दोषे चाथ निराकृते
मानवानां हि सर्वेषां व्यक्तित्वं सुप्रकाश्यते ॥२६॥

भारतेऽद्य परं काचित् महतीयं विडम्बना।
असंमीक्ष्य निजान् दोषान् परेषामीक्षका वयम् ॥२७॥

न यावद् विकृतिः स्वीया जनैः कैश्चिदपास्यते
न तावत्तैः समाजस्य क्षेम किंचिद् विधास्यते ॥२८॥

निःसारात् कारणात् किंचित् सत्कृत्यं नैव जायते
कारणस्य परिष्कारः तस्मात् पूर्वमपेक्ष्यते ॥२९॥

पुरा व्यक्तेर्भवेद् दीक्षा समाजस्य ततः परम्
एष क्रमः सदा रक्ष्यः सर्वेषां हित-सिद्धये ॥३०॥

वैयक्तिक्यै समुन्नत्यै भाव्यं सर्वैः विवेकिभिः
सामर्थ्यैरखिलैर्युक्ता स्वयं सिद्धा विवेकिनः ॥३१॥

शक्तिरेषा विवेकस्य क्षीणा किन्त्वद्य भारते
नेतृत्वं तस्करैर्धूर्तैः सम्प्राप्तुं च प्रयत्यते ॥३२॥

मत-संख्याश्रितं सर्व शासने जनतान्त्रिके
विज्ञानां तद् भवेद् भूत्यै दूषितं च खलैः कृतम् ॥३३॥

कलौ संगठने शक्तिः सिद्धान्तोऽयम् सनातनः
दुर्जनैस्तद् सतां स्थाने क्रियते किन्तु साम्प्रतम् ॥३४॥

दुर्धियां घटनं ह्येतत् प्रोत्साह्यं नैव कर्हिचित्
भवेत्तद् राष्ट्रसम्पत्ते लुंण्ठनायैव केवलम् ॥३५॥

शासनानेक्षया मुख्यं लक्ष्यं चैषाम्प्रतिक्षणम्
असत्यस्य प्रसारेण प्राकृतानाम्प्रतारणम् ॥३६॥

गुणा राज्ञां मनुप्रोक्ताः सर्वेऽप्यद्य दिवंगताः
जनतन्त्रे समुद्धार्या पुनस्तेऽद्य हितैषिभिः ॥३७॥

जनतंत्रस्य शोच्येयं वर्तमाना परिस्थितिः
राष्ट्रसच्छक्ति – रक्षायै सद्यः शोध्या बुधै र्जनैः ॥३८॥

राष्ट्रशक्तिः सदा रक्ष्या प्राणैरपि धनैरपि
क्षीणेयं यत्र यत्र स्यात् सर्व तत्र विशीर्यते ॥३९॥

दिव्या शक्ति र्महालक्ष्म्या आर्थिकी च नयाश्रिता
नैषा दूष्या जनैर्धूर्तै र्विधिज्ञैः साभिनन्द्यताम् ॥४०॥

यत्नैः सततं स्थेयं देशकाल-परीक्षकैः
शत्रूणां हनने सिद्धैः वीरवर्यैर्न कातरैः ॥४१॥
आर्थिक्यं च समुन्नत्यै दुर्गोक्ता नीतिरुत्तमा
यो ददाति च यो भुङ्क्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति ॥४२॥
नाम्नतं हन्त संजाता वणिकाश्वाविकारिणः
प्रमादाय महालक्ष्म्या भुक्ति-मात्र-परायणा ॥४३॥
शक्तिर्नयं शुभोदर्का निर्व्यय-संग्रहे रता
स्वार्थ सिद्ध्यै परार्थानां निर्दयं च विघातिका ॥४४॥
सुखिनस्ते सदा लोके नाधिकं यैरपेक्ष्यते
न च यैः वित्तमन्येषां कदाचिद् गृह्यते मुधा ॥४५॥
व्यर्था-भोगपरा-वृत्ति - र्यत्र यत्र समेधते
तत्र तत्रार्थ - शक्तीनां भवेत् नूनमपव्ययः ॥४६॥
शब्देनापि व्ययो व्यर्थो नैव कार्यः कदाचन
कृते यस्य करैः शस्ता विधीयन्ते मुहुर्जनाः ॥४७॥
मधुपस्य न शक्तीनां विधेयो दुर्व्ययः क्वचित्
निःशक्तैर्मधुपैः कश्चित् रसः पातुं न शक्यते ॥४८॥
प्राप्ते वैयक्तिके लोपे लोपः सामाजिकोऽप्ययम्
एषान्योन्याश्रिता पुष्टि - र्नैकं कश्चित् समाश्रिता ॥४९॥
व्ययमद्य विवादे नः — तत्तद्वादगतैरियम्
मानवीया महाशक्ति — र्मानवैरेवावनीयते ॥५०॥
नहि पारोऽस्य शक्तीनां नरो नारायणः स्वयम्
तथैवायं सदा शिष्यो मानवो विश्वमानवः ॥५१॥
शक्तीनां मनुजस्य क्वापि गणना कैश्चिन्न कर्तुं क्षमा
यद्येतेन विचार्यते भवति तत् साकार - नव्य क्षणे ।
विज्ञानेऽद्य च मेयमस्य महती कां कां दिशं गाहताम्
नेदं किंचन निश्चितं तदधुना स्थेयं सतर्कैः सदा ॥५२॥

इति विद्याधर शास्त्रि रचिते विश्वमानवीये मानवशक्ति-
प्रबोधकः परिसमाप्तश्चतुर्थः सर्गः

अथ विश्वमानवीये-पञ्चमः सर्गः

(अन्तर्दृष्टि-विकला अहम्भावग्रस्ता आधुनिका वैज्ञानिकाः, साधुवादैः सत्करणीयाश्च, न हिताय शाश्वतं धावनम्, क्षणं विरम्य चिन्त्यताम्)

अथाद्य वैज्ञानिकशक्तिभृज्जनो नवं स्वसर्गं रचयन् निरन्तरम्
विधिं समुल्लंघयितुं समुत्सुकस्तमात्मभिन्नं मनुते न साम्प्रतम् ॥१॥
अचेतनं सर्वगतं विलोकयन् तदेव मूलं जगतां च घोषयन्
अचेतनाच्चेतनमुद्गतं वदन् नहीश्वरं स क्वचिदद्य पश्यति ॥२॥
विचारसिन्धूर्मिगतैस्तरंगितं सुखेन दुःखेन सदा समन्वितम्
मतेऽस्य नित्यं स्फुरतीह चेतनं स्फुटं प्रकृत्या सहितं गुणैस्त्रिभिः ॥३॥
विवर्तवादिष्वपि नात्मनः पृथक् विराजते तत्त्वमिहाऽपरं क्वचिद्
तथापि भेदोऽत्र महान् द्वयोर्द्वयो विभाति लोकव्यवहार दर्शने ॥४॥
एका हि यत् पश्यति केवलं जडं स्फुरत् प्रकृत्या परिणामि सन्ततम्
परत्र सर्वं भवतीह चिन्मयं सदा शिवं सुन्दरमत्र निष्क्रियम् ॥५॥
अहम्मति भौतिकवादिसंगिनी विकासिनी व्यष्टिवशोऽल्पभाविनी
परत्र चास्तिक्यमतिर्दृढस्थितिः कणे कणे चेह समष्टिसाधिनी ॥६॥
प्रतिक्षणं सर्वमिदं बहिः स्थितं निरीक्ष्य विज्ञानदृशाद्य मानवः
न लेशतोऽप्यान्तरिकं समीक्षते क्षणं तदर्थं यतते क्वचिद् वा ॥७॥
अनन्तपारस्य विलक्षणस्थितेः स्थितिर्हि कान्तारिकस्य सम्मुखे
कणायितस्याखिलबाह्यवर्तिनः — तथापि तन्मोहयतीह मानवम् ॥८॥
तदेव नानाविध वस्तुसंग्रहैर्नवैस्तथाविष्करणैश्च पोषयन्
नवां स्वशक्ति नवनिर्मितिस्थले प्रदर्शयत्यद्य च न-का नवो बुधः ॥९॥
स्वबुद्धिशक्त्या प्रकृतेः कणे कणे नवं समुद्दीप्य बलं विलक्षणम्
गुणान् विचित्रानथ तत्र भावयन् किमद्य नोद्भावयतीह मानवः ॥१०॥
क्षणेन विज्ञानबलेन सर्वतो नभस्तलं सर्वमिदं विगाहिभिः
इदं हि विश्वम्परितस्ततं बृहत् नवैः कृतं सम्प्रति नूनमल्पकम् ॥११॥
किं किं न लोकैरधिगम्यतेऽधुना नुनं हि सर्वैः स्वशरीर सौख्यदम्
यशस्विनेऽस्मै सुखशान्तिदायिने समर्प्यते साधुवचो हि यत्कृते ॥१२॥

यदा तदाऽकिञ्चन – साधनैरपि प्रचण्डतापाकुल – देहमानसैः
हिमाद्रिशीतं यदि पीयते जलं निषेव्यते वा प्रियशीतलोऽमिलः ॥१३॥

चिकित्सकै श्चेदथ जीवन – प्रदा ह्यभूतपूर्वा प्रगतिः प्रदर्शिता
श्रमापनोदः श्रमिकस्य साधनैः प्रतिस्थलं वा क्रियते स्वचालितैः ॥१४॥

निरीक्ष्यते वा शशिमण्डल–स्थिति र्भुविस्थितैरेव जनैः खवर्तिनी
इयं कृपा भौतिक तत्त्व वेदिनां कथं कृतज्ञै रखिलै र्न भूयताम् ॥१५॥

न्दृणां गतिर्नूनमियं जयप्रदा किमद्य दूरे किमुवेह दुर्लभम्
यत् साम्प्रतं स्वप्नसमं मनोगतं करस्थितं तद् भवति क्षणेऽपरे ॥१६॥

तथापि हेया न निजायतिर्जनै र्नचापि भाव्यं नितरां मदान्वितैः
महद्धि लक्ष्यं जनजीवनाश्रितं नवैर्न तद् विस्मरणीयमादिमम् ॥१७॥

न चापि तैरेव समस्तसंसृति र्नवैः पदार्थैः परिपूर्यतामियम्
पुरातनैश्चापि भृतेयमादितो न तत्समस्तं ह्यवमूल्यतां गतम् ॥१८॥

पुरातनीं कामपि पद्धतिं हृदा क्वचिन्नवीनो यदि नानुमोदते
विभाति यत्सम्प्रति रोचकं नवं परक्षणे तन्न तथैव रोचते ॥१९॥

नवेऽथ कश्चिद्यदि नूतनो रसः पुरातने चापि पुरातनो रसः
नवं न सर्वं हितकारि सर्वथा न चाप्यसारं सकलम्पुरातनम् ॥२०॥

स्वभावतः शान्तिमयं हि सात्विकं सदा हृदुल्लासि सचेतसां सताम्
अतो हितं सात्विकशक्तिवर्धकं न तामसं नव्यमपीह सुन्दरम् ॥२१॥

नवं च नित्यं किमहो सुरच्यतां पुरातनं किंच सदैव नाव्यताम्
उभे समेत्यैव रते सुसर्जने न कार्यमुद्गच्छति कारणादृते ॥२२॥

नवाभिलाषा नवमेव साधनं नवाभिपूर्तिर्न नवा परं घृतिः
नवं नवं किंचन सृज्यतां नवं नवेयमुन्मादगतिर्युगे नवे ॥२३॥

समीक्ष्य तच्चेत् स्वगति विधीयते जगद् विहारः क्रियतां यथामति
नगृह्यतां भ्रान्तगतिः परं मुधा शुभाय सर्वा गतयो न संसृतेः ॥२४॥

चलंश्चलन्नेव निरन्तरं चलन् गभीरगर्ते यदि कोऽपि निष्पतेत्
न लक्ष्यते संप्रति रक्षकः क्वचित् जनोऽद्य यस्मान् नहि निश्चलः क्वचित् ॥२५॥

जनैरियं नास्तिकबुद्धिभिर्वृथा समाश्रिता शान्ति विरोधिनी गतिः
क्रिया हि काचिद् विरसा बलाद् वृता मनः समुल्लासिगुणै र्वियोजिता ॥२६॥

सदैकमार्गेण पुरातनैरयं निरन्तरं याति नभस्तले रविः
किमत्र तद्यन्त्रगतं हि दुर्गतं किमत्र वा तेन भुवो विदूषितम् ॥२७॥

पुरातनं भारतवर्ति तच्छिवं हविः स्वल्पं यजनक्रियात्मकम्
सदैव लोकत्रयपुष्टिकारकं किमद्य नोज्जीव्यत आदि सावनम् ॥२८॥

विहाय तं सर्वहितावहं क्रतुं सदा स्वसम्पोषणमात्र संरतैः
विधीयते किं किमहो न साम्प्रतं जनैरमीभिः व्रतं सर्वनाशकम् ॥२९॥

न पञ्चभूतानि जनाय केवलं विकासितानीह भवे विरञ्चिना
न तद्विना यत् पशवस्तथा खगा वसन्ति लोके सुखिनः क्षणं क्वचित् ॥३०॥

कथन्त्विदं हन्त विडम्बनामयी नवाद्य विज्ञानदिगेयमद्य नः
समर्पितं सर्वमिदं यथाधुना मनोः सुतायैव यथेच्छमंकितुम् ॥३१॥

स्वयोनिभिन्नानखिलान् वियच्चरान् समुद्रमग्नानखिलांश्च जीविनः
निहत्य नित्यं नहि चिन्त्यते नवैः पिता स तेषामपि यः पिता हि नः ॥३२॥

इमाः प्रवृद्धा हतिवृत्तयो नृणां समस्तभूलोकविनाशतत्पराः
विधेर्विधानादपि साम्प्रतम्पुरा समुद्यताः किम्प्रलयाय सन्ति न ॥३३॥

स्वयं स्वनाशाय सदाग्रगामिभिः जनैः नवीनैः परिणामनिस्पृहैः
नभः समस्तं सरितः समस्ताः क्षितिश्च सर्वाद्य कृता विषान्विता ॥३४॥

कृतं च दुर्गन्धमयं भुवस्तलं परत्र गत्वा क्रियतां च तत्तथा
विचार्य तन्मे हृदयम्प्रकम्पते भवेत् क रुद्धा कुगतिर्नृणामियम् ॥३५॥

निशा हि या श्रान्तिनिरासिनी शुभा व्यधायि शान्ता विधिना स्वभावतः
न साधुना शान्तरवा क्वचिद् भुवि प्रतिक्षणं यन्त्रगणैर्विराविता ॥३६॥

प्रतिक्षणं धुक्षितवह्नितापिता विषाक्तधूमोष्मविगालिता तथा
कृताद्य मूर्खैः प्रलयोन्मुखी स्वयं ध्रुवस्थिता हन्त हिमावृतिर्घना ॥३७॥

अथापरा दोषपरम्पराज्वरा समस्तसाराहरणे रतार्जिनाम्
यया रसान्तः—खनितस्तलावधि प्रत्यर्प्यते नांगुलिमात्रमेव च ॥३८॥

स्वयं सदा संसरतीह संसृतिः प्रसार्य तामद्य चतुर्गुणां नवाः
नवैः स्वपापैः सततं स्वजीवनं दृढं हि बध्नन्ति विशेषतोऽमुना ॥३९॥

अहर्निशं विश्वगताम्परिस्थितिं निशम्य तच्चिन्तनमग्नमानसैः
क्षणं न कैश्चित् स्वगतं विचार्यते विलोक्यते किञ्चन वाग्रतः स्थितम् ॥४०॥

स्वयं न सर्वत्र विधेर्विधौ हठात् मुधैव धात्रा मनुजेन भूयताम्
स्वधर्मकर्मानुगतं च यद् भवेत् तदेव पूर्वं मुविचिन्त्य पूर्यताम् ॥४१॥
निसर्गतो यत् समये समुद्भवेत् सदैव तत् सोमरसान्वितं भवेत्
तस्याहुति र्यज्ञफलाय सद्यः नूनं भवेच्चेह सदा स्वभावात् ॥४२॥
अपेक्षितं यत्र – कदापि – पूर्वजै स्तदेव सम्प्रत्यनिवार्यमाधृतम्
कृतं हि नव्यैर्जटिलं स्वजीवनं तृणव्रजापूर्णं वनावलीसमम् ॥४३॥
क्षणं विरम्याद्य सखे निशम्यतां न धाव्यतामेवमहो प्रतिक्षणम्
उपास्यतां चेन् स्थिरचेतसा क्षणं त्वयापि तद्दिव्यमवाप्यतां महः ॥४४॥
एकान्त देशे सरितां तटे क्वचित् स्थेयं ह्यतो ध्यानरतैः प्रशान्तैः
शान्तो विधिः सर्गविधौ विधातुः सर्वैः स्वसत्कर्मसु चानुसार्यः ॥४५॥
नरोऽपि नारायणशक्तिमाश्रित स्तया स्वयोगो नहि तेन हीयताम्
मनोऽनुकूलं सृजतापि सन्ततं जगत्पते र्न क्रियतां तिरस्क्रिया ॥४६॥
अहो स शान्तो रचनाविधिर्विधे र्न यत्र कश्चित् श्रुतिदूषको रवः
नवास्ति धूम्यैः पटलैर्वृता क्षिति र्न वा सदा सा क्रियते परिक्षता ॥४७॥
क्रिया हि सा शान्तिमयी विलक्षणा विकासिनी स्वात्मभवा कणे कणे
निरुध्य निम्नस्थितिदां तमोगतिं समुन्नयेद्या पथि सात्विके जनान् ॥४८॥
सुखं क्षणस्थं वहुमन्यतेऽद्य तैः सुखं न नित्यं किमपीह काम्यते
स्वयं सदा ते क्षणमात्रवर्तिनो न तेषु मृत्युञ्जयभावना क्वचित् ॥४९॥
अयं क्रमः क्रान्तिकृते न शंकरः समूल माद्यांश–विशेष–नाश कृत्
यदुत्तमं तत् परिरक्ष्यतां सदा पुरातनं स्यादथवास्तु नूतनम् ॥५०॥
हिताय नस्यादसमीक्ष्यकारिणां कृतं हि किञ्चिच्चिरमत्र संमृतौ
विचार्य नित्यं निखिलं विधीयते वुधै र्हि तस्मात्सुखमीप्सुभिः स्थिरम् ॥५१॥

विज्ञान – शक्ति – मदमीलितवुद्धिनेत्रै
र्वैज्ञानिकै र्नवतमैः क्रियतेऽद्य यद्यत् ।
तत्प्रेक्षणीयमखिलं शमि दुर्दशायाम्
यद्यद्यथा विहितमत्र विधास्यते वा ॥५२॥

इति श्री देवी प्रसाद शास्त्रितनय–विद्याधर शास्त्रि–रचिते विश्वमानवीये
काव्ये भौतिक विज्ञान दिशानिर्देशकः परिसमाप्तः पञ्चमः सर्गः

❊ ❊

अथ विश्वमानवीये षष्ठः सर्गः

(मादिनी चन्द्र चन्द्रिका, अभिनवो विध्वंसनशीलो दशमो मनुजग्रहः
कठिनव्रती सुधाकरः, कुरुत नैव सुधां विषमिश्रिताम्)

सुसृजता विधिना सकलं भवे व्यरचि किं किमहो न विलक्षणम्
विरचिते शशिनीह पुनः परं नहि किमप्यपरं रचितं नवम् ॥१॥
युगपदेव गुणैरखिलैर्युतो भवविभूषणमेष सुधाकरः
य इह निस्पृहधूर्जटिना धृतः सपदि तं व्यदधात् शशिशेखरम् ॥२॥
प्रियतमां सरसां पयसां सृतिम् प्रतिदिशं विकिरन्त्यखिले भवे
अनुपमा शशिशीतलचन्द्रिका सहृदयं भुवि कं नहि मादयेत् ॥३॥
हिमगिरेः शिखरैः समरूपिणीं विदधती जगतीमखिलां सिताम्
स्थितिमपास्य विभेदविवर्धिनीं सततमेकगुणां कुरुते महीम् ॥४॥
शिशुगणैः कविभिर्मुनिभिस्तथा कृषिफलैः कृषकैश्च समीहिता
सममहो सकलैरभिनन्द्यते बुधजनैरबुधैश्च विलक्षणा ॥५॥
रजतकान्तिमती विमलद्युति गगनपारकरीयमहो तरी
परिनिमज्जयतीह कवीश्वरान् सपदि कान्नहि भावसरोवरे ॥६॥
जगति सम्प्रति किन्तु मनोः सुते भवति केवलमर्थ परायणे
परवशस्य दशा शशिनोऽधुना भृशमियं दमनीयगतिं गता ॥७॥
समुदिते मनुजे दशमे ग्रहे नरदशास्य तथा विकृताऽधुना
अशुभशरैर्विषमैः सविपैरसौ भवति हन्त मुहुर्निहतो यथा ॥८॥
नव परीक्षणमत्र भवेदणोः रहसि कैश्चन यत्न विलोक्यताम्
अथ विहायसि गन्तुमितः परं विधुरयं स्थितयेऽस्तु नवं स्थलम् ॥९॥
इतर-खेटगतिः सुगमा भवेन् ग्रहगतिश्च ततः सुपरीक्ष्यताम्
भव विकास-रहस्य विकासिनी मतिरियं च विभासतां नवा ॥१०॥
अथ निरीक्ष्य परीक्ष्य च तत्पदं फलमभीप्सितमद्य हि यत्परम्
नहि सुधा नच तद् रमणीयता मनुसुतैरधुना बत काम्यते ॥११॥
ध्रुवमियं मनुजस्य समुन्नतिः नव पराक्रम-कीर्ति-समुज्ज्वला
भवतु किन्तु न तया स गर्वितो नच जहातु शुभां सरणीं निजाम् ॥१२॥

किमपि सैनिकशक्ति–विवर्धकं नव पदार्थगतं बलमीप्स्यते
सपदि येन भवन्तु विपक्षिणो विनिहता निभृतं गगने चरैः ॥१३॥
किमपि नव्यतमं सततं जनै विजयतामिति वीरजनोचितम्
विजयिनां न जयोऽपि शुभः परम् परिणतिर्यदि नास्य शुभावहा ॥१४॥
क्षितितले बहु तेन कृतं न यत् तदिह तेन पुरा परिपूर्यताम्
भवतु चेदधुना तदुपेक्षितम् नवरुचि नं गतम्पुनरीक्षताम् ॥१५॥
अवनिजीवनमद्य विषावृतं विकृतमत्र विधाय पदे पदे
नहि करोतु जनो गगने चरन् तदपि सम्प्रति हन्त तदन्वितम् ॥१६॥
नहि कदापि महीतलवासिना – महितमाचरितं शशिना क्वचित्
यदधुना मनुजैः कृतघातकै स्यमपि क्रियतां क्षतविक्षतः ॥१७॥
भवतु खेदकरं किमतः परं यदि खलैः खनितोऽद्य कलानिधिः
अपहृतो निजरत्नगणाभया भवतु चन्द्रिकयापि हृतोऽधुना ॥१८॥
शतसहस्रयुगं वहताऽनिशम् तपनतापगतिं शिरसाऽखिलाम्
शशभृता कठिनव्रतधारिणा न पवनो न च वारि निषेवितम् ॥१९॥
उडुपतौ विजितेऽपि नृवानरै नरमतिर्यदि दुर्मतिमाश्रयेत्
बहुमतोऽपि मतो न भवेदसौ स्वयमहो स्वविनाशरतः पुमान् ॥२०॥
हृदि भवेद् यदि कापि कृतज्ञता स्मरसि वास्य गुणान् क्षितिपोपिणः
द्विजनृपस्य पदे स्वपदं न्यसन् शशभृते प्रथमं नतिमर्पयेः ॥२१॥
तदनु पञ्चभिरार्यजनामृतैः सुरभिदुग्धघृतैरभिषिच्यताम्
सितसुमैर्घनसारविलेपनैः सुरभितो मुदितश्च विधीयताम् ॥२२॥
शशिसमो धरणीहितकारको नृपवरो न परो द्विजसत्कृतः
नहि च रम्यतरोऽपि भवेत्परो भवति येन निशापि विभावरी ॥२३॥
क्वचिदसौ सरितां सलिलेऽमले क्वचिदथ द्युतिभृद रजसां स्थले
विटपिनां छटनेषु ततः क्वचित् नवनवां सुषमामभिवर्षति ॥२४॥
प्रतिदिनम्पथिकैस्तमसावृते पथि पथि प्रतिपादितदर्शनः
विजयते जगतीपथदीपकः स्थिरतमो रुचिरः शिशिरः शशी ॥२५॥
यदि विषान्वितधूमपरीक्षणं स्यमपि क्रियतां विकृतोऽन्वहम्
परिणति भंविता बत कीदृशी बुधवरै स्तदपीह पुरा सुविमृश्यताम् ॥२६॥

श्रुतिषु विश्वरहस्य–विभासकं ऋषिवरैर्बहुशो विशदीकृतम्
यदिह वर्षति सोमरसामृतं शशिकरै भुवि तत्परिकीर्यते ॥२७॥

विषमयी यदि वृष्टिरिहापतेत् क्वचिदियं सरसा न भवेत् मही
नहि जले चपला शफरी स्फुरेत् क्वचिदियं सरसा न भवेत् मही ॥२८॥

भृशमसौ च कृतः परिकम्पितो गुरुतमै र्जविभिर्विशिखैरणोः
नहि न किं कुरुतां क्षपिणो जनान् हृदयकम्पविकारसमन्वितान् ॥२९॥

स्मृतिविलोपकमारुतपूरिता भुवि जनैर्विहिता विषकन्दराः
भ्रमवशादपि यत्र विशन् जनः क्षणमपीह नहि श्वसितुं क्षमः ॥३०॥

यदि तथैव विधोर्मधुकूपकाः अपि कृता मनुजैर्विप्रनिर्भराः
न विदितं भविता वत कीदृशी दिवि तथा भुवि सा विषमा स्थितिः ॥३१॥

भवतु भौतिकशक्तिगतिच्युतिः सपदि भीषणनाशकरी भृशम्
वियति तामसतत्त्वपरीक्षणम् कुरुत नैव निमील्य विलोचने ॥३२॥

कुरुत सात्विकमेव परीक्षणं यजनकर्म–हुतं भवपोषणम्
उभयमेव सहैव फलान्वितं भवति येन धरा गगनं तथा ॥३३॥

शशिगुणा अमिताः श्रुतिवर्णिता अधिगता न नवैः परमार्थतः
क्षितिगुणानत एव सुधाकरे नहि विलोक्य भृशं चकिता इमे ॥३४॥

प्रतिकणं शतशोऽभिनवाः कणाः प्रतिगुणं च नवाः शतशो गुणाः
शशधरे स्वपृथग्–गुणशालिनि क्षितिगुणा अपि सन्तु न सन्तु वा ॥३५॥

व्यवहरेरिह नैव यथा भुवि व्यवहृतं बहुशो विनियन्त्रितम्
न सकला जगती क्षितिधर्मिणी न च तथाविधजीवनपोषिणी ॥३६॥

निवसितुं यदि चन्द्रतले स्पृहा प्रथमतः स्वमनः कुरु निर्मलम्
प्रभुमनोजनितो विमलः शशी जनमनोऽपि तथैव समीहते ॥३७॥

कुमुद–बांधव–सख्यमभीप्सुभिः परमुखं प्रमुखं सुखमीक्ष्यताम्
भवति सोमनिवेरखिला सुधा जगति तत् परितृप्ति–रताऽनिशम् ॥३८॥

शशिवदेव जनोऽस्तु परार्थभृत् शशिवदेव तपोनिरतस्तथा
विविधकष्टसहिष्णुगणाग्रणीः समुदितः सततं परमोदकः ॥३९॥

सुरगणैः पितृभिश्च सुधाकरः प्रतिदिनम्परिपीतरसः क्षयी
हृतकलोऽपि पुनर्यजतां वरो भवति पूर्णकलः परतृप्तये ॥४०॥

शशिपदे यदि काचन सभ्यता नवतमा मनुजै रमिकोऽन्यते
क्षितिगता वत दोषलवः क्वचित् लवमितोऽपि न तत्र निवीयताम् ॥४१॥
भवतु साऽखिल-विश्वविमोहिनी-क्षितितलाखिल-दोषनिवारिणी
वियति चान्यपदेष्वपि सानिशं किरतु सोमयीं प्रिय चन्द्रिकाम् ॥४२॥

यदि तलेऽस्य महीतल-जीवनं वहुमतं च सदैव विशेषतः
वियति दूरतरो विविना कुतः कथय किं धरया-वियुतीकृतः ॥४३॥

शशिनि मानसतत्त्वविकासके वलवती क्रियतां मनसः स्थितिः
नहि जनाः स्वमनोवलनिर्वला भुवि भवन्ति सुधांशुसुधाभृतः ॥४४॥
अथ विलोक्य शशांकमुखं भृशं विविधगर्तमयं निखिलं नवैः
शशिमुखी क्रियतां न तिरस्कृता सुकवयो न च केऽपि निराहताः ॥४५॥

वहति गर्तशतं यदि तत्तनुः अपि च सा विषमा वहुधा यदि
कविदृशा यदि तत् सुसमीक्ष्यतां हृदयमेव तदस्ति शिवच्युतः ॥४६॥

इह खलैः प्रणय-प्रलयंकरैः यदपि हृच्छतमत्र विदीर्यते
सपदि तत् कुरुते क्षतविक्षतं मृदुतमं शशिमानसमाकुलम् ॥४७॥

प्रतिपदं मनुजैः कृतघातकैः प्रतिदिनञ्च यदत्र विदूष्यते
अनुमितुं सुकरं नहि तद्वुधैः किमह तत् कुरुतेऽद्य सुधाम्बुधौ ॥४८॥
मनुजपाद - रजोमलिनीकृते शशिनि देवगुणाश्च कुतोऽधुना
कथमहो ननु भवन्तु विभासिता इति मनागपि न तैः विचिन्त्यते ॥४९॥

अयमिहैव यथाद्य विभासते पुनरपीह तथैव विभासताम्
कुरुत किन्तु जना न सुधाकरं निजकलङ्कितकर्म-विदूषितम् ॥५०॥
ऋषिवरैरिह पुण्यतमे स्थले क्षितितलांगविभूषित-वेदिषु
शतपथानुगतं यजनं कृतं पुनरपि क्रियतामिह तत्तथा ॥५१॥

भवहिते निरता भुवि यद्दिने शुचिधियो मनुजाः ऋषिजीवनाः
दिवि तदा विहरन्तु सुखं हि ते प्रतिदिनं नवलोकविहारिणः ॥५२॥
कुरुत नैव सुधाकरमन्यथा नवनवामय - संक्रमणस्थलम्
निज दुरीप्सितलब्ध-विलक्षितं न मलिनं च विधत्त निजैर्मलैः ॥५३॥

अवनिजीवनमेव न केवलं शशधरादमृतं लभते सदा
इतरलोक निवासिभिरप्यसौ प्रतिपलं नितरामुपजीव्यते ॥५४॥

इमां हि चान्द्रीमवलोक्य दुर्गतिं विषोऽष्म–भीतोऽस्तु शशांकशेखर:
धुनोतु राका च मुहुर्मुहुः शिरः शरद्–विलासैः सकलैरपाहृता ।।५५।।

शशधरगतिमेनां चिन्तयंश्चिन्तनीयाम्
पितृगतिमपि वोद्धुं श्रद्धया संस्मरंस्तान्
परम विनतवाचा प्रार्थयामास विज्ञः
प्रकटयत रहस्यं मे गुरूणां गतानाम् ।।५६।।

इति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि तनय - श्री विद्याधर शास्त्रि - विरचिते
विश्वमानवीये समाप्तः चन्द्रलोक निरुपकः षष्ठः सर्गः



अथ विश्वमानवीये-सप्तमः सर्गः

सदैवसुपोष्याः, स्वकुलकीर्ति-प्रदीपका गुणाः, मनः कोषमयाः भावामात्रानु प्राणिता विभुगतयः पितरः, न केवलं काल्पनिकः परलोकः सुरक्ष्यं सदैव वैचारिकं शरीरम्

स्मरन् शोभां चान्द्रीं शयनसुखमग्नो बुधवरः
ययौ लोकं स्वप्ने तमिह नहि जीवन् यमयते ।
न यस्मिन् देहो वा तनुविषयकः कोऽप्यनुभवः
न वा मृत्योर्भीतिः क्वचिदपि कदाचित् प्रभवति ॥१॥

समस्तै भेदैर्ये भुवि परिगता मानवजनिः
न तै भेदै–र्व्याप्ता स्थितिरिह भवेत् कस्यचिदपि ।
न भेदो जातीनामिह नहि च वादाद्यनुगतो
न चास्ते धर्माणां विघटनकरः कोऽपि कलहः ॥२॥

न वृत्तीनां द्वन्द्वम्प्रचलति मनः क्षोभजनकम्
न वावस्थाभेदो जरयति तनूं कस्यचिदपि ।
न कश्चित् शोष्योऽस्मिन् क्वचिदथ न वा शोषकजनः
स्वभावादेवास्ते पितृषु समभावः प्रतिपदम् ॥३॥

पृथिव्यामप्येष प्रकृतिकृत – भेदो न सहजो
यदस्यां सर्वे स्मो जनिमरण भावै र्हि सहिताः ।
तथैवास्ते नात्मा क्वचिदपि पृथक् प्राणिषु नवः
अभेदे भेदास्तत् मनुसुतकृता एव बहुधा ॥४॥

तथाप्येष प्राज्ञः स्थित इह पलं यावदगतिः
विशिष्टैका तावत् प्रतिकृतिरिहाभूत् प्रकटिता ।
प्रशान्ता, ध्यानस्था, परिसृतमहोभिः परिवृता
विनीतोऽपृच्छद्यां क खलु भगवन् मे स्थितिरियम् ॥५॥

उवाचासौ दिव्यो बुधशिरसि धृत्वा निजकरम्
नराणामेवाहं वियदुपगतः पूर्वपुरुषः
निराधारां यां च स्थितिमिह मे पश्यति भवान् ।
विशिष्टस्तद्धेतु – र्विविरचितलोकोऽयमपरः ॥६॥

हठान्वा मन्येरन् पुनरपि न लोकान् यदि परान्
स्वविश्वासैरेभि विचलितधियस्ते मुहुरहो ।
मुहुर्जाता जाता वत भृशमिहैव क्षितितले
तमोभ्रान्ता स्वल्पे स्वजगति चरेयु र्बहुतिथम् ॥२१॥

परे ये च ब्रूयु "र्मरणमनु किञ्चिन्नहि भवे,,
न निर्मूलां चैनां मृतकगति – चिन्तां कुरुत तत् ।
स्फुरत्येतत् विश्वं निखिलमिह जीवज्जन – कृते
गतासूनां सर्वं व्रजति सह तैरेव विलयम्" ॥२२॥

असारोक्तिस्तेषां कथमपि परं नेयमुचिता
न नित्यत्वाद् द्रष्टुः क्वचिदपि लयस्तस्य भवतात् ।
भवे साक्षात्कारः पुनरिह भवेत्तेन नहि वा
विकल्पोऽयं किन्तु क्वचिदपि न रुन्धेऽस्य हि गतिम् ॥२३॥

भवेद्यस्मै देयं यदपि च यतो ग्राह्यमथवा
समस्तं लोके तद् भवति सततं कर्मफलितम् ।
न सम्बन्धं रुन्धे स्वकृतपरिपाको यदि गतैः
अवश्यं स्यात्तेषां निजकुलजनैः संगम इह ॥२४॥

न भेतव्यं मृत्योरवनितलजातैरपि जनै–
र्न मृत्युः केषांचिद् नियतसमयात् प्राक् प्रभवति ।
स्वकर्तव्यं कार्यं भवतु भुवने यद्धि भविता
अनिष्टं नाकस्माद् भवति नहि चेन् पापमुदितम् ॥२५॥

प्रभुर्ध्येयस्तस्मान् सततमिह सद्बोधजनकः
न नश्यातु पापात् प्रभवति परः कश्चन भवे ।
परो लोको यादृग् भवतु, भवतान्नाम स तथा
न हि त्याज्यो धर्म्यो निजनियतमार्गोऽत्र मनुजैः ॥२६॥

चलच्छ्वासे देहे नहि च विषयाणामनुभवे
परिच्छेद्यं न्हणां भवति सकलं जीवनमिदम् ।
यशो – देहाद् भिन्नं तनुपरिमिताच्चाप्यथ परम्
पृथक् तन्नो नित्यं भवति विभु वैचारिकमपि ॥२७॥

प्रयाते पञ्चत्वं क्षणिक इह देहेऽप्यनियते
विचारात्मा जीवः सततगतिमान् तिष्ठति भवे ।
तरङ्गन्यायेन क्रमवति विकासे परिणताः
न सद्यो लुप्यन्ति स्थिरतरविचारा हि जगतः ॥२८॥

विचाराणां शक्ति र्भवति सबला विश्वजयिनी
क्षणे स्यात् सा व्याप्ता भुवि नभसि सर्वत्र युगपत् ।
न चेदस्माकं सा बलमिह लभेत स्वकुलजात्
स्वशिष्याद् वा तस्या भवति दयनीया बत गतिः ॥२९॥

विरुद्धैः केषांचिद् दृढतरविचारैः प्रतिहता
भवत्येषाऽशक्ता गणयति न कश्चिन् पुनरिमाम् ।
प्रभावेणैतस्या भुवि सुकृतिभिर्यच्च विहितम्
विलुप्तं तत् सर्वं क्रियत इह धूर्तै र्गतभयैः ॥३०॥

सदा शुद्धान् भावानुपनयत नः सत्वगुणजान्
रजश्चाञ्चल्यं नोऽपनयति भृशं शान्तिमखिलाम् ।
अशान्तेष्वस्मासु प्रकृतिलहरी क्षुभ्यति पुनः
विभिन्नाश्चोत्पातास्तत इह भवन्ति प्रकटिताः ॥३१॥

इहाखण्डां शान्ति वयमभिलषामस्त्रिभुवने
सुखं यस्यां सर्वे निजनिजविकासेन सहिताः ।
लभन्तां लक्ष्यं स्वम् मनुजजनियोग्यं भवहितम्
न चेयाद् विध्वंसं सुकृतमथ केषांचन भवे ॥३२॥

अतः सौम्यैर्भावैर्भवतु परिपूर्णं जगदिदम्
तमोग्रस्तं किंचिद् भुवि नच विधीयेत बत यैः ।
विचारोत्थं ध्वान्तं भवति विभु दीर्घावधि ततम्
सहस्राणां सद्यो विमतिजनकं संभ्रमकरम् ॥३३॥

पवित्रेऽस्मल्लोके वियति विमले सत्त्वजनिते
नराणां कल्याना प्रतिफलति बिम्बोऽत्र सहजः ।
यथा स्यात् यत् कार्यं परिणमति तत् तादृशि फले
विलम्बांशः कश्चित् क्षणमपि न तच्चान्तरयति ॥३४॥

सदादर्शाचारा नरतनुषु येषां सुकृतिनाम्
न चोद्वेगं नीताः सहजरिपुकामप्रभृतिभिः ।
परेषां दुःखैस्ते द्रवितहृदयाः शुद्धमतयः
भवेयु र्देहान्ते दिवि परिणता दिव्यपितृषु ॥३५॥

दिवो भूमेर्मध्ये प्रकृतिकृतवासास्तत इमे
त्रयाणां लोकानामपि युगपदेव स्थितिदृशः ।
अभीक्ष्णम्पश्यन्तो जगति घटितां जीवनगतिं
सुकृत्यैस्तुष्यन्ति व्यथितमनसः स्युश्च दुरितैः ॥३६॥

दशा निम्नस्थानां विविधगतिका दृश्यत इतः
स्वयं या चास्माभि र्बहुलमनुभूता बहुविधा ।
भुवो गर्भे केचिद् समविगतनिद्रा निपतिताः
परे चैषामीषद् वियदभिमुखं गन्तुमनसः ॥३७॥

अयोग्याश्चेदन्ये द्युतलमधिरोढुं व्यवसिताः
पतन्तो दृश्यन्ते भुवि पुनरिमे कर्मवशगाः ।
गतिर्नीचैरेषा भवति सततं पापजनिता
प्रभु र्ध्येय - स्तस्मादवनि - तलजातै - रघहरः ॥३८॥

अकीर्तिर्या लोके प्रसरति नृणां साप्यसुकृतैः
न दुष्कृत्यैस्तन्नो यश इह विधेयं कलुषितम् ।
यशोदेहो नित्यो भुवि खलु समेषां शुचितमः
अनित्यश्च स्थूलो गदित इह देहो विशृमरः ॥३९॥

यशस्तेजः साक्षात् सुकृतसरणि निर्दिशति यत्
समाजेभ्योऽन्येभ्यो निजकुलभवेभ्यश्च सततम् ।
प्रकाशोऽस्माभिर्यो भुवि निजकृतैः कोऽपि विततः
यशोनाशे सोऽयं सपदि तमसा स्यात् निगलितः ॥४०॥

प्रियेयं नः पृथ्वी वयमिह सदा पर्वसमये
तथा प्रावृट्काले जलधरजलै - र्नर्तनपराः ।
सदैवागच्छामो खगमृगजनेभ्योऽय विपुलम्
प्रयच्छन्तस्तत्तद् भवति धरणी येन सरसा ॥४१॥

निर्जैर्योगोऽयं न: प्रचलति सदैवादि–समयात्
इमे द्यावाभूमी सकल सुखपूर्णे हि भवतः ।
मिथः सद्भिर्भावैः कुरुत जगतीं हृष्टचरिताम्
कुभावैश्चाकृत्यैः कुरुत वत नेमां हि विकृताम् ॥४२॥

विकारश्चेत्समुत्पन्नो नृचित्ते प्रकृतौ तथा
जायते दुःखितं सर्वं जगत्यां वत जीवनम् ॥४३॥

उभावेतावदोषौ तत् रक्ष्यौ विश्वहितैषिभिः
सद्धर्मानुगतैः कृत्यैः तोषणैश्च जगत्पतेः ॥४४॥

तस्मात् स्वपूर्वपुरुषाग्रचवरादपूर्वात्
भावानिमान् नवसुबोधभृतो निशम्य ।
उन्मीलितार्ष–विभुदृक् स बुधाग्रगण्यो
दिव्यान् दिदृक्षुरभवत् दिवि नव्य लोकान् ॥४५॥

इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनय–श्री विद्याधर शास्त्रि–विरचिते
विश्वमानवीये समाप्तः सप्तमः पितृसर्गः



अथ विश्वमानवीये अष्टमः सर्गः

(न सर्वे देवलोकाधिकारिणः, श्रौता मानवैः कल्पिताश्चद्विविधा देवाः, मानवीया देवा मानवस्वभावाः, पितरो महर्षयश्च न देवत्वाप्तिकामाः)

एवं स्वपूज्यैः पितृभिः कृपार्द्रैः कृतः कृतार्थः पितृलोक–वृत्तैः
रम्यान् दिदृक्षु र्दिवि दिव्यलोकान् तमाद्यवंद्यं स पुन र्जगाद ॥१॥
हे आर्यवर्या ! भवताम्प्रसादात् किं किं भवे नेह मयानुभूतम्
विवेदिषा कापि नवा दिदृक्षा तृप्तिम्परां नैति परंतु काचित् ॥२॥
क्लेशैरनेकै र्नच कुण्ठिता कै–र्वसुन्धराया हि सुखानुभूतिः
अंशोऽपि कश्चित् न यत्र तेषां नाकः स काम्यो न भवेन्नु केषाम् ॥३॥
इच्छाविघातः प्रमुखं हि मूलं दुःखस्य सोऽस्मानखिलान् धरायाम्
कदा न भूयो विकलान् विधत्ते सत्कर्म–सिद्धावपि हा हठेन ॥४॥
विचारमात्रेण च कल्पवृक्षो मनोरथान् यत्र करोति पूर्णान्
अलौकिकं तं कमनीयलोकं विलोकितुं को न समुत्सुकःस्यात् ॥५॥
निर्दिश्यतां काचन सा सुरीतिः कुर्या ययाहं हि दिवो विहारम्
युस्मद्–गति र्न क्वनापि रुद्धा गुप्तं रहस्यं न दिवश्च किञ्चित् ॥६॥
श्रुत्वा वचस्तस्य विचित्रमेतद् विचिन्त्य पूर्तिञ्च जनैरशक्याम्
सस्नेहमेनं स उवाच मान्यः सुखेन साध्या न तवेयमीहा ॥७॥
पुराप्यनेकै र्यतितं वतास्मै न पूर्णकामा ह्यभवन् परं ते
क्रतुं विना तत्र न कोऽपि गन्तुं मर्त्याः क्षमंते क्षितिजाः कदाचित् ॥८॥
त्यागः कृतश्चेन्नहि कोऽप्यपूर्वः सर्वस्वदानं च कृतं न चद्वा
रणांगणे वीरवरै र्हसद्भिः प्राणाहुति श्चेन्नहि कापि दत्ता ॥९॥
नैवम्विधाः केचन दिव्य लोकान् गच्छन्ति पश्यन्त्यथवा कदाचित्
तथापि यद् वेद्मि रहस्यमेषां तदेव ते किंचन वर्णयामि ॥१०॥
नूनं पृथिव्याः पृथगेव केचित् लोका हि दिव्याः खलु ते सुराणाम्
न तत्र भीतिः किल कापि मृत्यो र्न तत्र केचित् जरसा च जीर्णा ॥११॥
देवाः परं येऽत्र वसन्ति केचित्, श्रौता न ते वास्तविका न वाञ्छ्याः
स्वकर्मणां सौख्यफलं हि भोक्तुम् क्षणंस्थिरता स्तेऽत्र हि केऽपि भीमाः ॥१२॥

आद्याश्च वेद्या यदि सन्ति देवा वेद्यः पुराऽद्यो जगती–विधाता
विश्वस्य विश्वस्य स नाथ एको व्याप्तो हि सर्वत्र करणे करणे यः ॥१३॥

परात्परोऽसौ नहि वेदवेद्यो नवाऽपरैः कैश्चन तर्कशास्त्रैः
स दर्शनीयो विमलात्मबोधै विश्वस्त दृष्ट्या हृदि वर्तमानः ॥१४॥

पृथक् स्वरूपेण महान् स देवो विज्ञै–र्व्यलोकि प्रकृते विकासे
तस्यैव सर्वेऽनलानिलाद्या अंगात्मकाः सर्ग–विकासलग्नाः ॥१५॥

श्रौताः समस्ता ऋषिभिः स्वमंत्रैः स्तुता इमे सत्स्तुति–पूर्णभावैः
यज्ञात्मका यज्ञरताश्च नित्यं तत्वन्ति दिव्यं खलु विश्वयज्ञम् ॥१६॥

प्रतिक्षणं तत्र परस्परं ते गृण्हन्ति यत्तत् पुनरर्पयन्ति
दाने तथाऽदान विधौ प्रसक्ताः चरन्ति चर्या नियत–क्रमेण ॥१७॥

प्रभाकरश्चेत् सलिलं समुद्रात् गृण्हाति तद्वर्षति भूरि सद्यः
आदीयते क्षारमपीह यत्तैः प्रदीयते तन्मधुरं पुनस्तैः ॥१८॥

दानप्रवृत्ति हि हिताय तस्मात् महर्षिभिर्नित्यमिह स्तुतेयम्
मेघोऽपि चेद् गर्जति दद्देव ब्रूते सदायं श्रुतिभिः श्रुतं तत् ॥१९॥

विडम्बनेयं विषमा धरण्या वैज्ञानिके साम्प्रतिके प्रसारे
संखन्य गर्भान्निखिलं हि तस्याः कणोऽपि नास्यै पुनरर्प्यते तैः ॥२०॥

प्रवृत्तिरेषा वत दानवीया देवानुकूला न भवेत् कदाचित्
विभेमि कश्चित् त्वरयैव भावी स्वयं कृतोऽयं भुवि सर्वनाशः ॥२१॥

संचारिणः प्राणगतेस्तथेमे प्रवर्तकाः प्राणिषु चेतनायाः
ज्ञानोज्ज्वलो दिव्यतमः प्रकाशो भर्गो वरेण्ये सवितुश्चकास्ति ॥२२॥

नैषां हि गत्यां क्वचनावकाशः स्वर्गस्य संभोग–परायणस्य
तेषां हि साध्यं परमेव किञ्चित् सृष्टिः समस्तापि नियम्यते तैः ॥२३॥

सूर्यादयो ह्येव पुनः प्रकृत्याः गुणस्वरूपैं विविधैः समेता
श्रद्धामयैः संस्तवनैः स्तुतास्ते विष्ण्वादिरूपेण हि मन्त्रदृग्भिः ॥२४॥

पौराणिका ये ह्यपरे च देवाः प्रायोऽखिला मानवकल्पितास्ते
जनः स्वभावान्निजभावभिन्नं नास्मिन् भवे पश्यति किंचिदन्यत् ॥२५॥

तेषां चरित्रं ह्यपि तत् समस्तं व्यनक्ति सर्वत्र जनस्वभावम्
दुःखम्परं तेषु न मानवीयम् न सन्ति ते वा तमसाऽभिभूताः ॥२६॥

ग्रस्ता न ते वस्तुगतैरभावै रोगैरसाध्यै रथ दैहिकै र्वा
स्वकामनानाम्प्रतिरोधजन्यैः क्लेशै र्न वा मानसिकैश्च कैश्चित् ।।२७।।
भिन्नेषु देशेषु विभिन्नरूपा भीमाः क्वचित् क्वापि दयानिधानाः
सभ्येषु सभ्या नियमानुवृत्ता क्रूरा असभ्येषु च हीनभावाः ।।२८।।
युगे युगे तेऽभिनवैः प्रकारैः स्वसंस्कृतिं ह्येव विभावयन्तः
रूपेण भिन्ना अपि कर्म-भिन्ना लोक-प्रवृत्तौ न भवन्ति भूरि ।।२९।।
आर्येषु देवाः परमा उदारा भक्ताः स्वभावाच्च नृपुंगवानाम्
युद्धागणे तानभिनन्दयन्तः साहाय्यमीप्सन्ति सदैव तेषाम् ।।३०।।
प्रायो हि सन्मानववृत्तयस्ते न राजनीतिः प्रबला भवेच्चेत्
तयाऽभिभूताश्च सुरा न नृभ्यः क्वचित्समुत्कृष्टतरा हि दृष्टाः ।।३१।।
ईर्ष्या परोत्कर्षकृते सदैषां जागर्ति चित्ते विकटैव काचित्
राजर्षिभि र्ह्युग्रतपः प्रवृत्तै स्तिष्ठन्ति ते सन्ततमेव भीताः ।।३२।।
इन्द्रादिकै राजसवृत्ति शीलै र्नित्यः स्वधर्मोऽप्यवहेल्यते तत्
यस्मादकृत्येष्वपि संनिमग्नाः पौराणिकैः केचन वर्णितास्ते ।।३३।।
ऐन्द्रं पदं रक्षितुमेव वामा सृष्टि र्विचित्राथ नवैव काचित्
भव्याप्यभव्याप्सरसां, चलीनां कथासु धर्म्या न सदैव भाति ।।३४।।
उषः स्वरूपं श्रुतिषुप्रशस्तं मनोहरं यद् ऋषिभि र्व्यलोकि
अलौकिकं तत्सदृशमेव किंचित् रूपं समुद्भावितमस्ति तत्तैः ।।३५।।
इन्द्रस्य दास्योऽपि सदा स्वतंत्राः स्वेच्छानुसारं दिवि संचरन्त्यः
स्थिराः क्वचित्ता नहि चित्रितास्तै स्थिरश्च तासां दयितो न कश्चिन् ।।३६।।
यथाकथंचित् तपसां विधातः मुख्यं हि तासां भवतीह साध्यम्
तपस्विवृत्ति-स्वकटाक्षपातै र्नृत्यैः स्वगानैश्च विचालयंत्यः ।।३७।।
वीरानुरक्ता अपि तासु काश्चित् चिरं न कैश्चित् सह ता रमंते
सद्यस्त्यजन्ति प्रतिकूलमेनं न रक्ष्यते चेत्समयो हि तासाम् ।।३८।।
अपूर्वसौन्दर्यमयी प्रसूति – र्दिव्यैव नित्यं भवतीह तासाम्
मातृस्वभावास्वपि किन्तु तासु प्रसूतिमोहो हि सदा बलीयान् ।।३९।।
अनार्यदेवाश्च भवन्ति सर्वे भोगेरताह्येव सदा स्वभावात्
स्वर्गेऽपि तेषामतएव सर्वा प्रवृत्तिरास्ते विषयानुसक्ता ।।४०।।

एतादृशं भोगमयं हि लोकं वाञ्छन्त्यनार्या नहि केचिदार्याः
काम्यो न कामात्मक एव लोको तेषां हि कश्चित् स्थिर योगभाजाम् ॥४१॥
आर्येषु कैश्चिद् ऋषिभि र्न तस्मात् स्वर्गो हि तादृक् क्वचिदादृतोऽयम्
तपस्विभिः संयमिभिस्तथान्यैः समीहितो नैव स भूतिकामैः ॥४२॥

सारस्वते ते विहरन्ति लोके सदा स्वकीयेऽखिलदुःखमुक्ते
सुधां विहायाथ पिबन्ति नित्यं विद्यामृतं सर्वसुधातिशायि ॥४३॥
सौख्यं सुराणामथ वस्तुतस्तै–र्न मन्यते सौख्यमिहाद्वितीयम्
स्थिति र्यदेषां नवकर्महीना नवानुभूत्या रहिता न हृद्या ॥४४॥
गतिः सुराणां दिवि शोचनीया चिरं न ते तत्र वसंति केचित्
भुक्ते स्वसत्कर्मफले च यत्ते सद्यः क्षिताविव पुनः पतन्ति ॥४५॥
गतिः किलैषा दयनीयवृत्ता नित्या न काचित् सुखशांतिदात्री
यद्यद् – भवेदैन्द्रियमत्र सौख्यं तत्तच्चिरं नेह सुखाय नूनम् ॥४६॥
स्वर्गो हि कोप्यैन्द्रिय एव लोक स्तस्माद् बुधानां हि मते मतोऽयम्
इन्द्रश्च तस्याधिपतिः प्रसिद्धः सहस्रनेत्रः प्रथितः कथासु ॥४७॥

त्वंचापितत् किंनु दिदृक्षुरस्य प्राप्यं त्वया तत्र हि किं नु नव्यम्
वसुंधरायां सुलभं न किं किम् धात्री स्वभावात् निखिलार्थ-पूर्णा ॥४८॥
स्वर्गस्वरूपं भुवि कल्पितं यत् निरूपितं तन्निखिलं मयैवम्
अतः परं किं खलु वच्मि तुभ्यं ज्ञानात् परं ज्ञातृगति र्न काचित् ॥४९॥
शास्त्रेषु यादृक् खलु नाकवृत्तं मह्यं हि तद् वर्णितमेव मान्यैः
नाद्यापि तल्लोक–विहार–वांछा तथापि पूर्णा वत पूर्णतो मे ॥५०॥
दृगिन्द्रियं मे नहि तेन तृप्तम् विवर्धमानैव च मे दिदृक्षा
स्वर्गस्य दृश्यं धरणीतलस्थै र्यथाहि दृश्येत विधिः स बोध्यः ॥५१॥
तत्प्रेक्ष्यतामांतरिकै र्हि नेत्रै र्द्रष्टुं त्वया वाञ्छ्य कृते सुरर्षिः
प्रीतः स एवाखिल–दृश्यमेतत् क्षणेन ते दर्शयतादितोऽपि ॥५२॥
तत्प्रीतये तत्स्मरणं च भक्त्या विश्वस्तचित्तेन विधेयमेवम्
जपाय मंत्रं च सुसिद्धिसिद्धं निर्दिश्यतस्मै स दधार मौनम् ॥५३॥
प्रबोधयन्नेवमिमं स दिव्यो महर्षिकल्पो जनकाग्रगण्यः
अंतर्दधे क्वापि रहस्यवेत्ता निराकृतिः सन सहसा निगूढः ॥५४॥

शून्यं नभः शून्यतरं हि जातं कर्तव्यमूढश्च बुधः स्थितोऽयम्
स्मरन् पुनः पूज्यगुरोः प्रबोधम् देवर्षिवर्य-स्मरणे प्रवृत्तः ॥५५॥

निखिलमपर – दृश्यं मज्जयन् ध्यानलोके
दिवि सुरमुनिवीणां केवलं श्रोतुकामः ।
सुमधुरमधुरं खे दिव्यनादं हि शृण्वन्
बहुतर – मयमासीद् वीक्षणेऽस्यैव लीनः ॥५६॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि-रचिते विश्वमानवीये देवलोक-स्थिति निरूपकः परिसमाप्तोऽयमष्टमः सर्गः



अथ विश्वमानवीये नवमः सर्गः

(सुरर्षि दर्शनम्, नवसर्ग सञ्ज्ञकः पुमान्, निखिलार्थ-सिद्धिप्रदायिनी वसुन्धरा, भोगमात्रनिरताद्भुता नाकगतिः, पार्थिवं वैशिष्ट्यम् दिव्यं मानव - जीवनम्

अथ यावदसौ पितृलोकपरम् सुरलोकमवाप्तुमितः चकमे
स्थिरमासनमास स योगरतः स्थिर चित्तगतिश्च बभूव भृशम् ॥१॥
हृदि नारदमेव जपन्ननिशम् स सुरर्षिमृते किमपीह परम्
नहि पश्यति न स्मरत्यथवा दृढ निश्चय एष च तेन कृतः ॥२॥
अचिरात् खलु दर्शनमत्र भवेत् सुरपूज्यवरस्य मुनेः फलदम्
नियतं हि मनोरथ–पूर्तिकरम् दिवि तस्य ततश्च भवेद् गमनम् ॥३॥
अथ भास्वति मंदगतो भवति स्मरणैकरतः स किलैकदिने
श्रुतवान् मधुरां हरिकीर्तनजाम् स्वर–सलहरीं नभसो रहसि ॥४॥
जगदीश्वर सद्गुणगानरतो – भुवन – त्रय–दिव्यगतिश्च मुनिः
गगने विहरन् सहसाविरभूत् महसानुपमेन बभौ च वियत् ॥५॥
स्थितवानथ यावदयं गतवाक् स्वयमेवमुनि–स्तमपृच्छदिदम्
किमहो प्रतिभाति भवान् विकलः क्वच सम्प्रति गन्तुमितो यतसे ॥६॥
विशदं तव हार्दमिदं निखिलम् वद निर्भयमत्र पुरः खलु मे
भुवनेष्वखिलेषु मही महती रमणीयतमाथ च पूज्यतमा ॥७॥
निवसन्नवनीतल–पुण्य पदे – सकलार्थ–सुसिद्धिमति प्रथिते
सुलभं नहि ते किमु जातमहो विमना बत यस्य कृते भवसि ॥८॥
रचितं विधिनेह जनाय न किम् न च किं स्वयमेव सृजेद्धि स
मनुजं हि दिवोऽपि परं परमम् पदमाप्तुमितः स्वधिया सुगमम् ॥९॥
निजकल्पनया ह्यय कलयितुम् क्षमसे नहि किं रमणीयतमम्
नवकल्पनया नवकल्पतरु – र्हपि सत्वरमत्र भवेदुदितः ॥१०॥
इदमस्त्यखिलं ध्रुवमेव परम् भुवनेषु कथाऽनुपमैव दिवः
नहि कं कुरुते सततं तरसा नवकौतुकपूर्ण–महो जगति ॥११॥

नरणाम्प्रकृतिः क्षितिजन्म-भुवाम् अमराश्च सदाऽमरलोक-गताः
सततं मधुमासमयी सुषमा शिशिरा च सदात्र समीर-गतिः ॥१२॥
नियताऽथ च मानववृत्तिरियम् स सदा नवलोक विहार-रुचिः
मनसश्च रथेऽत्र गतेऽपि पुरा सुगमा न गतिर्वत किन्तु नृणाम् ॥१३॥
विकलाः क्षुधया वतनोऽत्र वयम् वितरेन्नच किं दिवि कल्पतरुः
अवनी गतयो विविधाधि-भृतो न नुदन्ति च कान् परिहातुमिमाम् ॥१४॥
तदितो हि गतिः सुगमास्तु यथा सरणीं सरलां दिश कांचन मे
भवताऽनुदिनं बहुशो ह्यथवा दिवि गम्यत एव मुने ! सुतराम ॥१५॥
इति तद् वचनं सुरपूज्य-मुनि-र्नवमेद निशम्य जगाद सखे !
नहि संभवमत्र हि यत् तदहो कथमिच्छति विज्ञवरोऽपि भवान् ॥१६॥
बहुसाधनवद्भिरपीह जनै-र्न पुरा यदि कैश्चन तत्र गतम्
कथमेतु कदाचन तत्र भवान् किमु तर्कयते न परं वत तत् ॥१७॥
अथ नैव तपः कठिनं न जपः न पराक्रम एव तवानुपमः
न च काचन योगज-सिद्धिरहो सुखमेतु दिवि कस्य बलात् ? ॥१८॥
मनुजैः समवेत्य सुरैरथ का क्रियतां वत तत्र नवा प्रगतिः
अवलोक्य हि तत् परिपूर्णतया न वृथा क्रियतां समयापगतिः ॥१९॥
दिवि दैवगणैरथ सन्निधये कतमां त्वमहोऽत्र विधेऽपि कलाम्
पितृवन्न सुरा मनुजैः सुयुजः न च वृत्तिगतिः क्वचनैकविधा ॥२०॥
परिहाय जगत् त्रय सौख्यवरां धरणीम् निखिलार्थ-सुसिद्धिमतीम्
क्व यियासुरहो निज-मोहवशात् नवसीह मुधा वत तत् कथयेः ॥२१॥
प्रकृति हि यथा भुवि रम्यतमा विकसेन्न परत्र तथैव हि सा
दिवसे दिवसेऽत्र नवां सुषमा-मुषसि प्रतिसांध्यमथानयति ॥२२॥
उषसीह यथानुपमा च विभा नवकान्तिमयी नव-शांतिमयी
सुलभा न रजोगुण-चालिनि सा तव देवपदेऽनुदिनं भवति ॥२३॥
नव यत्र रसा अथ सा हि रसा कुरुते सरसं तरसा न हि कम्
सुरलोक - गतो न नवानुभवन् लभते कमपीह जनश्च पुनः ॥२४॥
प्रभु-भक्ति-सुखं ह्यपि नाथ पुमान् लभतां दिवि भोगरतः सततम्
नहि येन समं हि किमप्यपरं सुखमत्र भवे न च शान्ति रहो ॥२५॥

भुवनत्रयवर्ति – समस्तसुखं तव पादतले लुठतादखिलम्
निखिला अमराश्च महर्षिवरा:–तव सौख्यमिमं स्पृहयन्त्वनिशम् ।।२६।।
अथ यत्र भवेत् क्षिति–जीवनतो निखिलोऽपि गवां विषयोऽभिनवः
वद कस्य मनागपि तत्र मनः क्षणमेव कथं कुहचिद् रमताम ।।२७।।
रुचयेऽभिनवं न च वै निखिलम्परिचित्य मनो मुदमेति सदा
स्मृतयो यदि तत्र गता न सन्तु नवा रुचयोऽपि भवन्त्यखिला:शिथिलाः ।।२८।।
न नवाभिरुचि यंदि चेतसि ते न च कर्म मनोऽभिमतं क्रियताम्
समयः स निरर्थकतां हि गतो न कथंचन पूर्तिमिहैति सुखम् ।।२९।।
दयनीय–दशाविषमे दिवि तद्–रहिते निखिलै हि नवानुभवैः
यतसे वत किं ननु यातुमितः प्रकृतिः सदृशी मनुजेऽथ सुरे ।।३०।।
अवलोकयितुं ह्यथ यानमरान् त्वमहो विकलोऽसि भृशं मनसि
नहि पूर्णतया मनुजैः खलु ते जगतीह पृथक्–गतयो नितराम् ।।३१।।
अधिरुह्य विमानमनन्त चरै – र्नर कीर्ति – मनोमुदितैरमरैः
अभिनन्दनमत्र कदा हि नृणाम् प्रवलस्य वलस्य च नैवकृतम् ।।३२।।
भुवि दिव्य–सुखाप्ति–कृते मुदितः सततं कुरु कर्म निजं निखिलम्
नहि खिन्नमतिः कुहचिल्लभते सुखमंशमितं ह्यपि नाकभवम् ।।३३।।
शिवमस्तु मनः शिवमेव वचः शिवमेव च कर्मभवेदखिलम्
अशिवा न मति र्न गति यंदि ते शिवलोकमिहैव भवानयति ।।३४।।
रहितो भ्रमजैरखिलैश्च भयैः स्थिरताम्प्रति – वृत्तिमिहानुभवन्
स्वत एव जनोऽनुभवेत् जगति स्वर्गातिं सुखशांतिमयीं नितराम् ।।३५
स्मर वा सततं प्रयतो नियतं प्रियदेववरं हि तवेप्टतमम्
स्वयमेव भवन्तमितो नयतात् स दिवं खलु तेऽभिमतं कृपया ।।३६।।
कुरु वाऽनिशमेव हरि स्मरणम् कृपयाऽस्य भवेदखिलं सुलभम्
न हरि र्हरितोऽह्यधिकोऽक्षिहरं न च नाकतलं कमलाभवनात् ।।३७।।
अथ मानस सृष्टिरियं निखिला किमिहैव न तन्मनुपे स्वदिवम
निजमानस–हंसविहार–रतः–सुरलोक–सुखं नहि कामयते ।।३८।।
रमतां मनुजस्य च यत्र मनः सुखमेति स तत्र दिवोऽप्यधिकम्
न च किं नु मनोरतये विधिना रचितं क्षितिरम्यतलेऽनुपमे ।।३९।।

परिवर्णितमेव पुरा भगवन्–गुरुभिः श्रुति–सम्मतरूपमिदम्
पठितं च मयापि मनोऽभिरुचि–र्नहि शाम्यति किन्तु विनाप्तिमियम् ॥४०॥
स्वदृशा–परिदृष्ट–सुदृश्यसुखेऽथ परैः परिवर्णितजे च परम्
परमं महदन्तरमत्र भवे भवतीति न कोऽनुभवेत् नु बुधः ॥४१॥
भुवि दिव्य सुखानुभवाय च ये विविधा विधयो भवता विहिताः
निखिलाः खलु ते शुभसिद्धियुताः स्थिरयोगमृते न परं सुलभाः ॥४२॥
भवतोऽपि हता नहि तत्र गतिः क्वचनेति न मामपि किं नु नयेः
नय दिव्यपदे ह्यधुनैव हि तत् परिदर्शय वा तदितो निखिलम् ॥४३॥
न निराकुरुषे यदि बाल - हठम् स्वदिवं तदितोऽप्यवलोकय ते
कथयन्निति तच्छिरसि स्वकरं निदधेऽत्र सुरर्षिवरः कृपया ॥४४॥
नव दृश्यमिदं सहसाऽस्य पुरः परमाद्भुत–माविरभूद् गगने
निखिला च महीतल–संरचना परितोऽप्यभवत् नवलस्यमयी ॥४५॥

भव्य चित्रपट – दृश्यदर्शिनी
चित्रितेव रचनाथ काऽप्यलौकिकी ।

सम्मुखे द्युतिमयी नभस्तले
प्रादुरास सहसा विमोहिनी ।४६॥

दिव्यभा–परिवृतं नभोऽखिलं भासमानमथ तद् बभौ भृशम्
यद् विलोक्य चकितो विमोहितो सद्य एव च सुखी बभूव स ॥४७॥

शीतलः सुखमयः समीरणो
मादकः परिमलः समन्ततः ।

संचरन् – मृदुमृदंग – वादनम्
तेन सार्वमथ – नर्तन ध्वनिः ॥४८॥

मण्डली सपदि देव योषिता – मप्सरोगण – विभूषिता ततः
हावभावमधुरा चंक्रमान्विता सद्य एव समभूत् विभाविता ॥४९॥

सत्वरं ह्यथ कटाक्ष – सायकैः
सा समारभत तं निपीड़ितुम् ।

संनिमील्य नयने यथा यथा
यात्ययम् परतरस्तथा तथा ॥५०॥

संस्पृशन्त्यथ करै मुहुर्मुहुः चक्रुरेनमति – भीत – मानसम्
शान्त – सांध्य – समयेऽपि नीरवे एक एव परितः श्रुतो रवः ॥५१॥

एहि एहि मम पार्श्वतः क्षणम्
यासि धावसि वृथा क कम्पितः ।
पश्य पश्य कमलेक्षणां क्षणं
मां स्वतस्तव किलाभिलापिणीम् ॥५२॥

किं न मूर्ख पिवसि प्रियामिमाम् मादिनीमधर – पान – माधुरीम्
किं न वा मम करोषि मौर्ख्यतः सत्वरं नु परिरंभणं दृढम् ॥५३॥

आचकर्ष च हठतो बलेन तम्
सुन्दरी वत यदैन – माकुलम् ।
प्रार्थितो मुनिवरस्तमाशु रक्षितुम्
हर्तुमस्य विपदं च सत्वरम् ॥५४॥

हे हे सुरर्षिवर संहर संहरेमाम्,
वीभत्स – दृश्य जननीं तव नाकमायाम् ।
द्रष्टुं ह्यतोऽधिकमिमां न खलु क्षमोऽहम्
नाको ह्ययं न नरकः परमो जघन्यः ॥५५॥

वाणीं निशम्य करुणस्वर – विह्वलां ताम्
दिव्यो मुनिस्तमतिभीतमुपेत्य मद्यः ।
हस्तं निधाय वृधमूर्ध्नि भयं निरस्यन्
पप्रच्छ तं वत विभेषि कथं च कस्मात् ? ॥५६॥

त्वं वस्तुतः प्रियसखे नहि राजसोऽसि
स्वाभाविक – स्त्वमसि सात्विकवृत्तिशीलः ।
तत् सात्विकं कमपि ते धरणीतलस्थम्
स्वर्गं हि हृद्यतममत्र समाश्रयस्व ॥५७॥

भूलोकतः परतरो नहि कोऽपि लोकः
नित्यैर्हि सौख्यजनकैः सुगुणै–रुपेतः ।
दिव्या मही प्रियतमा परिपूजनीया
सर्वार्थ – सिद्धिरिह यत्र न कैरवाप्या ॥५८॥

वृन्दावने विहर कुंज निकुंज रम्ये
पश्यन् कलिन्ददुहिता - रमणीयतीरे ।
रासं सुधाकर सुधामय चन्द्रिकायाम्
कुर्वन् कचिच्च मुरली मधुरं निनादम् ॥५९॥
विष्णुः स्वयं समवतीर्य पुनः पुन यान्
नानावतार - कृतिभिः कुरुते कृतार्थाम् ।
तत्तुल्यतां जगति कोऽन्यतरां हि कांचित्
कर्तुं समुन्नमति कश्चिदत्र लोके ॥६०॥
रामादिभिः सह च यां जगृहुरभिजुष्टौ
दिव्यौ मुनि - जिनवरोऽथ च बुद्धवर्यः ।
मोहम्मदश्च जगदीश्वर - मात्र - भक्तः
प्राप्तोऽवतारितरां गुरवश्च सर्वे ॥६१॥
यस्यां विलक्षणतमा जनि - विश्ववंद्या
योनिश्च भाति महती मनुजोऽवतीर्णा ।
नान्या हि योनिरिह कापि ततोऽनवद्या
पूज्या सुरैरपि यथाक्रमतः पुराणी ॥६२॥
यद्यापि मानवविभूतिभिरत्र प्रवीणा
तत्र स्वयम् प्रभुकृतामृतमेव वर्षेत् ।
नाप्यत्र सोऽस्ति नरे नहि कोऽपि भेदः
ज्ञानोज्ज्वलैः स्वनयनै रवलोक्यतां चेत् ॥६३॥
तन्मानवाभ्युदय एव सदेह कार्यः
कार्या नवाभिनवतः कतमानि मन्दाः ।
उच्चं हि मानव - मनोबल - मत्र नित्यम्
साध्यस्य सिद्धिमखिलां नियतानुपैति ॥६४॥

ॐ सूर्य इव विश्वमाह्न विकृत्या वायने वशी ॐ
इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवी प्रसाद शास्त्रि-तनयेन
कवि-सम्राड्-पदवीभूता विद्याधर शास्त्रिणा
विरचिते विश्वमानवीये काव्ये परि-
पूर्णताम्प्राप्तोऽयं नवमः सर्गः
ॐ मृत्यो मां अमृतं गमय ॐ

॥ श्रीः ॥

अथ विद्याधर नीतिरत्नम्

माङ्गलिकम्

स्वतो यस्य समुद्भूतिः स्वयं यश्च समेधते
स्वतः सोऽस्मान्प्रभुर्नित्यम् प्रकुर्यात् स्वावलम्बिनः ॥१॥

नित्यं मौनधरेऽपि यत्र मधुरा गीतिर्जगन्मोहिनी
स्थाणोश्चाप्यथ यस्य शाश्वतमहो लोकेऽद्भुतं नर्तनम्
सर्वे यत्र विरोधिनश्च जहति स्वीयान् विरुद्धान् गुणान्
प्रेष्ठः सोऽत्र विराजतां मम हृदि प्रीतः प्रभुः शंकरः ॥२॥

प्रास्ताविकम्

कवे ! कवय काव्यं तद् येन जीवन – वल्लरी
अपि नैराश्य हेमन्त्या क्षुण्णा तिष्ठेत् प्रफुल्लिता ॥३॥

आत्मविश्वासः

यत्राशा यत्र विश्वासो यत्रोत्साहः स्थिरा मतिः
तत्र श्रीश्च स्थिरं सौख्यं ध्रुवा नीति र्मतिर्मम ॥४॥

दृढो यस्यात्मविश्वासः साध्यं तेन न किं भवे
आत्मैव सर्वशक्तीनां गुणानां चाकरो मतः ॥५॥

यस्य तस्मिन्न विश्वासः तदाज्ञां शृणुते न यः
संशयोद्भ्रान्तचित्तोऽसौ भ्रान्तिमेवाधिगच्छति ॥६॥

साहसञ्च समुत्साहं न श्रान्तोऽपि जहाति चेत्
नूनमाप्नोति सोऽध्वानं भ्रान्तोऽरण्येपि दुर्गमे ॥७॥

अनन्ते के वयं क्षुद्राः क्वचिन्नैवं हि चिन्त्यताम्
पर्वतस्य कणस्याथ स्थितिस्तस्मिन् यतः समा ॥८॥

निर्धनो निर्वलो वास्तां मानवः सन्ततं महान्
मानवै र्मनुष्यैः स्थेयं मानुष्यं हि परा गतिः ॥९॥

किं धनं किं वलं लोके का वा राज्ञां हि सत्कृतिः
नैतिकं वलमाधेयम् येन सर्वम्प्रसिध्यति ॥१०॥

हीनोऽहं हन्त दीनोऽहम् व्यामोहं त्यज सत्वरम्
आकाशो रजसा क्रान्त श्चिरं म्लानो न तिष्ठति ॥११॥

प्रसुप्तं नाम यत् किञ्चित् ज्योतिस्तेऽन्त-र्विराजते
प्रदीप्तं रक्ष तन्नित्यम् स्वयं लोकः प्रदीप्यताम् ॥१२॥

ध्रुवं कर्तुं समर्थोऽहं सर्वं सर्वत्र सर्वदा
सुरक्ष्योऽयं स्वसंकल्पो व्यक्तिभिः सन्ततं दृढः ॥१३॥

स्थिरमतिशक्तिः

असिद्धेऽपि मुहुः साध्ये मति र्यस्य न कम्पिता
साध्यं तस्य हि तत् सिध्येत् परस्मिन्नह्नि नाद्य चेत् ॥१४॥

अमुक्त-धैर्या दृढनिश्चयाश्च
ध्रुवं स्वसाध्ये जयिनो भवन्ति ।
उत्साह – सङ्कल्प – वलान्वितानाम्
स्वयं सहाया प्रकृतिः स्वभावात् ॥१५॥

ज्ञातं न यावद् भवतीह किञ्चित्
विभाति तावत् सकलं विशालम् ।
ज्ञातञ्च सर्वं भवति क्षणेन
आब्रह्म हस्तामलकं जनानाम् ॥१६॥

व्यक्तित्वम् (आत्मगौरवम्)

येन सर्वे प्रसीदेयु – र्येन सर्वश्च भासताम्
व्यक्तित्वं तादृशं रक्ष्यं चन्द्रसूर्य – समं जनैः ॥१७॥

व्यक्तित्वं यस्य हि क्षीणं क्षीणं तस्यात्मगौरवम्
व्यक्तित्वं स्वप्रभावेण स्वयं सर्वत्र भासते ॥१८॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः सर्वमन्यत् परं स्मृतम्
रक्षात्मानम्प्रबुद्धं तद् व्यक्तित्वञ्चेदभीप्ससे ॥१६॥

विधेहि व्यापकञ्चैनम् तथा सर्वहिते रतम्
यथा त्वय्येव पश्येयुः सर्वे स्वात्मानमादृतम् ॥२०॥

यश्चिन्तयति यो वेत्ति चेष्टते यश्च सन्ततम्
विभुः सोऽयम्प्रभुर्नित्यं सर्वेषामात्मनि स्थितः ॥२१॥

अहम्मानपरिहारः

व्यक्तित्वे नह्यहंकारो विनीते तत्प्रकाशते
अहं – गर्वः परित्याज्यो व्यक्तित्वाकांक्षिभि र्हि तत् ॥२२॥

प्रभुणा निहितं लोके वैशिष्ट्यं यत् कणे कणे
अहम्मानेन धीमद्भि – र्न हेयं तस्य दर्शनम् ॥२३॥

अज्ञा नैव तिरस्कार्या विज्ञैस्तद् ज्ञानगर्वितैः
गुप्तं यत्तेषु वैशिष्ट्यं ज्ञेयं तत् सूक्ष्मदर्शिभिः ॥२४॥

विद्वांसः संशयात्मानो प्राकृता दृढनिश्चयाः
मतमेकं हि मूर्खाणां विदुषाञ्च सहस्रशः ॥२५॥

प्रकृत्या प्राकृताः शुद्धाः सत्याचार – परायणाः
वञ्चकै र्भ्राम्यमाणास्ते रक्ष्याः सद्भिः प्रयत्नतः ॥२६॥

यस्तु स्वभावो नियतो हि यस्य
तेषां स कश्चित् सहजो हि धर्मः
तम्पालयन् नैष कदापि निन्द्यः
तमः प्रकाशं न कदापि सूते ॥२७॥

अनित्या लोकवृत्तिः

कथङ्कारमहो कश्चित् लोकमाराधयेदिमम्
चलस्यास्य चला वृत्तिः रुचिश्चास्य पृथक् पृथक् ॥२८॥

स्तवनं निन्दनञ्चैव लोकानां सहजो गुणः
स्तूयते निन्द्यते किं तैं रेतन्नाद्यापि निश्चितम् ॥२६॥

स्पष्टं वद सदा स्पष्टं सत्यं निर्भीक चेतसा
श्रूयते नाद्य येनैतत् तेन श्वः श्रोष्यते ध्रुवम् ॥३०॥

को जानाति कदा किं किं श्रूयते चेह दृश्यते
जीवनं रचितं धात्रा श्रोतुं द्रष्टुं नवं नवम् ॥३१॥

यस्मिन् क्षणे तु यद् दृष्टम् प्रमाणं तद्धि तत्क्षणे
परक्षणेऽनुभूतानां नानुभूतिस्तथा पुनः ॥३२॥

किमेभिः कथ्यते किन्तैः कथ्येत इति शङ्किताः
वेपन्ते कातरा नित्यं साहसी लभते श्रियम् ॥३३॥

कथं वदेयं नहि सत्यमेतत्
सत्यं तदेवेति मृषैव तद् वा ।
उदारभावेन विलोक्यमाने-
स्वस्वक्षणे सत्यमिहास्ति सर्वम् ॥३४॥

"एवम् कृतं तैरिदमद्य विज्ञैः"
"समर्थ्यते तैरिदमेव चाद्य" ।
प्रमाणभूतं न तदस्ति सर्वम्
लोकस्य काचित् नियता न वृत्तिः ॥३५॥

जाते विरुद्धे सकलेऽपि लोके
जहाति मार्गं न निजं मनस्वी ।
सत्यं न जेतुं क्षमते हि कश्चित्
बलस्य काचित् न च तस्य सीमा ॥३६॥

कर्म महिमा

कर्मक्षेत्रे विशालेऽस्मिन्नखिलं कर्मसम्भवम्
तस्मात् कर्मैव संसाध्यं कर्मयोगाश्रितै र्जनैः ॥३७॥

मा वादी र्वचनं दीनं "कर्तु मेतन्न शक्यते"
त्वंहि धाता विधाताच शक्यं कर्तुं न किन्त्वया ॥३८॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मित्र शङ्कां त्यज भयं तथा
अकम्पिते हि सङ्कल्पे लभ्यं लोके न किं त्वया ॥३९॥

भाग्ये यल्लिखितं तत् स्यात् न जाने किं कदा सखे !
शक्यते यत् त्वया कर्त्तुम् कुरु त्वं तद्धि साम्प्रतम् ॥४०॥

चिन्तितं साधयेद् धीमान् उद्यमैः कार्य साधकैः
यद् भावि तद् भवत्येव तत्र चिन्ता नु कीदृशी ॥४१॥

अव्यग्रेण सदा स्थेयम् चिन्त्यं साध्यं पुनः पुनः
सुनिश्चितेऽपि कर्त्तव्ये दैव्यं दुर्मति लक्षणम् ॥४२॥

निरुद्यमः कोऽपि वसेत् क्षणं न
न चापि सर्वत्र भवेत् त्वरावान् ।
नान्तो हि लोके यदि कर्मणां नः
कालेऽपि कालस्य न कश्चनान्तः ॥४३॥

कालस्यकालो न दिशांदिशावा केनापिदृष्टा न पुनर्निरीक्ष्या
सदा चले किन्तु जगत्प्रवाहे लक्ष्यं चलन्नेव समभ्युपैति ॥४४॥

मन्ये न किंचित् जगतीह नित्यम्
क्षणं विभासेत च कीर्ति–कान्तिः ।
अस्त्येव तत् किन्तु यदस्ति हस्ते
तदेव साध्यं विधिना बुधेन ॥४५॥

प्रतिक्षणं कालमुखे विशद्भिः सद्यो विधेयं भुवि यद् विधेयम्
गतस्य कालस्य कला व्यतीता पुनः कदाचिन्न वशीकृताः स्युः॥४६॥

सद्गृहजीवनम्

गृहं तदेतद् भवतीह धन्यम्
धन्याश्च धर्माः खलु तस्य सर्वे ।
यत्र स्वरैक्यं सदृशी प्रवृत्तिः
सहायका यत्र मिथश्च सर्वे ॥४७॥

विहाय धर्मं गृहमेधिनां नः क्व ऐक्यभावः स परत्र लभ्यः
एकस्य दुःखेन हि दुःखमग्नाःसुखेन सर्वे सुखिनश्च यस्मिन् ॥४८॥

गृहस्य – धर्मेण समश्च धर्मो
नान्योहि कश्चिद् भुवि मानवानाम् ।

मूलं स भुक्तेरथ सर्वमुक्तेः
सर्गस्य सर्वस्य च सारसन्धिः ॥४९॥

नैकेन केनापि जनेन गुर्वी शक्या हि वोढुं गृहभारगन्त्री
सहायका यत्र मिथश्च सर्वे वहेत् स्वतस्तत्र मुखेन सापि ॥५०॥

सन्तान सम्पत्ति रमूल्यरत्नम्
सुसन्तति र्लोकहिताय लोके ।
सामाजिकीयं महती ह्यपेक्षा
यत्नेन रक्ष्या ऽस्य सुशिक्षणीया ॥५१॥

राष्ट्रजीवनम्

वुद्धिर्यस्मिन् वलं यस्मिन् यस्मिन् कोपस्य सद्व्ययः
राष्ट्रं तत्सर्वसम्पन्नम् भवेद् राष्ट्रशिरोमणि ॥५२॥

गुप्तं मन्त्रवलं यस्मिन् यस्मिन् चारा विचक्षणाः
जनवन्धुस्तथा शास्ता राष्ट्रं तन्नावसीदति ॥५३॥

राष्ट्रे यस्मिन् कलिर्दम्भः स्वार्थवुद्धिश्च जृम्भते
विश्वासो न मिथः कश्चित् पतनं तस्य निश्चितम् ॥५४॥

यस्मिन् दानं नहि त्यागः न वा योगः स्वकर्मसु
भोगलिप्सा-समाक्रान्ते राष्ट्रे तस्मिन् कुतो गतिः ॥५५॥

लोकसेवा विधातव्या राष्ट्रसेवानुवर्तिभिः
समष्टेः सेवनाद् व्यष्टिः स्वयं लोके निषेव्यते ॥५६॥

श्रेणीमोहः परित्याज्यो रक्ष्यं सत्यञ्च सर्वशः
नैवैकस्मिन् दले सर्वे भवन्तीह महाशयाः ॥५७॥

हंहो धूर्ताः परित्यज्य व्याजसेवां वकव्रताम्
विधेया कापि सा सेवा यया सर्वोदयो भवेत् ॥५८॥

यदा यदा भ्रातृविरोध – वृद्धिः
तदा तदा भारतयुद्ध – मेति ।
सद्भ्रातृभावे च विवर्धमाने
रामायणीयो विजयः स्वयं स्यात् ॥५९॥

स्वार्थशोधनम्

न्यूनान्न्यूनं सदा रक्ष्या भावनेयं दृढा हृदि ।
"सिद्धे भवति मत्कार्ये सिद्धं तस्यापि तद् भवेत्" ॥६०॥

लोकान् प्रतार्याथ विमुष्य तेषाम्
धनं भविष्यामि सुखोपभोगी ।
स्वप्नेऽपि मा चिन्तय चित्त एवम्
सुखी न कश्चित् परभागहारी ॥६१॥
स्वार्थैक सिद्धौ निरते हि चित्ते
सर्वेऽपि दोषाः स्वयमुद्भवन्ति ।
परार्थरोधः कुपितश्च कश्चित्
स्वार्थं समूलं बहुधा विहन्यात् ॥६२॥

रे रे मानव सावधान-मनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
स्वार्थं साधयितुं परार्थहनने मातत्परो भूः क्वचित् ।
स्वार्थः सिध्यतु वा न ते न नियतं ह्येतत्तु किञ्चित् क्वचित्
लोकः किन्तु यतोह्यशान्ति-पतित स्तस्यैव सेयं कृपा ॥६३॥

धन्यं स्त्रीजीवनम्

अहो धन्यं स्त्रिया जन्म स्नेहोत्सर्गदयामयम्
तितिक्षा – व्रत – सम्पन्नं नित्यं सेवा – परायणम् ॥६४॥

रक्षकं कुलधर्माणां सर्वेषाम् पालने रतम्
तत्तद् – यज्ञ – तपो – दान – प्रभुभक्ति – समुज्ज्वलम् ॥६५॥

यौवनं न सदा स्थायि रक्ष्यं रूपं हि सात्त्विकम्
भाव्यं स्त्रीभि र्विशालाभिः पूर्णाभि र्मातृगौरवैः ॥६६॥

ईर्ष्या कलह दम्भानाम् अहङ्कारस्य यत्स्थलम्
तन्नित्यं सर्वं दुःखानाम् मूलं हन्त भवेद् भवे ॥६७॥

जीवनगतिः

शिक्षाया रीतयो नाना प्रकृतेः शिक्षणालये
समेति सम्मुखं यद्यत् शिक्षा ग्राह्या ततस्ततः ॥६८॥

प्राप्यं न किंचिदेकान्तं क्वचिज्जीवनवर्त्मनि
साम्यवैषम्ययो र्योगे नित्यं तल्लभते गतिम् ॥६९॥

कालस्य गतयो भिन्ना भिन्नाः सन्ति स्वभावतः
अनन्तं जीवनं येषाम् सर्वं तैरनुभूयते ॥७०॥

दुःखञ्चेत्सौख्यमप्यस्मिन् जीवने सुलभं न किम्
सुखे दुःखे समा रक्ष्या धीरै र्वीरा मतिस्ततः ॥७१॥

तीव्रे शोक – समुद्वेगे शून्यं सर्वं विलोक्यते
भावी किन्तु पटाक्षेपः तस्मिन् दृश्येऽपि नूतनः ॥७२॥

दुःखञ्चेदागतं किञ्चित् स्थाता तन्न् कियच्चिरम्
क्षणिकेऽस्मिन् भवे किं तत् शाश्वतं यत्तु तिष्ठति ॥७३॥

जीवने द्वन्द्व सम्पूर्णे सौख्येनैकेन मोदताम्
युगपन्नैव लभ्यन्ते तानि सर्वाणि संसृतौ ॥७४॥

भवजीवन सरणिः

स्वस्थे हि देहे हृदयम्प्रसन्नम्
बुद्धिः प्रसन्ना च सुखी सदात्मा।
लोकस्थिती रम्यतमा विभाति
स्वास्थ्यस्य रक्षा प्रथमं विधेया ॥७५॥

क्षणं किञ्चिदिह ज्ञेयं क्षणं किञ्चिच्च खेलनम्
क्षणं ह्रासो विकासश्च क्षणेऽन्यस्मिंस्तथा लयः ॥७६॥

प्रेम्णा किन्तु क्षणाः सर्वे संजायन्ते सुधामयाः
पश्य सर्वं जगत् प्रेम्णा प्रेम्णा सर्वैश्च सद्वदेः ॥७७॥

महान् जगत्यां जठरानुयोगो
यस्योत्तरं नित्यमहो प्रदेयम्
ज्वाला न शान्ता जठरेषु यावत्
तावन्न काचित् सुलभेह शान्तिः ॥७८॥

तृप्यन्ति निखिला देवाः सन्तृप्ते जठरानले
षड् रसैरेव संतृप्ते रसाः सर्वे सुखावहाः ॥७९॥

पूर्णा स्वसंसृतिः कार्या हृष्टा पुष्टा रसान्विता
स्वयं शुष्का परेषां तां कथं सा पोषयिष्यति ॥८०॥

यद्यहं नास्मि संसारे सोऽपि नास्त्येव मन्मतौ
यत्राहं तत्र संसारः क्व संसारो मया विना ॥८१॥

क्वचिद् विस्मृतिगर्तेऽस्मिन् मयि लीनेऽपि दुस्तरे
नूनं स्थास्यति संसारो न मे किन्तु परस्य स ॥८२॥

मया दृष्टं भवे यद्यद् अनुभूतञ्च यद्यथा
मय्येव तस्य सत्स्थानम् सर्वेषां संसृतिः पृथक् ॥८३॥

अनाख्यितावृत्तिः

अर्थम्विना सर्वमनर्थ – शीलम्
सर्वैरुपार्ज्यः प्रथमं स तस्मात् ।
दुःखावनं – रेप न किन्तु काम्यः
धर्मं विनार्थो न धनं विषं तत् ॥८४॥

अर्थाश्रिता चापि गति र्जगत्याम्
जनै र्विधेया न तथा प्रधाना ।
अस्याः पृथक् काचन नैति चिन्ता
पृथक् न काचित् सरणी च लक्ष्या ॥८५॥

धनेन हीनो नहि कोऽपि हीनः
बलेन हीनो नहि वा विहीनः ।
मानेन हीनो नर एव हीनो
निजात्मदीनः सततं कृशो यः ॥८६॥

प्रचण्ड – मार्तण्ड – कराभिदग्धः
छायां समाश्रित्य विहीनपर्णाम् ।
तुष्येद्यथा प्राणधरो हि कश्चित्
तुष्येत्तथा स्वल्पमपीह लब्ध्वा ॥८७॥

अनाश्रिता वृत्तिरिहाप्यते चेत्
किमिष्यतां तत्परतोहि लोके ।
परस्य हुङ्कारमयै विदीर्णा
न जीविता नापि मृता भवेम ॥८८॥

मृतो मृतो नैव कदापि कश्चित्
जीवन्मृतः किन्तु मृतः सदैव ।
मृतः पुनर्जीवति जीवलोके
जीवन्मृतो जीवतु किन्तु कस्मात् ॥८९॥

शठेशाठ्यं समाचरेत्

शठे शाठ्यं हि सन्नीतिः शठे शाठ्यं समाचरेत्
शठे शाठ्यं न यः कुर्यात् स ज्ञेयः शठपोषकः ॥९०॥
अलभ्येऽपि क्षमा पात्रं क्षम्य एव क्षमा क्षमा
तत्रादण्ड्योऽपि दण्ड्यः स्यात् यत्र दण्ड्यो न दण्ड्यते ॥९१॥
विशाले मानस – क्षेत्रे द्योतमाना स्वभावतः
मातृरूपा क्षमाशक्ति निर्दयेषु न लभ्यते ॥९२॥
परार्थनाशाय मतेः प्रसारे
पैशुन्यवृत्तौ परगर्हणे च ।
खलं न कश्चित् प्रभवेद् विजेतुम्
प्रतारणे भावनिगूहने च ॥९३॥
ब्रूते न नीचोऽहमिदं हि नीचो—
न नीचता किन्तु तिरोहिता स्यात्
गुप्तापि सा विस्फुरतीह काले
व्रणे यथा पूयनयो विकारः ॥९४॥

रे दम्भिन् किमु लोकवञ्चनरतो भ्रान्तान् विधत्से जनान्
दम्भस्य स्थिरता क्षणाय सततं सत्यस्थितिः शाश्वती ।
सत्या लोकहिताय चेत्तव रतिः कीर्तिम्परां प्राप्नुयाः
नोचेत् निश्चितमेव तेऽपि पतनं पापस्य पातो ध्रुवः ॥९५॥

कृतार्थता

परार्थसिद्धौ निजकार्यसिद्धिः
सुखे परेषां निजसौख्यवृद्धिः ।
दृश्येत येनापि जनेन लोके
नित्यं भवेन्नूनमसौ कृतार्थः ॥९६॥

एतन्मदीयं नहि तत् त्वदीयम्
एषैव माया विबुधैरभाणि ।
तद्युष्मदस्मद् – भ्रमरान् निवार्य
पारे सुखं याहि सखे भवाब्धेः ॥९७॥

स्वार्थाय तत् तच्च परार्थहेतो—
मिथ्यैव भावो बत कोऽपि तेऽयम् ।
विनिर्मितं सर्वं – विधायकेन
स्रष्ट्रा यतः सर्वजनाय सर्वम् ॥९८॥

स्वार्थेन पूर्णे मनुजेऽपि नित्यं
न स्वार्थमात्रैव निरीक्षणीया ।
तस्मिन् प्रसुप्ताः करुणाप्रवाहा
अपि प्रयत्नेन विभावनीयाः ॥९९॥

कस्यापि जन्तो यदि दीनहीनाम्
दशां त्रिलोक्यापि दयादरिद्रः ।
द्रुतं द्रुतश्चेन्न तवान्तरात्मा
मनुष्यरूपं विजहीहि सद्यः ॥१००॥

कृत्यञ्चेत् कृतमत्र किञ्चिन्न सखे तेनैव मा भूःकृती
सिद्धं यत्खलु तत्सदा परिमितं साध्यस्य नान्तः क्वचित् ।

नित्यं किञ्चन धावनं कुरु ततो नित्यं नवं चिन्तयेः
यावेयं जगतीतिवीथि–पथगा–नैष्कर्म्यनिस्था स्थितेः ॥१०१॥

शास्त्राण्येव वदन्ति नैव वदते वार्ता यदः शास्त्रतः
तस्माद्धेहि सदैव सन्ततमना यच्चापि देयं भवेत् ।
भूदानं धनदस्य दानमथवा विद्याप्रदानम्परम्
एकां वा क्षणमेव काञ्चन शुभां सद्भावनाश्चात् क्रियाम् ॥१०२॥

व्यर्थं किमर्थं विकलेन साध्यम्

येनैव तृष्णाकुलया स्वबुद्धिः
स्वयं न तस्याः कुरुते सुरक्षाम्
स्वात्माविकीर्णं खलु तस्य वृत्तिः
व्यर्थं किमर्थं विकलेन साध्यम् ॥१०३॥

लोकशिक्षा

रागद्वेषौ समुद्भूतौ नियन्त्र्यौ तत्क्षणं जनैः
शनैः शनैः प्रवृद्धौ तौ भवेतां भीषणौ पुनः ॥१०४॥

हे मित्र नित्यं वद सावधानम्
कर्णं न लोकः सहते प्रमादम्
शान्त्येन चित्तेन विचिन्त्य तस्मात्
शनैः शनैरात्मरवं निवेदत् ॥१०५॥

विचिन्त्यते यत् क्रियते न तच्चेत्
न तेन सिद्धिर्न विदेत् शान्तिम् ।
किञ्चित् करोत्येव तदत्र कुर्वन्
निधेहि तस्मात् स्वमनः क्रियायाम् ॥१०६॥

वचो विचार्यैव यथानिवेश्यं विना विवेकम् नहि तत् प्रयोज्यम्
तस्य प्रयोगे निपुणः प्रवीणस्तदाकुलस्त्वाकुल एव लोके ॥१०७॥

अनीप्सिते चेप्सितं कुर्वते त्वं तथा प्रयत्नः सततं विधेयः
स्वतः प्रसन्नं हृदयं यथा स्यात् यथा न क्षुब्धिः स्वयमेव कुर्यात् ॥१०८॥

रत्नं हि यद् भवति तस्य न चेत् सुमूल्यम्
लोकैर्हि वुद्धमिह मोह परैः कथञ्चित् ।
कल्पे गतेऽपि नियतं भविता प्रदीप्तम्
तस्याभिभूतिरपि चेह भवेद् विशुद्धयै ॥१०९॥

साफल्ये यदि मोदसे विफलतावाप्तौ कुतः खिद्यसि
सिद्धे द्वे विधिनिर्मिते भगवती संसिद्धयसिद्धयात्मिके ।
साफल्येऽपि पराभवः परमहो गुप्तः क्वचित् सुस्थितेः
वैफल्ये च तथैव कश्चन जयो विज्ञैः स्मृतौ तौ समौ ॥११०॥

मानवजीवनवैचित्र्यम्

अहो विचित्रा मनुजस्य वृत्तिः
क्षणे विशाला कृपणा क्षणेन ।
ब्रह्मस्वरूपा प्रथम – क्षणे चेत्
कीटेन हीनापि परक्षणे सा ॥१११॥

क्षणैर्मितं जीवनमस्ति सर्वम्
मिति र्न काचिन्न्व भवे कृतीनाम् ।
किमत्र चित्रं जगति प्रकृत्या
तृष्णावतारो यदि मानवः स्यात् ॥११२॥

कामं स्वदेहं विनिपातयेद्यः
कारुण्यपूर्णः पररक्षणाय ।
स्वार्थाय सर्वान् विनिहन्तुमिच्छुः
स एव सद्यो भवतीति चित्रम् ॥११३॥

किं किं न दुःखं न जनो जनेभ्यो
दत्ते न लोके स्वसुखाय हन्त ।
अद्यापि दृष्टो नहि किन्तु कश्चित्
पूर्णेन सौख्येन भुवि प्रपूर्णः ॥११४॥

अहिंसनं मानवधर्मसारः
हिंसापि किन्तु प्रकृतावपेक्ष्या ।

क्वचित्तयैवेह भवत्यहिंसा
कालानुकूलो मनुजस्य धर्मः ॥११५॥
सर्वोऽपि लोको नरकेन्द्रवर्ती
न तस्य सत्ता पृथगस्ति तस्मात् ।
तथापि तत्त्वापि विमर्द्य मूढो
निजात्महत्या – निरतो जनोऽसौ ॥११६॥
क्षमोऽत्र कः कश्चन शिक्षितुं किम्
पूर्णोह नैजा ननु कस्य शिक्षा ?
अहम्मतिः किन्तु जनं विचित्रा
विज्ञं परस्माद् वहुवा विवत्ते ॥११७॥
अहो व्यतीतो नु कियान्न कालः
प्रशिक्ष्यमाणस्य जनस्य लोके ।
भ्रमन्सदा भ्रान्तमति र्जगत्याम्
अद्यापि किं किन्तु स वेत्ति सत्यम् ॥११८॥
प्राचीनतायाञ्च नवीनतायाम्
भेदो न कश्चित्परमार्थतोऽस्ति ।
तथापि नित्यम् मनुजस्य दृष्टिः
विगाहते नव्यमियं स्वभावात् ॥११९॥

विश्ववन्धुत्वम्

नायं जनः स्वदेशस्य सजातीयश्च नैष मे
अज्ञानां भावना ह्येषा वयं विश्वस्य वान्धवाः ॥१२०॥
न को देशः स्वदेशो नः वान्धवा न च के भवे
मर्त्या एव वयं सर्वे मातास्माकञ्च भूरियम् ॥१२१॥
अपरं मन्यसे यं त्वं न परः स परः सखा
प्रेमार्द्रा यदि दृष्टिस्ते सर्वम् प्रेममयं जगत् ॥१२२॥
सौख्ये सर्वस्य नः सौख्यम् हिते लोकस्य नो हितम्
प्रियाः प्राणा हि सर्वेषाम् सर्वेऽपि प्राणिनो वयम् ॥१२३॥

परेषाम् पालनं यस्मात् चित्ते यस्माच्च सान्त्वना
धर्मः स एव सद्धर्मः प्रभुर्येन प्रसीदति ॥१२४॥
विश्वदृष्ट्यैव विश्वात्मा विश्वं पुष्णाति सन्ततम्
दृष्टिः क्षुद्रा ततो हेया विधेया विश्वहर्षिणी ॥१२५॥
अभेदे भेद बुद्धिः किम् ज्ञान दैन्येन तन्यते
सम्वदध्वं सदा सर्वैः सङ्गच्छध्वञ्च सर्वगः ॥१२६॥

व्यापिनी दृष्टिः

विश्वरूपा वयं सर्वे नित्यं विश्वहितैषिणः
भेदका भेदवुद्धीनां सर्वसंकोचगत्रवः ॥१२७॥
त्रैकालिकार्थवेत्तारः स्वभावादार्षदृष्टयः
किमद्य विस्मृतात्मानः क्षणं वयमुपास्महे ॥१२८॥
क्षणिकं वत काव्यं तत् क्षणमुत्तोजकं हि यत्
उपास्या शाश्वतीधारा स्थिता यत्र क्षणाः स्वयम् ॥१२९॥
हेयम्पुराणं नवमेव सेव्यं न श्रेयसे वुद्धिरियं विभक्ता
लोके कवीनां हृदि वर्तमानं सर्व नवं सर्वमथेह जीर्णम् ॥१३०॥
युगानुकूला कवितेह काचित् काचिच्च तस्मात्परतोऽपि पश्येत्
द्वयोर्हितं यत्र तदेव काव्यं सत्यं शिवं सुन्दरमातनोति ॥१३१॥
कविना गीयते गीतं चकितेन क्वचित् स्वतः
क्वचित् कर्त्तव्य-वुद्धया वा विश्वकल्याण-कारिणा ॥१३२॥
तदेव काव्यमुत्कृष्टं साम्प्रतं मन्यते वुधैः
सर्वेषां हि हितं, येन प्रेरकं यच्च जीवने ॥१३३॥
शब्दार्णवे वयं मग्नाः केचिद् वैचित्र्य – चित्रणे
जीवनं विस्मृतं सर्वैः गेयं जीवन जीवनम् ॥१३४॥

लोक संग्रहः

लोककाव्यं समुद्भेद्यं कर्तव्यो लोक संग्रहः
प्रभावो व्यापकस्तस्य स्पष्टोक्तिस्तत्र भूषणम् ॥१३५॥

लोकदुःखेन विक्लान्तः कविः कश्चिद् भवेद्यदि
तस्यानुभूति – विस्फोटं वारयेत्को धरातले ॥१३६॥

कवीनामेव काव्येषु शब्दो ब्रह्मत्वमाप्नुते
तत एव नवा सृष्टिः सृज्यते च विदाम्वरैः ॥१३७॥

आकाशः कम्पते सर्वो धरा सर्वा प्रकम्पते
परस्मिन्नपि कम्पः स्यात् कवेश्चेतसि कम्पिते ॥१३८॥

एष पौण्ड्रो महाशंखः पाञ्चजन्यस्तथैव हि
नातः परतरं किञ्चित् लोकेऽस्मिन् शक्ति–साधनम् ॥१३९॥

घोषोऽसौ शंखनादस्य श्रूयते पूर्वसूरिषु
भूयः स एव संघोष्यो लोकोऽयं बधिरो महान् ॥१४०॥

के वयं सम्मुखे तेषां नैवं चिन्त्यं कदाचन
अक्षुण्णैवात्मनः शक्तिस्तेषाञ्चैवात्मजा वयम् ॥१४१॥

व्यासो हि सत्यं भगवत्स्वरूपो
नैतेन नव्यः परमस्त्युपेक्ष्यः ।
कश्चिद् विधि नैष विधे विधाने
व्यासादयो नैव पुनर्भवेयुः ॥१४२॥

लोकगतिः

लोकेन शिक्षा न कदापि काचित्
प्राप्ता पुरा नाप्यधुनापिविगच्छेत्
लोकस्वभावः स्थिर एव नित्यम्
न तस्य वृत्तिः परिवृत्तिमेति ॥१४३॥

न कानि युद्धानि बभूवुरस्मिन्
युगानि लीनानि नवेह कानि ।
तथापि लोके परिवर्तितं किं
तथैव युद्धं प्रलयस्तथैव ॥१४४॥

असंख्यलोका अथ यत्र नित्यं
भवन्ति नश्यन्ति च बुद्बुदाभाः ।
को नाम तस्मिन् गणयेन्नु तत्त्वान्
यदीह किञ्चिद् विलयम् प्रयाति ॥१४५॥

निर्जीववस्तु प्रतिचित्रमस्मिन्
सजीववद्भ्रान्तिवशाद् - विभाति ।
न कोऽपि जातो न च कोऽपि नष्टः
यद् दृश्यते पश्य तदेव जोपम् ॥१४६॥

सेवां च तस्यैव कुरुष्व नित्यं
यतस्व वेत्तुं ह्यथ तद्रहस्यम् ।
स्वप्नो यथार्थः स्वयमेष तेस्यात्
फलं च तत्त्वान् त्वमतो लभेथाः ॥१४७॥

नैराश्यविजयः

विकारमेष्यत्समवेक्ष्य चित्ते
स्थेयं सतर्कैरिह नित्यमेव ।
उपेक्षितञ्चेत् प्रथमक्षणे तत्
भवेत्सुसाध्यम् न पुनः सुखेन ॥१४८॥

हठेन चित्ते तमसाभिभूते
प्रसन्नतायाञ्च विलोपितायाम् ।
खिन्नं निरीक्ष्या प्रकृति विशाला
मुहुर्विकारैं विकृतापि दृष्टा ॥१४९॥

विघ्ने समागच्छति दीन-चित्तैः
चिन्त्या न नित्यं निजहानिरेव ।
स जातु किञ्चन्नवमर्थसिद्धे
र्विलक्षणं बीजमहो प्रकृत्याः ॥१५०॥

बिभेषि किं मित्र मुधैव मृत्योः
कालम्बिना क्वैष समीपमेति ।

प्रतिक्षणं तस्य मुखे विशन्तः
के के न जीवन्ति रणाङ्गणेऽपि ॥१५१॥

को जानाति कदा नु कर्दमतलात् जायेत कः पङ्कजः
का वा दुर्दिनखिन्नमानसतलात् स्रोतस्विनी संस्फुरेत् ।
चित्रा सृष्टिनटी श्रयेत नितरां नानात्मिकां भूमिकाम्
यां यां यत्र दशां गतः पिब सखे तत्रैव तस्या रसम् ॥१५२॥

नैराश्यं कुरुते मतिं तव सखे यस्मिन् क्षणे कुण्ठिताम्
आह्लादस्य गतिं निरुध्य च यदा गाढं तमः सर्पति ।
रे नैराश्य पिशाच याहि परतो मत्पार्श्वतः सत्वरम्
इत्येवं सुसमाहितः स्थिरधिया तद्दूरतो निक्षिपेः ॥१५३॥

ध्रुवोऽवलम्बः

कृते यत्नेऽपि नैराश्यं मोहयत्येव चेन्मतिम्
आशायाःस्रोतसे तस्मै सर्वमव्याजमर्प्यताम् ॥१५४॥

क्षुब्धे भवाब्धौ सततं स एकः
संरक्षकः सर्वसहायकश्च ।
तस्मात्परः कोऽपि न कर्णधारो
नचापि कश्चित् सुदृढश्च पोतः ॥१५५॥

मर्त्यैर्यथा यद् घटते जगत्याम्
दृष्टेऽपि मौनं विवशं तथा तत् ।
सदैव रक्ष्यः सुदृढोऽवलम्बः
सर्वाश्रयाणाम् परमाश्रयस्य ॥१५६॥

किं यासि बन्धो नतमस्तकस्त्वम्
चिन्ताभिभूतो विकलेन्द्रियश्च ।
संसारसिन्धौ तरणिं विहारी
स्वयं क्वचिन्नेष्यति रम्यतीरम् ॥१५७॥

तदीयनाम्नि स्मृतिमेव याते
स्वतो न जाने कुत एति शान्तिः ।

प्रयाति भीतिः प्रपलाय्य सर्वा
विभाति भव्या परितश्च सृष्टिः ॥१५८॥

रे चित्त किं भ्रमसि चञ्चल तेषुतेषु
नानाविधेषु विषयेषु मृषैव नित्यम् ।
एकेन तेन कुरुषे नहि किं रतिं ते
यम्प्राप्य नव्य मपरं किमपीह नाप्यम् ॥१५९॥

आत्मनिवेदनम्

एकश्चापि पदश्चेन्मे सम्विशेत् हृदि कस्यचित्
कृतार्थं तद्भवेन्नूनम् चित्ते सर्वम् प्रतिष्ठितम् ॥१६०॥

अधीत्य यत्तच्च निगम्य लोकात्
स्वयञ्च तत्तत्सुविचिन्त्य किञ्चित् ।
निवेदितं यत् किमपीह विज्ञाः
तदेव कार्यं कृतिभिः कृतार्थम् ॥१६१॥

नैराश्याक्रान्तचित्ते भवजलधि–परिभ्रान्तपोत–प्रतीके
मर्त्ये नित्यं नवाशा–नववल नियत–स्वात्मसामर्थ्यभर्त्री।
लब्धा देव्याः प्रसादात् चरणकमलयोरर्पिता मातृदेव्या
लोकानां सत्ववृद्ध्यै भवतु कृतिरियं कापि विद्याधरस्य ॥१६२॥

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादतनय—
विद्याधर शास्त्रि विरचितं विद्याधर–
नीति रत्नम्परिपूर्णम्
॥ इतिशम् ॥



अथ वैचित्र्य-लहरी

यस्मान्नास्ति परं विबोद्धुमपरं यत्र स्थितिः शाश्वती
यत्राशा लभतेऽन्तिमाश्रयपदं नैराश्यनक्रै - र्धृता ।
यं ध्यात्वा भवसागरभ्रमरतः प्राणी पुनः सन्तरेत्
पायान्नः परमः पिता स सततं कल्याणमूर्तिः परः ॥१॥

यत्तान्त्री सततं तरङ्गित-गति-र्गीतं हि तत्तन्नवम्
तां तां चाभिनवां विचार-लहरीं रम्यां समुद्भावयेत् ।
साम्ब, त्वं मम मानसादपि नवां हृद्यां जगन्मोहिनीम्
नृत्यन्तीं सरसां तव प्रियतमां कांचित् स्रवेन्निर्झरीम ॥२॥

सद्-ज्ञानामृतपायिनी रससरित् सद्भाव - कल्लोलिनी
नित्यं नव्य-विलासिनी नवनवोल्लासस्य सम्पादिनी ।
नाना शास्त्र-विचक्षणा प्रतिपलं वीणास्वरामोदिनी
लोकेऽस्मिन् सततं भवेद् विजयिनी सर्वात्म विद्योतिनी ॥३॥

कस्मात् कारणतः पुनर्हि बलवद् वैरस्यमेतद् भवे
प्रायोऽस्मान्निखिलान् कुतश्चन हठादागत्य संबाधते ।
कालेऽस्मिन् तव शाश्वती-मधुमती मौनं कथं न्वाश्रयेत् ?
औदासीन्यमिदं कुतश्च जननि त्वय्याविशेत् तत्क्षणे ॥४॥

विश्वेशः परमेश्वरो हृदि हृदि क्वास्ते नहि व्यापकः
पश्यामो हि वयं हरौ हरे च यदि तं कृष्णेऽथ लीलारते ।
जैनाश्चापि जिने निजं प्रभुवरं बौद्धाश्च बुद्धे पुनः
अल्लायां च मुहम्मदा मुनियतं पश्यन्ति तं व्यापकम् ॥५॥

येऽन्ये नास्तिक-दर्शने च निरता स्तेचापि कंचिन्नवम्
निर्माय स्वमनोऽनुकूल-गुणवन्-सर्वेश्वरं ह्यात्मनः ।
किं तस्यैव न शिक्षणं बहुमतं श्रेष्ठं न वा मन्वते
भेदे सत्यपि तत् तदाकृतिगते भेदो न कश्चिन् प्रभौ ॥६॥

भक्तोऽहं नहि नापि वेद्मि विधिना स्तोतुम्प्रभो ! त्वाम्पुनः
सम्प्राप्तुं खलु ते कृपां किमपरं लोके विधेयं मया ।
जाने नैव च कर्मयोगमथवा ध्यानस्य वा प्रक्रियाम्
जाने किन्तु सुनिश्चितं न जगति त्वत्तः परो रक्षकः ॥७॥

अज्ञेया प्रकृते. र्गति हि निखिला नित्यं चलायाश्चला
रूपं किं किमहो नवं प्रतिपलं नेयं बिभर्ति क्षणे ।
लीलेयं जगदीश्वरस्य परमा माया हि केश्चित् पुनः
सत्यैव स्वगताविधं च निखिला वैज्ञानिकै र्मन्यते ॥८॥

माहात्म्यं खलु ते प्रभो निगदितुं क्षुद्रोजनः कः क्षमः
कैः कैं र्नैव सदैव तत् प्रतियुगं ज्ञातुं नु यत्नः कृतः ?
सर्वे तत्र तथैव किन्तु सुधियो वंभ्रम्यमाणाः स्थिताः
नाहम्प्राप्तमतः कदाचन यते हास्यास्पदां तां गतिम् ॥९॥

मन्ये सन्ति भवे प्रभो, तव कृपा यैः प्राप्यते सत्वरम्
संसारेऽपि न सन्ति ते विचलिता भक्तौ स्थिराश्चाथ ते ।
मूढोऽहं चपला च चित्तलहरी लक्ष्यं न किञ्चिद् ध्रुवम्
किं कुर्यामिति नैव वेद्मि कृपया कंचित् प्रकाशं कुरु ॥१०॥

वैचित्र्यं किमतः परं परमहो नित्येऽप्यनित्या स्थितिः
सर्वत्राप्यथ भासते क्षणमियं नित्या परं दृश्यते ।
शान्ति र्यत्र च राजतेऽनवरतं तत्रैव सर्वं भ्रमद्
भ्रान्तं जीवमिमं करोति विकलं केयं स्थितिस्ते प्रभो ॥११॥

मर्त्योऽसौ प्रकृतिश्च नैव कुहचित् श्रान्तिं लभेते क्षणम्
नित्यं काऽप्यभिनीयते ह्यभिनवा याभ्यां भवे नाटिका ।
नैका काचन तत्र दृश्य – सरणि र्नैकश्च कश्चिद्रसः
यद्यत्सम्मुखमेति तत्तदलिभि – र्मानं ह्यतः – पीयताम् ॥१२॥

दृष्ट्वा किन्तु गति मनुसुते – रासेविता साम्प्रतम्
आमोदो भुवि तिष्ठतु कोऽपि नहिवा प्रश्नः समुद्वेजकः ।
शान्तिः काचन सुस्थिरा नहि भवे ज्ञानं न वा निश्चितम्
जातं सर्वमहोऽधुना प्रतिपदं सन्देह – दोलास्पदम् ॥१३॥

को जानाति युगै र्नु कतिभि – र्जाता वयं मानवाः ?
अस्मात्मानुष–जन्मनोऽथ कतमा योनिः पुनः प्राप्यताम् ।
व्यर्थं यापय न क्षणं न सुलभः कालोऽनुकूलः सदा
साफल्यं खलु कालिकं हि निखिलं कालं सदा रक्ष तत् ॥१४॥

विश्वस्मिन्निखिलं हि विश्वपतिना ह्येकेन सृष्टं ध्रुवम्
तस्मिन्नेव च लीयतां पुन–रिदम् न ह्यत्र कश्चिद् भ्रमः ।
एतत्पश्यति निश्चितं मममति – र्नाहं पृथक् तत् ततः
निर्भीकं हि कथं कुतः पुनरियं भीति हि मां बाधते ? ॥१५॥

केनेदं ननु बुध्यते प्रिय सखे किंस्यात् परस्मिन् क्षणे
कार्यं यत्करणीयमद्य सुधिया कार्यं हि तत् सत्वरम् ।
हस्ते सम्प्रति यद् विहायसि पुन र्गन्ता क तद् वेत्ति कः
तत्तल्लोक – विहारिणः प्रतिपलं कालस्य गुप्ता गतिः ॥१६॥

सत्ये नास्ति भयं क्वचिन्मतिमता मेषा ध्रुवा सम्मतिः
मिथ्याचापि यथा तथा विजयते लोके परम् प्रायशः ।
शान्तिः किन्तु न कापि तत्र मनसा सम्प्राप्यते सुस्थिरा
शान्तिः सत्यरतैव भाति नितरां सत्यं ह्यतः सेव्यताम् ॥१७॥

शुद्धा यस्य भवेद् विचार सरणिः कर्माणि शुद्धानि च
स्वस्थोऽसौ भवति स्वतः प्रतिदिनं निद्रा च तस्य स्थिरा ।
नेयं किन्तु सहेत दुर्मतिमहो कस्यापि लोके क्षणम्
तस्माद्रक्ष सदैव ते सुविमलां बुद्धिं ह्यपापां भवे ॥१८॥

वर्णो रम्यतरो न कश्चन भवे नाकर्षको वा स्वयम्
वृत्तिर्यस्य हि यादृशी तदनुगं सर्वम्प्रियं स्यात् स्वतः ।
ये ये चेह पुन र्विरुद्धगतिका – स्ते स्युः स्वतो ह्यप्रियाः
विश्वीं रक्ष सदा स्ववृत्तिमिह तन् या स्यात् समेषाम्प्रिया ॥१९॥

जानेऽहं सकलं भयं स्वमनसो नैर्बल्यमात्राश्रितम्
नैर्बल्यं मनसस्तथोद्गतमिदं तै स्तै र्मृषा संशयैः ।
यत्नैः कैश्चन निर्मला यदिमतिः संरक्ष्यते साधकैः
भीतिः काचन तत्र नैव मनसि स्यान्नपुनः प्राप्नुयात् ॥२०॥

सर्वं शून्यमिवेह विकास – रहितं संदृश्यते रोगिणे
स्वस्थः सर्वमिदं च हृष्टमनसा हृष्टं जगत् पश्यति ।
लोकोऽयं नहि तत् स्वयं सुखमयः दुःखाकरो वा क्वचित्
अस्मत्कर्मभिरेव सन्ततमयं तत्तत् – स्थितौ नीयते ॥२१॥

लोके किंचन न प्रियं स्वयमहो किंचिन्न वाऽस्तेऽप्रियम्
सर्वं वृत्तिगतं जगद् भवति नः नैतत् स्वतन्त्रं क्वचित् ।
यद्यत्स्यादनुकूल—मत्र निखिलं तद्रोचतेऽस्यै स्वतः
सर्वं च प्रतिकूलतां गतमिह क्षेपाय तस्यै भवेत् ॥२२॥

प्रातः संस्मरणीय – सौम्यचरितो नित्य – म्प्रसन्नाननः
शान्तात्मा मधुराकृति र्मधुरवाक् ख्यातो महान् सज्जनः ।
क्रोधान्धः स कथं क्षणेन सहसा कृष्णाननो जायते
सत्त्वं वा तमसाभिभूतमखिलं प्रायः स्वभावाद् भवेत् ॥२३॥

प्रोद्भूताः तृणवत् पदे पदे प्रतिपलं मर्त्या असंख्या धराम्
आच्छाद्याद्य समन्ततोऽपि निखिलां घ्नन्तोऽखिलान् प्राणिनः ।
अद्यैवात्र न चेत् निजोदरदरी–पूर्त्यै क्षमाः स्मः क्वचित्
काऽस्माकं गति–रस्तु भाविसमये चिन्ता ममेयम्परा ॥२४॥

यन्त्राधीन–गति – र्जनो निपतित–स्तस्यावशं हा वशे
जातः सम्प्रति निर्बलो बत तथा नास्ते यथाऽयं क्षमः ।
यातुं क्वापि पदं विना नतदहो कैपोन्नति–र्हन्त नः
एकैकेन च तेन नेह कतिशो लोकाः कृता निष्क्रिया ॥२५॥

आनीतं भुवि तै र्नवं युगमहो लोके ह्यपूर्वं हि यत्
सर्वाऽपि प्रकृति जिता च खलु तैः क्वास्ते न तेषां गतिः ।
तेभ्यः किंचन दुष्करं नच भवे वैज्ञानिकै र्घोष्यते
सर्वं सत्यमिदं च भाति कथनम् स्वप्नो न चेत् स्यादयम् ॥२६॥

पश्यामः शतशः क्षणे निपतितान् यानाद्धि लोकान्न कान्
विद्युद्दीप्तिमिमां पलेन तमसाच्छन्नां च कस्मिन् दिने ।
अस्त्राणामथ सर्वनाशकरणे भीमं क्षमाणां क्षणे
आविर्भूतिरियं कृता न खलु किं ह्येभिर्नवै – रेव न ॥२७॥

अस्मात् हन्त परं किमद्य परमं चिन्त्यं जगत्यां भवेत्
क्रव्यादाः पशवोऽपि येन मनुजै र्नीताः समुत्कृष्टताम् ।
सभ्यत्वं ह्यथ संस्कृतिश्च नृगता सर्वा गता दुर्गतिम्
विज्ञै स्तत्समवेत्य चिन्त्वमधुना रक्ष्यं कथं मानुषम् ॥२८॥

अद्यत्वे कति सन्ति किन्तु वत ते यैः शोधितुं यत्यते
स्वीया सम्प्रति दैनिकी खलु गतिः कैश्चित् शुभैः कर्मभिः ।
तुच्छैस्तुच्छतरै हि कृत्रिम – गुणैः सम्मोहिता वस्तुभिः
तेपामेव हि संग्रहे किमनिशं व्यस्ता न वर्तामहे ॥२९॥

शक्तिर्भूमिगता गताहि निखिला जातो रसो नीरसः
निःसत्वा वनराजयश्च निखिला जाता भृशं निष्फलाः ।
नेदं सत्वरमेव चेन्मनुसुतै – रानीयतां स्वस्थितौ
शंके मानव–शेमुपी स्वयमियं क्षीणा भवेत् सत्वरम् ॥३०॥

ज्ञाते चापि विलक्षणेऽतिगहने संसार – सारेऽखिले
किं सौख्यं समवाप्यतां नु सुधिया ज्ञाने न सौख्यं स्वतः ।
ज्ञानं तत्तु नपुंसकं न सरसं नास्ते च शान्तिप्रदम्
यावत्तन्न भवेत् प्रभोः स्मृति–सुधा–सम्प्लावितं जीवने ॥३१॥

दृष्टं किं नियतं हि किंचन भवे यत् स्यात् क्वचित् सुस्थिरम्
संसारे सरणात्मके प्रतिपलं सर्वे सरामो वयम् ।
मासा यान्ति तथैव वर्ष सरणिः कालो न रुद्धः क्वचित्
रुद्धाचेत् न पुरास्य काचन गतिः नेयम्पुनः – रोत्स्यते ॥३२॥

वांछामः सततं भवे हि निखिलं सौख्येन पूर्णं भवेत्
संसारः सरतीह किन्तु सततं नित्यं स्वघुर्यामयम् ।
द्रष्टुं सम्प्रति ते नवंक्रम – मिमं कांक्षा मदीयाऽधुना
विश्वासो मम निश्चितश्च सुदृढो नेदं हि ते दुष्करम् ॥३३॥

कोऽसौ संसरणात्मकस्य हि रसः कश्चिन् पुराणोऽद्भुतः
पायम्पायमपीह येन नहि नः तृप्तिः क्वचित् काऽप्यभूद् ।
जीर्णाश्चापि समुद्यताश्च यमहो पातुं शिशुभ्योऽधिकम्
मोक्षेच्छा–नुगतै र्मुमुक्षुमिरयं शून्येऽपि पेपीयताम् ॥३४॥

त्रैलोक्यार्थं – रहस्यभासन परा ग्रंथा न केके मया
प्राधीताः परिमुच्य सर्वमितरत् संसार सौख्यं सखे ।
प्राप्तव्यम्पर – मस्ति किं ततग्रहो नाद्यापि तद्ज्ञायते
ज्ञानं मे क्षणिकं घने तमसि यत् प्रायो यथा पूर्ववत् ॥३५॥

भूमानं ह्यवहेल्य जीवनमहो क्षुद्रत्वमाप्ता वयम्
विस्मृत्य त्रिविधं स्वरूप मधुना तद्व्यापकं मानुषम् ।
जाता भौतिक – यन्त्रमात्र रचना – गर्वेण किं फुल्लिताः
सर्गोऽप्येष पुरा नवो न वहुशः सृष्टो न किं पूर्वजैः ॥३६॥

कालेऽस्मिन् परमं विलक्षण–महो ज्ञानं बुधै र्घोष्यते
मोक्षं तं कथयन्ति यत्र तिमिरे रम्यं जगल्लीयते ।
संसारः स्वयमेव मुक्ति – सदनं कंचिन्न वध्नात्यसौ
येये कर्मपरायणा जगति ते मोक्षान्विता हि स्वतः ॥३७॥

का शान्तिश्च न लभ्यतेऽत्र जगति भ्रान्तावपि प्राकृतैः
ध्वान्ते चापि न किं चरन्ति शतशः प्रायः प्रसन्नाः खगाः ।
दूरं तत् कुरु तेऽखिलं नयनयो – स्तेजोहरं भास्वरम्
ज्ञानं यद्धि वृथाऽभिमान–जनितं मौर्ख्येऽपि सौख्यम्परम् ॥३८॥

संसारे स्थित एव शान्ति मधुरं कालं नयेयं यथा
पश्यंस्त्वां सकले चराचरगणे मुग्धो भवेयं तथा ।
या माया विदधाति मूढमनसो मर्त्यान् महामोहिनी
सा मह्यं सततं भवेद्धि सरला सत्यस्य चोद्भासिनी ॥३९॥

रेरे मूर्ख न नास्तिकै–स्तव मनोभावै र्भवेः कुण्ठितः
एभिः संकुचितात्म–वृत्ति जनितै र्लाभो न कश्चिद् भवेत् ।
त्रैलोक्येऽपि गतिर्हि यस्य स कथं संकीर्ण-वृत्ति-र्भवेत्
श्रद्धा यस्य विभौ प्रभौ स्वयमसौ लोके विभुर्जायते ॥४०॥

आयु र्वै शरदांशतं मनुसुतैः सर्वैः सुखेनाप्यताम्
सर्वैरेव च जीवनाय सुखिने पाल्या यमाः सन्ततम् ।
सामान्यानवबोध्यं किन्तु नियमान् नित्यं स्वतो ह्येव हा
जानन्तोऽपि पले पले प्रतिदिनं ह्रासे रताः स्मो न किम् ॥४१॥

कल्याणं यदि भूतलेऽनवरतम् प्राप्तुं सवे ते स्पृहा
संकोचं त्यज सत्वरं च कुरु ते चेतो विशालम् परम् ।
बंधुत्वेन यदीह पश्यसि जनान् प्रेम्णा हि सर्वान् हृदा
मत्वा त्वामपि ते स्ववांधववरं भक्ता भवेयु-र्हि ते ॥४२॥

मार्गः कश्चन दुर्गमोऽपि सुगमः कैश्चित् कृतश्चेत् क्वचित्
केचिन्मृत्यु-मुखे गता अपि पुन-स्तैर्वा समुज्जीविताः ।
नूनं ते भुवि सन्ति मानववरा वन्द्याश्च ते सन्ततम्
सर्वेऽन्ये पशुभिः समा हि विकलैः साध्येत किञ्चिन्न तैः ॥४३॥

गंगासीकर-शीतलं मममनो रम्यं सदा शीतलम्
नह्येतन्च वृथैव कैश्चन मनः-स्तापैः प्रतप्तं भवेत् ।
शुद्धं वा जगती तले न कुहचित् प्राप्यम्प्रभो ते भवे ?
यद्वा त्वं स्वयमेव नासि भगवन्नेक-स्वरूपः क्वचित् ॥४४॥

अन्येषां कुशलेन यस्य कुशलं दुःखेन दुःखं तथा
धन्यः कोऽपि न सज्जनः शुचिमतिः प्रीतः परप्रीतिभिः ।
सर्वेष्वेव मति-र्यथैयमनला जागर्ति तच्चिन्त्यताम्
को लाभोऽत्र चिन्तनेन न यत-श्चिन्ता प्रणश्येन्नृणाम् ॥४५॥

इति श्री विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादतनयेन—
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिता शाश्वतेन
वर्तमानेन च जीवनगति-वैचित्र्येण
सम्पन्ना वैचित्र्यलहरी परिपूर्णा ।
ॐ असतो मा सद् गमय ॐ



॥ श्रीः ॥

अथ मत्त-लहरी

आयाहि बन्धो ! परिहाय खेदम् सद्यः समुल्लासयितुं मनस्ते
संस्थापितः कोऽपि मयाऽद्वितीयः सुरालयोऽयं नवशक्ति-केन्द्रः ॥१॥

आलस्य दोषानाखिलानपास्तुम् समूलमुन्मूलयितुं च चिन्ताम्
रोगानशेषान् त्वरितं निरस्तुं नैतेन तुल्यं किमपीह लोके ॥२॥

सुरासुरैश्चापि न या सुलभ्या तां ह्येव कृत्वेह सुखेन लभ्याम्
समर्प्यते स्नेहभृते हि सर्वं स्निग्धाः समायान्तु पिबन्तु कामम् ॥३॥

भ्रान्ताः किमर्थं भ्रमथ-प्रमादात् श्रमेण पूर्णे विपिने विधीनाम्
सदा विशोके प्रियभावलोके सद्यो विहर्तुं नहि किं त्वरध्वे ॥४॥

यदृच्छया लब्धमिदं कथंचित् दिन द्वयं क्वापि घटीं च याते
तामेव कर्तुं सरसां स्वमौग्ध्यान् न चेष्टसे किं हृदयापमर्दिन् ॥५॥

लभ्यं मुहु र्जीवनमत्र नेदम् सदा शुभो वाऽवसरो न लभ्यः
हसत् सुवासित मधुमेऽद्य हृद्यं सद्यो न पातुं बत चेष्टसे किम् ॥६॥

पापाग्र-हृच्चाप्यथ शैलराट् किम् क्रीडारतो नेह सदा सरिद्भिः
पंकेऽपि चालिंगितुमत्र किं वा नित्यं विवस्वान नलिनीं न याति ॥७॥

उत्थाय शीघ्रं खलु घोषये-स्तत् सुरैव नाके प्रथिता सुधेति
नाकश्च नान्योऽस्ति सुरालयान्मे लेशोऽपि दुःखस्य न यत्र कश्चित् ॥८॥

निपीय तां वेत्ति कदा नु कश्चित् काचिन् जगत्यां भवतीह भीतिः
ये वंचिताः सन्ति सुरा कृपातः तानेव भीतान् कुरुते कृतान्तः ॥९॥

सरीव काचिन् स्मृतिरत्र रम्या चित्तम्प्रमत्तं हि यया स्वतः स्यात्
तुल्या तया काऽस्त्वपरा स्मृति र्नः स्मृतौ स्मृतौ यत्र नवास्ति चिन्ता॥१०॥

विभीषिका हन्त नवैव काचित् प्रतिक्षणं यत्र जनानुपैति
विमोहकं तत्र च किं धरायाम् विमोहितं येन भवेन्मनो नः ॥११॥

भूलोकमेनं परिहाय जीर्णम् श्रयस्व तद्देशमतो नवीनम्
भीतिं जना जातु न यान्ति यस्मिन् प्रफुल्लचित्ताश्च वसन्ति नित्यम् ॥१२॥

क्षोण्यां गवेष्यं स्थिरमत्र किं वा प्राणैः प्रयाणाय सदैव सज्जैः
उद्देश्य-शून्ये भ्रमति भ्रमाब्धौ वाति प्रवाते प्रलयं करे च ॥१३॥

न यत्कदाचिद् घटतां ततोऽपि ग्रस्ताः प्रवुद्धा वहुधा भवेयुः
अत्याहितेऽपि व्यसने परं किं चिन्तान्वितः कोऽपि भवेत्सुरालये नः ॥१४॥

सामाजिकी चेह विभीषिका चेत् कुर्यात्कथं सापि सुरा-वियुक्तान्
स्वाधीनवृत्ते हननं विहाय व्यक्तिः समाजे लभते फलं किम् ॥१५॥

शोकस्य मूलं प्रथमं समाजः पापस्य मूलं च स एव नित्यम्
यस्मिन् मिथो बंधन-वृद्धिहेतो र्यत्नः समाजः स मतो जनानाम् ॥१६॥

आपानशालैव विकासयित्री स्थितेः सामाजस्य-सुखप्रदाया
परस्परं प्रेमसुधा प्रकामम् समर्प्यते यत्र समादरेण ॥१७॥

संवेदनं यन्मदिरालयेषु - स्वाधीन वृत्तिश्च - जने जने या
कस्मिन् समाजे ह्यपरत्र लभ्या पदे पदे राज्य विधान-विद्धे ॥१८॥

संस्थाप्य नव्यं स्वदलं कदाचित् प्रसार्य वादञ्च नवं कदाचित्
लूतेव लोकान् परिगुण्ठ्य जाले मायाविनो राज्यरसं पिबन्ति ॥१९॥

मत्तांश्च ये नः कथयन्ति विज्ञा हितं स्वयं तै र्जगतः कृतं किम्
रक्षेद् विधाता नहि कोऽपि धीमान् कांश्चित्प्रकुर्यात् निजजालवद्धान् ॥२०॥

स्वार्थस्य सिद्धयै वकवन्धुभि र्यै र्माया प्रसारः क्रियते विचित्रः
प्रवंचना - पाटवमेव नूनं निरूपणं बुद्धिमताम् प्रधानम् ॥२१॥

साध्येत सत्यं हि यथात्वसत्यं स्थाप्येत मिथ्या च सताम्नदेषु
विलक्षणां ताम् कथयन्ति विज्ञा बुद्धिम् जनानाम् अभिमानमत्ता ॥२२॥

अनादिकालान् प्रकृतिं विधत्ते योगेन यस्याः पुरुषं भ्रमन्ताम्
विकारसर्गस्य विशिष्ट हेतोः बुद्धे विकासोऽभिमतः कथं ते ॥२३॥

निरन्तरं चिन्तनमात्रलग्णो ज्ञानाग्निदग्धोऽथ लभेत शंमकिम्
बुद्धोऽपि यत्केवलमत्र शून्यं दुःखञ्च सर्वं प्रकृतौ नुलोके ॥२४॥

न यस्य लेशोऽपि कदापि दृष्टः लयाय तद् ब्रह्मणि नोदयन्तः
अस्मान्न जाने क नयन्ति विज्ञाः संसार सौख्याद् विरतान् विधाया ॥२५॥

सनातनीयं लहरी सुराणाम् "पिवाम सोमम् अमृता अभूम"
आतृप्ति पेयो रस एषतस्मात् अलौकिकः कोऽपि भुवि प्रसूतः ॥२६॥

भाण्डं सुराया अपकं च लब्ध्वा काम्यं किमन्यज्जगतीतलेऽस्मिन्
द्वावेव धात्रा रचितौ ह्यपूर्वौ सर्वं मृषाऽन्यत्तु ततोऽतिरिक्तम् ॥२७॥

धर्मस्य चर्चा च सुरालयेऽस्मिन् क्षणाय कैश्चिन्न कदापि कार्या
विलक्षणो यस्य कृतः प्रसारो शिष्यैः प्रशिष्यैश्चकले युगेऽस्मिन् ॥२८॥

स एव धर्मो हि महान् मतो नः सौहार्द-वृद्धि नियतास्तु यस्मिन्
प्राप्यं फलं यस्य च मर्त्यलोके न च प्रतीक्ष्या परजन्म-लब्धिः ॥२९॥

अधार्मिकाश्चेह वदन्ति ये नः नतैः समः कोऽपि परोऽत्र धूर्तः
सदैव तत्तद् विषयेषु मग्ना स्मरन्ति धातून् सततं स्वशक्त्यै ॥३०॥

अन्तस्तले किंचन भिन्नमेषाम् वहिश्च किञ्चित् पृथगेव नित्यम्
तेभ्यः परः पापपरोऽस्तु कोऽन्यो वयं तु सर्वत्र सदैक भावाः ॥३१॥

किं शिक्षणीयं च बुधैर्वराकैः श्रुत्वा च शास्त्राणि किमत्र वेद्यम्
एको विधिर्यत्र विभीषिकायै रागस्तथैकः सततं निशम्यः ॥३२॥

क्षणं क्वचित् कोऽपि भवेन्न मग्नो न वा हसेत् कोऽपि सुरालयेषु
गांभीर्य माधाय च जीवनेऽस्मिन् ज्ञातुं रहस्यं निखिलैः प्रयत्यम् ॥३३॥

ब्रह्माण्ड गर्ते पतितैः-रणावे दृष्टं क कैः किन्तु मुखं लघिम्नः
किमत्र तद्यत् स्वत एव लोके जनं गभीरं कुरुते न जातु ॥३४॥

उल्लासपूर्णो लघिमा सुरम्यः स्वजीवने कोऽपि सदैव रक्ष्यः
सुखेन दुःखाम्बुनिधौ तु येन क्वचित्तरेदूर्ध्वतलेऽप्लवमानः ॥३५॥

जनैरतो नित्यमुपासनीया हृद्या सुरा लाघव - जन्मदात्री
लभ्यो यतः स्यात् स्वयमेव कश्चित् हर्ष-प्रकर्षोऽनुपमो जगत्याम् ॥३६॥

काम्यं किमन्यज्जगती-तलेऽस्मिन् अतोऽतिरिक्तं विविधाधिपूर्णे
हासो विलासः स्वयमेतु कश्चित् स्वयं विकासो मनसो भवेच्च ॥३७॥

जानाति कः किं नु परे प्रभाते निद्रात्यये दृश्यमिहावलोक्यम्
पश्यत्सु सर्वेष्वपि नैव सद्यो विलीयते हन्त नु किं भवेऽस्मिन्? ॥३८॥

निषेव्य तां शुद्धमतिः परन्तु स्थितिं सदा याति परां तुरीयाम्
सर्वत्र शान्ति विमला च कान्ति-र्विलोक्यते तेन भवे समन्तात् ॥३९॥

क्षणा लघिम्नो न सदा सुलभ्याः क्षणाय गेहे गृहभार – भग्नैः
विशेषतो धर्म-भयैश्च तैस्तै र्विज्ञोपदेशेन कृतै र्विभीतैः ॥४०॥

ते दण्डनीयाः सततं नृपालै – र्वयं सुपूज्याश्च सदैव तस्मात्
न्यायालय-न्यायगतिश्च शोच्या मिथ्यापि सत्यं न यथास्तु तर्कैः ॥४१॥

अन्तस्तलं नः स्फटिकेन तुल्यं स्फुटं नभोवन्निखिलं च बाह्यम्
न गोपनीयं किमपीह वृत्तं सत्यं सुदीप्तं सततं स्वदीप्त्या ॥४२॥

अस्मन्मते ब्रह्म शिवस्वरूपं समाधिलीनं सततं स्वमग्नम्
क्षणाय नायं दयिता-वियुक्तः चिन्तान्वितो वा जगती-क्रमेण ॥४३॥

तस्माद् वयं चापि समाधि लीनाः सुराकृपातः सततं भवामः
विस्मृत्य लोकस्य गतिं च जीर्णां नवां स्वसृष्टिं सततं सृजामः ॥४४॥

स्ववर्तमानं मुदितं च कुर्मो यत्स्यात् तथा तन् पुनरेतु कामम्
भविष्य-चिन्तां कुरुते विवेकी विवेक-हीना न वयं भवामः ॥४५॥

स्वाभाविकं हार्दतरंग-मत्तं स्वतः समुद्भूतमहो कुतश्चित्
गीतं तथा काव्यमहोऽस्मदीयं नैतन्मति-क्लेश-भवं कदाचित् ॥४६॥

प्रफुल्लिता हृत्कलिका स्वभावात् दिव्यं हि सत्सौरभमेव वर्षेत्
रसा न के के च ततः स्ववेषु-र्म्लाना कृता चेन्न कुतर्किभिः सा ॥४७॥

भावेषु मुख्यश्च रसेन्द्रवर्ती प्रेम्णो हि भावः कथितः कवीन्द्रैः
विहाय मत्तान् न परत्र लभ्यः शुद्धो ह्ययं क्वापि सुधीन्द्र गोष्ठ्याम् ॥४८॥

न कृत्रिमं किंचन तेषु जृम्भेत् दम्भेन केनाप्यथ ते न युक्ताः
प्रेम्णैव सर्वैरिह ते वदन्ति प्रेम्णो स्पृहा चैषु भवेऽखिलेभ्यः ॥४९॥

स्वाधीनाः स्वमनोऽनुकूल – रतयः सर्वे वसेयु र्भवे
वद्धाः सन्तु न ते तथा प्रतिपदं सामाजिकै र्वन्धनैः।
भीतिः कापि विधेश्च नहि तान् भीतान् विधत्तां क्वचित्
मुक्तानां समयोऽखिलः सुखमय आस्तां हि पानेन नः ॥५०॥

इतिश्रौतस्मार्तभूषण—श्री देवीप्रसाद–सुतेन कविसम्राट्
पदवीभृता विद्याधर शास्त्रिणा समुद्भाविता
सहृदय-हृदयहरिणी मत्तलहरी प्राप्ता स्वपरिपूर्तिम्
ॐ नमः शिवाय ॐ



॥ श्रीः ॥

अथ आनन्द-मन्दाकिनी

प्रीतो निशम्यास्मि सखे वचस्ते स्फुटं त्वयागादि यदद्य हृद्यम्
दोषः स दोषो न मते बुधानां स्पष्टोक्ति–सौन्दर्य–गुणोज्ज्वलो यः ॥१॥

सत्यं जगत्यां नहि मानवीयं दिव्यं सदेदं सुलभं शरीरम्
गुणाश्च ते ते बहुधात्र सर्वे दोषानुविद्धाः सहसा भवन्ति ॥२॥

तस्मात् प्रयत्नेन सदैव सर्वैः रक्ष्यं स्वचित्तं सततम्प्रसन्नम्
त्वयोपदिष्टेन पथा न किन्तु प्रसन्नता सा जगतीह लभ्या ॥३॥

न केवलं विस्मृतिमात्र–मग्नैः शक्या स्वयात्रा सुगमा च कर्तुम्
न चाप्यशान्तो भवतीह शान्तः परस्य दोषाब्धि – विवर्धनेन ॥४॥

विगाह्य चानन्तमपीह नान्तो यस्याः कदाचिद् भुवनेषु भावी
पदे पदे सा परिवर्धमाना क्षणद्वयायैव न लोक – यात्रा ॥५॥

तृप्तो न लोकेऽथ भवेच्च कश्चित् जनो मनोमोदक–मात्रमश्नन्
अपेक्ष्यते प्राणवरै यदर्थम् श्रमेण साध्याऽत्र पदार्थ – लब्धिः ॥६॥

उल्लासपूर्णो लघिमा प्रियस्ते ममापि वन्द्यो स तथैव नूनम्
उपेक्षणीयो नहि किन्तु भेदः सनातनेऽथ क्षणिके विभक्तः ॥७॥

या ते सुरा सा न सुरा विशुद्धा क्षणाय यस्यां मनसो विलासः
मुह्येत कस्तत्र विहाय मूढान् क्षणद्वयं यत्र रसानुभूतिः ॥८॥

आगच्छ दिव्यं पिब तन्मदीयम् रसं न यः स्यात् विरसः कदाचित्
पानेन यस्याथ न केवलं त्वं परेऽपि सर्वे मुदिता भवेयुः ॥९॥

यदद्य गीतं मधुरम्प्रियं ते न तत् परश्वोऽपि तथैव रम्यम्
अलौकिकं गीतमिदं मदीयम् श्रुत्वा कृतार्थं कुरु जीवनं तत् ॥१०॥

स्नेहेन पूर्णां मधुरां च हृद्यां तामद्य संचारय मित्र–दृष्टिम्
क्षणाय यः कोऽपि तयास्तु दृष्टः स एव जायेत तवानुगामी ॥११॥

क्वचिन्मरौ तप्तपथ-प्रपायां तद्रक्ष शीतं मधुरञ्च वारि
निपीय यत् यान्त्रिक-शीतलात्मा शुभाशिषां सत्स्तुतिमादधीत ॥१२॥

निदाघ - दाहाकुलपक्षिपोताः प्रशुष्क-कण्ठा मृग-शावकाश्च
आचम्य तां ते मदिराम्प्रसन्नाः किं किं हि नृत्यं न च दर्शयेयुः ॥१३॥

व्यथाञ्च कांचिद् यदि जीवभाजां क्वचित् कदाचित् कुरुषेऽपनीताम्
विलोक्य तान् सम्मुदितान्समस्तान् भवेः कृतार्थो हि भवे न किं त्वम् ॥१४॥

प्रतिक्षणं यत्र नवानुभूतिः पले पले यत्र नवश्च हासः
आनन्द-सारे जगतः प्रसारे रंगस्थले तत्र कुतोऽस्तु खेदः ॥१५॥

दुःखाभिभूता विकला त्वयेयं कुतोऽद्य हन्ताविगता प्रवृत्तिः
किं कोकिलानां मधुरेऽपि गाने झंकाररावं च मृषा शृणोषि ॥१६॥

सर्वात्म-सम्पत्ति-समन्वितस्त्वं किमात्मनो विस्मरणाद् बिभेषि
सुखप्रदै नैव न कैः पदार्थैं धात्रा धरित्री समलंकृतेयम् ॥१७॥

सुखं जगत्या-म्प्रसृतं न किं किम् कस्यां गतौ वा न रसोर्मि-लास्यम्
आनन्दमूले प्रकृतिप्रसारे दुःखं कुतोऽस्मिन् लभतां प्रवेशम् ॥१८॥

मनो न चेद् बल-वृत्ति-मात्तम् लोकोऽपि दुःखी प्रतिभातु नायम्
मनोबलं चेत्सुदृढं त्वदीयम् सर्वत्र सौख्यानुभवः स्वयं स्यात् ॥१९॥

शान्तंस्वरूपं स्मर शान्तचेताः शान्तिम् परां प्राप्स्यसि सद्य एव
न कापि भीति र्न च कापि चिन्ता पुनर्मनस्ते विकलं-करोतु ॥२०॥

हलाहलस्वागतमन्तरा कैः सुधा सुरै-र्वा क कदापि लब्धा
प्रचण्डतापातप - तापितैव - पृथ्वी पयोदैः क्रियते प्रसन्ना ॥२१॥

क्षुद्रेण केनापि पराजयेन ग्लानिं न वीरो भजतेऽत्र धीरः
दुःखेन साध्यं कुरुते सुसाध्यम् भवाब्धि-मत्येति हसंश्च तूर्णम् ॥२२॥

मनोऽनुकूलः स्व-विधिर्विधेयः मर्गस्य दोषाः परिमार्जनीयाः
क्रान्तिश्च सर्वत्र तथा विधेया यथा स्वयं सर्वमिदं प्रशुध्येत् ॥२३॥

स्वार्थेन पूर्णा विविधा हि दोषाः सर्वं समाजं यदि दूषयन्ति
अपेक्ष्यते मार्जनमेव तेषाम् निपीय नैषां हि भवेन्निरोधः ॥२४॥

संभूय लोके भवतीह यात्रा संभूय सर्व-व्यवहार – सिद्धिः
परस्परं भावय सौख्यभावम् यन्नात्मिका जीवगतिः समस्ता ॥२५॥

शून्ये न किंचित् परियाति शून्यं शून्यं विहाराय ततं विधात्रा
शून्ये विधेयोऽनुपमः स्वसर्गः मनोऽनुकूलश्च विधिर्विधेयः ॥२६॥

शून्ये स्वतन्त्रे विधिना प्रदत्ते यद्रोचते तल्लिख तत्र कामम्
विधेर्विधानम् रचितं त्वयैव त्वयैव कार्यं च कृतार्थ-मेतत् ॥२७॥

समुन्नतिः सा च त्वया विधेया भवेन्निपातो न यतः कदाचित्
नरर्येश्च यातः सकृदेव यस्या – मग्रेसरन्नेव – सरेदनन्ते ॥२८॥

अगाध संसार समुद्र गर्भे गुप्तानि रत्नानि न कानि कानि
निमज्जनं चेन्न तदाप्ति-हेतो – र्न निन्दनीया रचना विधातुः ॥२९॥

यच्चापि निन्दां कुरुषे स्मृतीनां कृतं प्रशस्तं किमु जीवने ते
लोकोपकारेऽविगता व्यथा चेत् स्मृतिः सदानन्दमयी हि तस्याः ॥३०॥

विना विवेकं हि कदापि वन्धो नैकं कश्चित्तेऽग्य पदं निधेहि
अगाध कूपे पतितस्य जन्तो र्निष्कासनं स्यात्सहजं पुन र्न ॥३१॥

मर्त्यैः सदा विस्मृतिमात्रनग्नै र्लब्धं कदाचिन्न विचार-सौख्यम्
विवेक-सौख्याऽभिगतानुभूति – र्लोकेऽतिनैतेऽनुभवान् समस्तान् ॥३२॥

ज्ञानेन शंका यदि वर्धते ते विनोदमात्रा परिहीयते वा
जहीहि सद्यः स्वकुतर्क-शीलम् विश्वास-राशिं च विवर्धयस्व ॥३३॥

अनैरगम्यां बहुरूप-भावाम् मायागतिं ज्ञानदृशा विलोक्य
विज्ञः स्वपाशांश्च परस्य पाशान् विच्छेद्य सर्वान् कुरुते विमुक्तान् ॥३४॥

तपः प्रधानाच्च गृहस्थधर्मात् मन्द-क्रियत्वादलसश्च्युतः सन्
समाज दोषान् बहुमन्यसे किम् नानागुणानां जनकः समाजः ॥३५॥

मौर्ख्यात्परं संसृति-सद्विकासे दुःखप्रदं नास्त्यपरं हि किंचित्
न वेत्ति यज्जीवन रीतिनीतिम् वैकल्यमाप्नोत्यत एव मूढः ॥३६॥

कूपे न कश्चित् पतति प्रबुद्धः सत्यानुभूतौ न च संशयः स्यात्
स्वात्मस्थितिः पूर्णतया समीक्ष्या परात्मनिन्दा न मुधा विधेया ॥३७॥

यथाविरक्तो लभतेऽनुरक्तिं तथाऽनुरक्तो लभते हि तां न
जलाद् बहिः संस्थितमेव पद्मं जलाशयानां सुषमां तनोति ॥३८॥

गांभीर्य-हीनेषु सरोवरेषु – क्षणं तरंगालि – गति – विभाति
विहायशून्यं गहनं वियद् वा क्वान्यत्र रूपाणि समुद्भवन्ति ॥३९॥

उद्वेग-विघ्नो न च कर्मयोगी स्वकर्मलीनः स सदैव मुक्तः
क्रिया विहीना स्थितिरेव तांस्तान् पाशान्नवान्-नित्यमिहा-तनोति ॥४०॥

भीमैः प्रवातैरथ वज्रपातै विचालितेऽस्मिन् जगती-प्रवाहे
न लाघवं ह्येव सदेह सर्वैः – रुपास्यमास्ते हि हितार्थिभिः ॥४१॥

माध्वीकमत्तैः क्षणमीक्षणीयं कथं च तेषाम्प्रिय-वाटिकेयम्
क्षणेन दग्धाऽथ कथं विशीर्णः स्वप्नो हि तेषामयमद्य सद्यः ॥४२॥

कथं च तेषामिदमद्यशुष्कं सुधासरो हन्त समस्तमेव
कथं च जाता तमसैव पूर्णा तरंगशाला हि विहार भूमेः ॥४३॥

न कल्पनामात्रमिदं जगत्तद् न वा समाजोऽपि सदैव निन्द्यः
सत्कर्मभूमि-र्निखिला धरेयं क्षेत्रं च धर्मस्य फलेत् समाजे ॥४४॥

एको न कश्चिन् स्वमते विकासं नवात्मबोधं लभते कदाचित्
कर्त्रे सदा कर्मकृते हि तत्तद् – अपेक्ष्यते यत् पृथगेव किंचित् ॥४५॥

दानाय, सत्यस्य परीक्षणाय – न्याय्याय कार्याय च नित्यमेव
स्थितिः समाजस्य सदैव सद्भिर्ह्यपेक्ष्यते पुण्यमयी समस्तैः ॥४६॥

तस्मात् प्रबुद्धो भव कर्मयोगिन् यत्ते विधेयं च विधेहि सद्यः
कालः करालो मदिरालयेभ्यो नैवातिरिक्तं समयं ददाति ॥४७॥

मर्त्योऽपि येनामरता म्प्रयातु मृत्युः स्वयं येन मृतो भवेत्तो
सुरा हि साऽनन्दमयी मदीया पेयाऽच्यतत् सर्वसुखाभिरामा ॥४८॥

आनन्द रूपे जगतो हि सत्ये ज्ञाते शिवे प्रेममये हि मूले
तापेऽपि शैत्यसुभवः स्वयं स्यात् स्वयं वसन्तो विकसेन्मरौ च ॥४९॥

श्रोतव्यं मे तदिह वचनं मित्र, सत्प्रीति – पूर्णम्
यस्मात् काचिद् वहतु हृदि ते नित्यमानन्द धारा ।
सर्वं चैतज्जगति सरसं भातु तुभ्यं यथार्थम्
शून्यं चैतद् भवतु सततं भासमानं समन्तात् ॥५०॥

इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन मनीषिणा
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिताऽनन्द—
मन्दाकिनी समभवत्
सानन्दम्परिपूर्णा



॥ श्रीः ॥

श्रीविक्रमार्को महनीय-कीर्तिः

यशास्विभि – र्वीरवरै रसंख्यै – र्महर्षिभि – र्ज्ञानदिवाकरैश्च
प्रकाशितं नित्यमहो त्रिलोक्याम् भूयोऽपि यो भारतवर्षमेनम् ॥१॥

विभासमानं भुवनेषु चक्रे स विक्रमार्को महनीयकीर्तिः
ऐतिह्य सूर्योऽत्र बभौ प्रतापी विलक्षणः कोऽपि महीमहेन्द्रः ॥२॥

कान्तिस्तदीया किल तस्य कान्तिः पराक्रमस्तस्य च तस्य एव
न तत्समः कश्चन दिव्य कीर्ति र्जातोऽपरः सुप्रथितः पृथिव्याम् ॥३॥

स सन्ततं राष्ट्रजयेन हृष्टः तुष्टोऽथ सद्धर्म – सुरक्षणेन
सद्ज्ञानवृद्ध्यै विहित–प्रयत्नः तिष्ठेत्सदैव स्मरणीय–कीर्तिः ॥४॥

आकर्ण्य हुंकारमहोऽस्य हूणाः शस्त्राणि निक्षिप्य गुहासु लीनाः
ऐतिह्य–पृष्ठेष्वपि नाम नैजं द्रष्टुं न धीराः पुनरत्र जाताः ॥५॥

अद्यापि सर्वे क्षितिरक्षिणस्तत् जिघृक्षवस्तत्सरणी – मवद्याम्
प्रजाजनानामथ कामनेयं सर्वे नृपाः सन्त्विह तेन तुल्याः ॥६॥

आस्तां न वास्तामिह तस्य काचित् सत्ता स्थिरं किन्तु यशोऽस्य लोके
तस्य व्यवस्था प्रथिताः कथासु न्याय–प्रणाली च भवेऽद्वितीया ॥७॥

तस्मिन्भारत संस्कृते नः सनातनी स्यास्यति दिव्यकीर्तिः
सार्वत्रिकी साऽथ कृता ह्यनेन–प्रकाशमाना क्वनु नास्ति लोके ॥८॥

यशो निधाने खलु तस्य काले प्राप्तं न किं किं भुवि भारतेन
श्रीकालिदासामृतवाग् – विलासैः सारस्वतं लोकमिदं जहास ॥९॥

संस्मृत्य सस्मृत्य परं तदीयं तं स्वर्णकालं सुर – पूजनीयम्
किमद्य वीक्षे किमु वाद्य कुर्वे मनोऽखिलं मे विकलं विरौति ॥१०॥

गतं क्व नः सात्विक-जीवनं तत् गता क्व वा सात्विक संस्कृतिः सा
विवेकपूर्णं प्रभुभक्तिमत्तं साधारणं जीवन - यापनं च ॥११॥

ता यज्ञशालाश्च तपोवनस्थाः घोषः श्रुतीनां मधुरश्च दिव्यः
तेजस्विनो ब्रह्मपरायणास्ते विद्यार्थिनः सम्प्रति वा क्व सन्ति ॥१२॥

ते निर्मलाः पावनदृश्यरम्या दिव्याः सुराणां सरिताम्प्रवाहाः
पदे पदे पौर-मलेन पूर्णा वीभत्सदृश्या वत साम्प्रतं नः ॥१३॥

अलौकिकः कः किल स प्रकाशो वेला च सा का स्फुरिता जगत्याम्
क्षुद्रोऽपि जीवो हि पलेन यस्यां विभोर्महावैभवमाससाद ॥१४॥

मर्त्यश्च सद्योऽमरतां गतोऽयं तमः प्रकाशात्मकमेव जातम्
भ्रान्तिर्विनष्टा विपदो विलीनाः शून्यं तथा कान्तिमयम्प्रदीप्तम् ॥१५॥

ज्ञानप्रकाशो विशदः क्व नाभूत् के के प्रदेशा नहि शिक्षिता वा
दत्तं च सार्वं शरणं न केभ्यः स्वधर्मिणः सन्तु विधर्मिणो वा ॥१६॥

स्वराष्ट्रमानोन्नति - मग्न चित्ताः स्वधर्मरक्षार्पित - सर्वसौख्याः
महानुभावा मनुजाग्रगण्याः प्रादुर्बभूवु र्न च के तदा नः ॥१७॥

पद्मावती-पद्म-विकासरीति-र्वह्नौ विचित्रा च तदाऽभवत्सा
शान्तापि तद्वह्नि भवा विभूतिः दीप्तां मुखाभां कुरुते न केषाम् ॥१८॥

अस्तंगतं चापि पुनः स्वधाम्ना य आर्यराज्यं कृतवान् प्रदीप्तम्
प्रतापसिंहः परमः प्रतापी स कस्य मान्यो न कस्य वंद्यः ॥१९॥

तातं स्वकीयं हुतवान् हुताशे धर्माय पुत्रान् विससर्ज कामम्
श्येना जिता येन शकुन्तिकाभि र्गोविन्दसिंहः स गुरुः क्व दिव्यः ॥२०॥

निर्वाप्यमाणापि रिपुप्रवातैः संरक्षिता धर्मशिखा च येन
सोऽयं शिवाजी भुवि धन्यवीर्यः प्रभातगेयो नहि कस्य लोके ॥२१॥

के वा न चान्ये न निदर्शनार्थं राष्ट्राय सर्वाहुतिदान दक्षाः
साधारणाश्चापि नरैः सुगेयाः वीराः प्रतिग्राममहो न जाताः ॥२२॥

अज्ञातवीर्या यशसाम्प्रकाशं ह्यतीत्य ते दिव्यतमा अदीव्यन्
दशा परं सम्प्रति कीदृशीयं राष्ट्रे प्रिये ते बत जृम्भमाणा ॥२३॥

स्वप्नायितं यद् बहुधा समग्रं वैशिष्ट्य-मद्यास्य पुरातनं तत्
काचिद् विचित्रैव विमिश्रितेयम् परिस्फुटा सम्प्रति संस्कृतिश्च ॥२४॥

न ब्रह्मचर्यं न बलं च तत्ते न त्यागवृत्ति र्न तपः प्रसक्तिः
गवां च सेवा नहि साऽद्वितीया नवा गुरूणां चरणेऽनुरक्तिः ॥२५॥

पतिव्रतानां व्रतमद्वितीयम् – अद्वैतरूपे परिणम्यमानम्
क्वचित् क्वचित् सम्प्रति रक्ष्यमाणम् कथात्मकं केवलमद्य जातम् ॥२६॥

विधर्मिभिः सर्वमहोऽस्मदीयम्–आक्रान्तमद्यादि–गतं तथाऽन्यम्
दूरेगता सम्प्रति मुक्तिवार्ता क्षुधा विमुक्त्यापि वयं न मुक्ताः ॥२७॥

स्वर्गे स्थितांश्चापि सुरान् स्वयज्ञै र्यैस्तर्पयामास सदा प्रकामम्
स एव हा हाद्य शिशून् स्वकीयान् मृतान् क्षुधा पश्यति मातुरंके ॥२८॥

सञ्जीवने सात्विकभावभव्ये सदा सदाचार – परायणे ते
कथं दुराचारगतेः प्रसारः स्वार्थप्रवृत्तिः प्रबला च केयम् ॥२९॥

पुरातनी चापि नवैव नित्यं त्वत्संस्कृतिः पुण्यतमा जगत्याम्
अभिद्रुता चाप्यसकृत् परैर्या नापातितो दुःपतिता कदाचित् ॥३०॥

वेगेन तत्तत्परिवृत्तिचक्रै – र्विचालिते चापि नवे युगेऽस्मिन्
क्षुद्राविगर्ह्यै नरजन्म नैतत् ज्ञातं कदाचिद् भुवि भारतीयैः ॥३१॥

अन्यत्र जातेऽपि धना विदीर्णे कायन्त्रमूर्तौ मनुजे जगत्याम्
शान्ति प्रिये धर्मरते पवित्रे देशे नराणां गतिरत्र भिन्ना ॥३२॥

राज्ये समाजे च विधानमेषां दैनंदिनेऽथ व्यवहार – वर्गे
वैज्ञानिकं दार्शनिकं च दिव्यं विलक्षणं ह्येव समस्तमेषाम् ॥३३॥

बाह्मे मुहूर्ते सततम्प्रबुद्धैः सदग्निहोत्रे निरतैश्च नित्यम्
नवैव बुद्धिश्च नवैव शक्ति – विलक्षणैर्दाधिगतैर्भिरासीत् ॥३४॥

विद्यार्थिनः सम्प्रति किन्तु तन्द्रा-निद्रा-निमग्ना न वतोष्णपेयम्
शय्यां विमुंचन्ति न वीरवायुं निषेव्य नव्या ह्यथवा भवन्ति ॥३५॥

पूज्ये गुरूणां च पदे पवित्रे विराजमाना निखिलेऽपि लोके
शिष्याधमाः सम्प्रति हन्त जाता-द्रोहे गुरूणां निरताश्च नित्यम् ॥३६॥

वृत्तेन दीना अथ धर्महीना निरन्तरं केश-विशेष - सज्जाः
प्रणाश्य दिव्यं निखिलं स्वतेजः प्रतिक्षणं कृत्रिममाश्रयन्ते ॥३७॥

इयं स्थितिः सम्प्रति सद्य एव-प्रशोधनीयाऽथ पुनः प्रदीप्या
विद्याप्रकाशेन विभासमाना विद्यार्थिनः सन्तु पुनश्च सर्वे ॥३८॥

नवा शताब्दीय - मथैक - विंश्ये वर्षे भवेदेकतमैव लोके
सर्वेषु राष्ट्रेषु च राष्ट्रमेतत् - शिरोमणिस्थं भवतात् प्रदीप्तम् ॥३९॥

विश्वेश्वरश्चेह सदास्मरन्तः शिक्षां स्मरन्तश्च सदा स्मृतीनाम्
स्वसंयमैः संयमितां व्यवस्थाम् दिव्यां स्वराष्ट्रे च विभावयन्तु ॥४०॥

इति श्रीविक्रमद्विसहस्राब्दी-महोत्सवावसरे, बीकानेर-
साहित्य सम्मेलनेन चूरू नगरे समायोजिते,
विक्रमाभिनन्दनोत्सवे विद्याधरेण
समर्पितमेतद् विक्रमार्काभिनन्दनम्



॥ श्रीः ॥

अथ शिव पुष्पाञ्जलिः*

विविध कुञ्ज – सुपुञ्ज – समन्विते
परमरम्य – कुरङ्ग – दगङ्किते ।
हिमवति – प्रकृति – प्रतिफुल्लिते
कृतलयः किल यः स तु पातु नः ॥१॥

विद्धे त्वहो वेधसि विन्दुवद् विधौ निमीलिते चैव सहस्र–लोचने
तूष्णीं स्थिते पूष्णि तथाऽच्युते च्युते विषं पिबन्नस्तु शिवाय शंकरः ॥२॥

हे हे शशांकमणि–शेखर ! शंकर–स्त्वम्
सर्वं न किं नु कुरुषे सदृशं स्वयोगम् ।
दृष्टो मया व्यवहृतौ तव भेद एष
'ङेनान्विते' प्रियतमे बत ते गकारे (ङ्गे) ॥३॥

अर्धाङ्गिनी ङ्गेन युताऽथ गङ्गा भङ्गा–भुजङ्गे च युतस्तथायं
किं दूषणं तस्य पुनस्त्वनङ्गे–यद्भस्मसात् त्वं कृतवान् कुरङ्गम् ॥४॥

न दोषभाक्त्वम् परमत्र वाच्यः
दुष्टा यतः सज्जन – चिन्ह भाजः ।
नालक्षिताः कुत्र – चिदत्र दृष्टा
दण्डार्थिनो दण्डभृतः सदा स्युः ॥५॥

सुरसिद्धवरं भवभीति – हरम्
चकितं बत ताण्डवनृत्यकरम् ।

---

* यह पुष्पांजली श्रीयुत शास्त्री की सन् १६१५ में रचित सबसे पहली स्तोत्र कृति है। ५-७ पदों के अतिरिक्त इसके सब पद्य और भाव जैसे उस समय थे वैसे ही अब हैं।

सततं जन कल्मषनाश करम्
प्रणमामि हरम् – परपारकरम् ॥६॥

स्वयं त्वं भिक्षूणामपि परमभिक्षु – निगदितः
अपेक्षां सर्वेषां परमिह न किम्पूरयसि नः ।
महाघोरा भूता अथ तव गणाः सन्ति शतशः
न दत्से केभ्यस्त्वम् – परमभयदानं खलु भवे ॥७॥

रम्योऽयं हिमवत्सुता – हृदि सदा कामेश्वरो राजते
योगिभ्यः परमेष योगनिरतो नित्यं समाधौ स्थितः ।
भीमोऽथ त्रिपुरादिभिश्च नितरां दृष्टः स भीतैं भवे
अस्मभ्यं च भवेद् दयालु–हृदयो नित्यं शिवः शंकरः ॥८॥

यत्तुभ्यं तु प्रकृति नियमाः – सर्वथात्यक्त – मार्गाः
तोयोवन्हिः गरलममृतं सङ्गतन्ते शरीरे ।
तत्किम्मेऽर्थं त्यजति न भवान्स्वल्पमप्यत्र वस्तु
यद्येवं स्याद्भवतु समयः प्रार्थना – कर्णनार्थम् ॥९॥

पशूनामीशस्त्वम्परम – जड़वी – मदिकवरः
ममाशा पूर्णास्यादिति भवति संदेह – चरणम् ।
तथाप्यादाने वै भवतु लघुता वा सुगुरुता
न चिन्तायुक्तं स्यादिति मयि पशुत्वं सुखकरम् ॥१०॥

समायाते विष्णौ पशुपतिरगात् स्वागत कृते
सुबद्ध्वा कौपीनं विषवर – गुणे कृत्ति वसने ।
गरुत्मन्तं दृष्ट्वा भय – विचकितः कम्पित तनुः
महानागो यातः सच परम – नग्नोऽवतु सदा ॥११॥

न याचेऽति द्रव्यं नच परमभव्य – म्पशुपते
न दुर्गस्यापेक्षा न च जगदुपेक्षा स्मरहर ।
सुशान्त्या मंव्यात्रं सुदिनमिह मे यातु सकलम्
सदा शम्भो शूलिन् ! शिव ! शिव ! शिवेति प्रजपतः ॥१२॥

दुःख म्विनाशय विलासय हृत्सरोजम्
ज्ञानम्प्रकाशय मतिं विमलां विधेहि ।
हे चन्द्रशेखर ! गिरीश ! महेश ! शम्भो !
संसार - सागरतटम्परि - दर्शयाशु ॥१३॥

जयत्येष अहो कश्चित् लोकोत्तरवपु- र्वरः
देवानां दानवानाञ्च प्रेष्ठो वर्षिष्ठ - सत्तमः ॥१४॥

मतः संहारकः सृष्टे महाकालो महेश्वरः
आशुतोषः परंनित्यं दयालु धूर्जटी शिवः ॥१५॥

त्रिशूली नीलकण्ठोऽयं त्रिनेत्रो वृषवाहनः
नागेशो ह्यय महान् रुद्रः-उमेशः किन्तु शंकरः ॥१६॥

विश्वनाथो महान् देवः स्तुतो ब्रह्मादिभिः सदा
अद्वितीयो हि गंगेश - स्त्रिलोक्यां चन्द्रशेखरः ॥१७॥

दीनोऽस्मि कल्मष - युतोऽस्म्यथ - भयान्वितोऽस्मि
संसार - सागर - तरङ्ग - विचालितोऽस्मि ।
शम्भो तदद्य कृपया हि तथा प्रसीद
शीघ्रं यथा जगति भव्यमुपैमि नित्यम् ॥१८॥

प्रदैन्यं दीनानां सकलमथ पापं खल-हृदाम्
त्रिनेत्र - ज्वालातो झटिति शमयन्-सन्-पशुपते ।
स्मृतः स्वान्ते नित्यां विरचय सुशान्तिं स्थिरतमाम्
दयासिन्धो स्वामिन् त्वमसि परमं मे बलमिहे ॥१९॥

स्तोतुं न वेद्मि विधिना नच मेऽस्ति बोधः
द्रव्यं न वा बहुविधार्चन - पूर्ति योग्यम् ।
जानामि किन्तु नियतं दृढ - सत्यमेतत्
हे आशुतोष खलु तुष्यसि ते स्वभावात् ॥२०॥

विद्याधरेण शिव पूजन - तत्परेण
स्तोत्रं तु निर्मितमिदं शिवभक्ति - पूर्णम् ।
स्वल्पैः पदैरपि कृतं स्तवनं महन्मे
पूर्णे स्वतः सकलमेव यतो हि पूर्णम् ॥२१॥

ॐ या ते रुद्रशिवा तनू रघोरा पाप काशिनी
तया न स्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि
चाकसी हि ॐ

इति विद्याधरेणार्पिता शिव पुष्पाञ्जलिरियं पूर्णा ।



॥ श्रीः ॥

अथ लीलालहरी

स्तुतिसौख्यम्

अनन्तेयं लीलाललितलहरी यस्य वितता
स कः सर्वैर्वन्द्यस्त्वमसि विदितश्चाप्यविदितः ।
अजानन्तं तन्मां त्वदभिमुखमेवोन्नयति यत्
अलक्ष्यं तल्लक्ष्यं किमपि तव नित्यं विजयते ॥१॥

अथान्तस्तत्त्वे मे स्मृतिरपि मुहुः कस्यचन ते
कुतश्चित् काचित् सा मधुरमधुरोदेति जयिनी ।
यथान्तर्मत्तं तत् स्वयमिह सुखं गुञ्जति पुनः
यथा चेयं सर्वा प्रकृतिसरसा भाति जगति ॥२॥

अहो केयं हृद्या प्रबलमदिरा त्वत्स्मृतिमयी
जराजीर्णानां या स्थिरतममुनीनामपि मनः ।
हठादाकर्षन्ती सपदि च नयन्ती विवशताम्
विधत्ते सर्वास्तान् निजपरविरक्तांश्च नितराम् ॥३॥

वरा वन्या सेयं यदुपरि वसन्तो वयमिह
पिबामः कामं त्वत् स्मरणसुखपीयूषमनिशम् ।
जगत्यामानन्दः सम इह परस्तेन ननु कः
यमेत्यायं प्राणी स्मरति हि निजात्मानमपि न ॥४॥

अज्ञेया गतिः

कथं वा किंरूपा स्तुतिरिह विधेया तव परम्
न जाने जाने चेत् तदपि बत जाने कियदहम् ।

भवाश्चर्याब्धौ ते चकितचकितैवाटनपरा
परातीतं वेत्तुं भवति न समर्था जनमतिः ॥५॥

दुरूहा चेद् ज्ञातुं जगति जनमायापि सुतराम्
कथं सा विज्ञेया भवतु तव मायामयगतेः ।
अनिर्वाच्या वेदैरथ च मुनिभि – र्ध्याननिरतैः
न जिज्ञासावृत्तिः कथमपि परं शाम्यति जने ॥६॥

कथंकारं ज्ञेया अथ तव गुणा निर्गुणतनोः
अगण्यानां तेषां भवतु गुणिनः का च गणना ।
अवाच्ये वाचाम्वा गतिरपि कथं स्याद् गतिपरे
अगम्यो गम्यस्त्वं स्वयमिह न चेदत्र भवसि ॥७॥

निरीहं त्वां शान्तं त्रिविधभयचिन्ताहृतधृतिः
दिवानक्तं षड्भिः प्रवलतमदोपैरभिवृतः ।
कथं ज्ञातुं शक्तः प्रकृतिरहितं प्राकृतमतिः
स्वभावाद्भिन्ने हि प्रसरति न भावे मतिगतिः ॥८॥

मनुष्योऽहं जाने मनुजनिकथामेव कठिनाम्
मनोवीचिव्रातैर्विचलितगति द्वन्द्वमुखराम् ।
असत्यैः पूर्णैपा प्रकृतिचपला संशयमयैः
कथं पश्येत् सत्यं किमपि तव भावं शिवमयम् ॥९॥

अनन्तास्त्वन्मार्गा विविधविधयो यामि कतमम्
न जाने तन्मूढः सरलसरलं चेन्न दिशसि ।
यमेवालम्वे वा भव सहचरस्तत्र सहसा
मयान्वेष्टुं शक्यो नहि कथमपि त्वं युगशतैः ॥१०॥

स्थिरं शान्तं केचित् क्षणिकमखिलं केचन पुनः
परं शून्यं केचित् प्रकृतिसहितं केचन परे ।
भवे त्वामेवैकं ददृशुरथ चान्ये विकसितम्
मदालोके त्वं तत् तदपि न च सर्वञ्च भवसि ॥११॥

व्यतीता साहस्री ननु नहि युगानां न कियती
कियन्तो वा यत्ना ननु नहि कृतास्त्वां मृगयितुम् ।
तथापि त्वं दृष्टः क्षणमपि भवे केन भगवन्
सदैवादृष्टो यः प्रदिशसि दिशो नः प्रतिदिशम् ॥१२॥

विभोर्वैभवम्-प्रत्यक्षानुभूतिः

अदृष्टोऽपि स्वामिन् नहि परमसि त्वं परतरः
क्व सार्थी त्वत्तुल्यः पर इह भवे कोऽपि सुलभः ।
जगत्यां प्रत्यक्षं स्फुरति तव सत्ता प्रतिकणम्
क्षणः कोऽसौ यस्मिन् नहि सह मया त्वं हि रमसे ॥१३॥

क्व तत् स्थानं किञ्चित् स्थितिरिह न ते यत्र नियता
स कोणः क्वास्ते वा तव शुभदृशा फुलति न यः ।
तवैवेदं रूपं प्रकृतिवदने प्रस्फुरति यत्
तवैवैषा लीला जनयति च लोकानगणितान् ॥१४॥

इमां ते प्रत्यक्षां प्रतिगतिततां दिव्यसुषमाम्
विलोक्य प्रत्यक्षं किमिति कुमतिः पश्यति न ताम् ।
ऋते मूलं रम्या प्रसरतु कुतः संसृतिरियम्
कुतो वैतत् सर्वं विकसतु च शून्येऽप्यनुपमम् ॥१५॥

हसन्ती बालानां स्मितिषु कुसुमेषु प्रतिदलम्
तरङ्गे तोयानां जलदपटलीनां परिसरे ।
सतां सौम्ये भावे स्फुरितचरिता स्नेहसरसे
प्रकाशं सा पूर्णं जगति लभते मातृहृदये ॥१६॥

तवैवेमां लोके विकिरति सुधामेष च शशी
प्रकामं पीत्वा यां पय इव जगत्यां परिसृताम् ।
मनो मे लावण्यामृतजलविपूराप्लुतमिदम्
न कां शान्ति, सौख्यं, रसपरिणति वा व्रजति न ॥१७॥

तवैवायं मोदो गतिमथ – जडस्यापि कुरुते
भृशं हर्षोत्सिक्ता जलदपटली वर्षति यतः ।
स्थितोऽसौ संहृष्टो धवलहिमहासैर्हिमगिरिः
प्रमत्तेवामोदात् प्रवहति तथेयं सुरसरित् ॥१८॥

तमिस्रा घोरापि प्रतिहसति नक्षत्रनिचयैः
श्मशानेऽपि ज्वाला वमति यदि कान्तिश्च रहसि ।
मरौ शुष्का धूली नटति यदि चेयं तरलिता
क्व नास्ते नृत्यन्ती सहजचपला ते नु रचना ॥१९॥

विशाला रङ्गस्थली

कियद्रम्यं चेदं लसति खलु ते रंगभवनम्
विचित्रं नीलाभं यदुपरि वितानं परिततम् ।
सुखं यस्मिन् धीरो वहति पवनो मन्दसुरभिः
विधत्तश्चन्द्रार्कौ सततमिह यच्च द्युतिमयम् ॥२०॥

समं सर्वैर्भोक्तुं खगमृगनरैर्भेदरहितैः
समास्तीर्णा भूमी हरितहरितैः पुष्पितकुथैः ।
स्वघोषैर्गम्भीरो जलदपटहो नर्दति मुहुः
धुनानां मूर्धानं, सहृदयवनाली पुलकिता ॥२१॥

सदा चास्मिन् पेया निभृतनिभृतं मोहमदिरा
न कैश्चित् प्रष्टव्यं प्रतिपलमिमां पाययति कः ।
न तृप्तः कश्चित्तां मुहुरिह निपीयापि नितराम्
परं नृत्यन् सर्वः परिसरति मत्तः प्रतिदिशम् ॥२२॥

द्वैविध्यम्

तदेतत् सत्यं ते निखिलमिदमास्ते प्रियतमम्
भृशं त्वद्द्वैविध्यं परमिदमहो मोहयति माम् ।

क्षणेऽस्मिन् प्रत्यक्षः पुनरथ परोक्षः परपले
पुरो दर्शं दर्शं भवसि नहि जाने क्व निभृतः ॥२३॥

दशेयं ते चित्रा क्वचन सरसा क्वापि विरसा
क्वचिच्चित्रं मूढा क्वचिदपि च भीमातिकठिना ।
विभात्यस्यां काचित् स्थिरतमगतिस्ते न भगवन्
मुहुर्भ्राम्याभ्राम्ये मनुसुतमतिं पातयति या ॥२४॥

क्वचिद्रम्यं सौम्यं प्रतिजनमनोहारि मृदुलम्
हसत् खेलत् चंचत् निखिलमपि रूपं तव शिवम् ।
स्वतन्त्रं येनायं शिशुरपि यथेच्छं विहरति
तमोरेखा काचित् परिभवति यस्मिन्न च क्वम् ॥२५॥

क्वचिद्रौद्रं रूपं प्रकटयसि तत् किन्तु विषमम्
समेषां मूर्धानो विनमति यदग्रे खलु भिया ।
न बोद्धुं तत् शक्यं विविधविविधैरपि बुधैः
दयार्द्रा यस्मिंस्ते न च मृदुलता कापि लसति ॥२६॥

त्वया सार्धं तस्मिन् प्रकृतिरपि ते भीषणतमा
तमस्तोमैं विश्वं निगलितुमिवैषा प्रयतते ।
रणाज् — झंझावातप्रहततरुकाण्ड-प्रपतनैः
प्रहारैर्वज्राणां चलति च गिरीणामचलता ॥२७॥

कदाचित् कल्पान्तप्रलयविकलैः सर्वभुवनैः
स्मृणोऽपि त्वं घोरं कृतमपि नहि क्रन्दनमहो ।
कदाचित् क्षोदिष्ठं कृमिमपि परित्रातुमबलम्
त्रिलोकीं सन्त्यज्य द्रवसि सपदि त्वं करुणया ॥२८॥

क्वचिद् बीभत्सेऽपि स्फुटति तव चेत् कान्तिकलिका
क्वचित् कान्तेऽप्येषा भवति नितरामेव निकृता ।
क्वचिद् दुर्गोऽप्यद्रिर्यदि सहजगम्यः शिशुकते
क्वचिद् गन्तुं नैकं प्रभवति गल्लानपि पदम् ॥२९॥

श्वसन् श्रान्तः क्लान्तः सकलविवसाहाय्य – रहितः
यदा चायं प्राणी हृतजठरपूर्त्यै विलपति ।
क्व तत्ते वन्धुत्वं क्व च तव दया याति विलयम्
कथम्वा जायेथा जनहृदयतोऽप्यूनहृदयः ॥३०॥

विशेपो वा कश्चित् महति च लघौ ते नहि भवेत्
यथा क्ष्माभृत् तद्वत् तव दृशि रजःक्षुद्रकणिका ।
विरुद्धार्था धर्मा भवति सुगताः सन्तु निखिला
गतिस्ते मल्लोके परमिह न काचित् समरसा ॥३१॥

जीवनसमस्या

वयं सृष्टाः सर्वे समविपमभावैर्विचलिताः
अशान्ता दुर्ग्रस्ता दुरितसदनैर्द्वेपदहनैः ।
समानोपादाने प्रकृतिकृतसाम्येऽपि किमु नः
स्वभावोऽयं भिन्नः प्रभुवर! न तद् वेद्मि सुतराम् ॥३२॥

किमर्थं भेदोऽयं कलहजनकः स्फूर्जतितराम्
किमर्थं संघर्षः प्रचलति च नित्यं प्रतिक्षणम् ।
अधर्मोऽयं धर्मे कुत इह पवित्रे प्रविशति
सुधापाये हृद्ये मिलति च कुतोऽयं विपरसः ॥३३॥

क्वचिन्नग्नः स्वार्थः कणकणकृते नृत्यति जने
क्वचित् प्राणांश्चापि त्यजति च परोऽयं परहिते ।
क्वचिन्मग्नः कश्चित् विकिरति समन्तात् स्मितिसुधाम्
क्वचिच्चान्यः क्रन्दन् करुणमिह लोकं व्यथयति ॥३४॥

न लक्ष्यं नः किञ्चित् क्वचिदपि भवेऽस्मिन् स्थिरतनम्
न विश्वासः कश्चित् किमु परपले चेह घटताम् ।
तथाप्यन्धा मूकाः प्रतिपलमहो धावनपराः
युगान्तानां केपां दिशि दिशि न कुर्मो नियमनम् ॥३५॥

अभावोऽयं कस्य क्षिपति कलहाग्नौ ननु नरान्
मतिर्वा संकीर्णा किमु परसुखं नैव सहते ।
इदं त्वं नैयून्यं व्यपनय कथञ्चिद् भव ! भवात्
उदासीनां वृत्ति त्यज सृज नवीनाञ्च रचनाम् ॥३६॥

अनन्तेऽनन्ताः का ननु नच कृता लोकरचना
नगण्ये क्षिप्ताश्च क्वचिदपि कुकोणे न कतमे ।
स्वयं तेभ्यो दूरे निवससि समाधौ स्वपिपि च
कटाहे जीवान्नः क्षिपसि परितप्ते किमु परम् ॥३७॥

अशान्ता जगती

पुरा सृष्ट्वा सृष्टिं प्रतिपलचलां शान्तिविमुखीम्
कथं क्वेदानीम्वा स्वगतमिह सौख्यं मृगयसे ।
न युक्तोऽयं स्वापो रहसि जलधौ तेऽद्य भगवन् !
जगत्याश्चक्रेऽस्मिन् चलति नितरां लक्ष्यविकले ॥३८॥

अलक्ष्यादुत्पन्ने सरति च तथाऽलक्ष्यसरणिम्
समालम्बः कोऽन्यः शरणद विना त्वां तनुभृताम् ।
जगद्वन्द्यो नेयं तव जगदुपेक्षा समुचिता
उदास्ते स्निग्धे यत् हृदयमपि तत् किं नु हृदयम् ॥३९॥

न जाने रावां कामनुसरसि मत्तः प्रतिपलम्
कदा वा योगः स्यात् सततविरहिस्ते ननु तया ।
युगेभ्योऽप्येषा चेद् भवति न समस्या हि सरला
किमर्थं व्यर्थं नो हरसि सह दीनानपि नरान् ॥४०॥

"न कुर्याद् विश्रामं क्षणमपि कणः कश्चन भवे"
तवादेशो नूनं परमविकटोऽयं च ननु कः ।
महाशान्तेऽशान्ता प्रकृतिरियमुप्ता त्वयि कुतः
स्थिरे वृत्तिः केयं तव च परिवृत्तिप्रियरसा ॥४१॥

"नहि स्थेयं कैश्चित् कथमपि भवैकभ्रमिरतैः
गृहावद्धैर्यद्वा — निजतनुनिवद्धैर्भवजनैः ।"
इदं चेदाज्ञा ते शिरसि निहिता मौनवचनैः
चलच्चक्रं किन्तु त्यजतु कथमद्धा निजधुरम् ।।४२।।

क्वचिच्चेन्नेतव्यं नय खलु यथेच्छं परमसौ
सुखं शान्त्या नेयो नहि च परिपीड्यः स्वकशया ।
अनन्तः कालस्ते नहि च जनुषां कापि गणना
क्व नेतुं व्यग्रस्तत् सपदि खलु पारे प्रयतसे ।।४३।।

परिपूर्णा सृष्टिः

मदीयः पारोऽयं यदपि परिवीक्षे परिततम्
परं गत्वा पारं क्व मम गमनं वेद्मि नहि तत् ।
मितेऽप्यस्मिल्लोके यदि गतिरियं मे विचलिता
कियद्रूपा पारे भवतु वत सा वेत्तु ननु कः ।।४४।।

मदर्थं रम्यास्ते प्रतिपदमियं ते च जगती
क्व गन्तव्यं दूरे क्वचिदपि परेऽस्याः खलु मया ।
इयं भुक्तेर्मुक्तेरपि च परमा प्रेमवसतिः
इहैवच्छेद्या मे सपदि भव – पाशाः स्वकृपया ।।४५।।

पिवेयुः पीयूषं दिवि पुलकिता नित्यममराः
समाधौ लीनं वा भवतु तव पञ्चीकृतमिदम् ।
मया लोके स्थेयं निजनियतकृत्यं विदधता
न मृत्युर्मृत्युर्मे भवति यदि यज्ञे क्वचिदयम् ।।४६।।

ध्रुवं भीमो मृत्युः प्रकृतिविहितश्चाथ स विधिः
परं तच्चेद् धर्म्यं मरणमपि सञ्जीवयति नः ।
समीहे प्राणानां चरमगमनात् प्राक् कथमपि
तपः सौख्ये लीनं भवतु भुवि मज्जीवनमिदम् ।।४७।।

क्वचिद् गंगातीरे सुखमयसमीरे परिवसन्
नयेयं कालं मे निहितहृदयस्ते चरणयोः ।
प्रसन्नात्मा नित्यं सुकृतसुकृतौ संवृतमतिः
प्रसेक्ता स्नेहानां मननतपसा दग्धदुरितः ॥४८॥

न याचे तेऽद्वैतम् व्रजति निखिलं यत्र विलयम्
न वा कश्चिद् यस्मिन् प्रणयमरसामस्यति क्षमम् ।
स योगो लोकानां भवतु सहजः सम्प्रति मुवा
यतोऽहं निर्बाधो दिशि दिशि चरेयं दशरथः ॥४९॥

नवीना व्यवस्था

इमामेव त्वं तत् सुरचय तया नव्यविधिना
यथा सर्वेऽप्यस्यां निजनिजशुभे कर्मणि रताः ।
जनाः शुद्धात्मानो विमलविभवैस्तुष्टमनसः
स्वधर्मे सन्नद्धाः स्वसुखमधिगच्छन्ति सुधियः ॥५०॥

जनः कश्चिन्नास्यां परवश इहास्तां क्षणमपि
न कश्चित् पापेभ्यः प्रभवतु तथास्यामवसरः ।
परायत्ताल्लोकाद् भवति नहि दुःखं परतरम्
सपापा वृत्तिश्चेत् परमविकटा को न च पतेत् ॥५१॥

विजेता दोषाणां प्रभुचरणसंलब्धशरणः
निजां सृष्टिं नव्यां जन इह यथेच्छञ्च सृजतु ।
न वैफल्यं तस्यां फलतु हृदि नैराश्यरजनीम्
न षड्वर्गः सीमां त्यजतु नियतामत्र च निजाम् ॥५२॥

नवाधीना चेयं नखलु निखिला जीवनगतिः
गुणानां संघर्षे भवतु न च तामिस्रविजयः ।
न हीनः स्यात् कश्चिद् हृदि न च पुनर्वृत्तिकृपणः
न कश्चिद् दुष्टानां खलबलकुचक्रं च सहताम् ॥५३॥

अहंरूपो व्याधिः

नचाप्यस्मिँल्लोके समरसविरोधी हतविधिः
अहंरूपो व्याधिर्भवतु सबलः सम्प्रति पुनः ।
सदाचारध्वंसी समुदयविनाशी सुखरिपुः
निवासः सर्वेषामविनयचमूनामनृतभाक् ॥५४॥

यदाक्रान्तो लोके प्रलपति न किं किं हि पतितः
क्षणे लीनो घोरे तमसि मनुजोऽयं जडमतिः ।
"अहं कर्ता हर्ता त्रिभुवनपतिः सर्वगतिकः
मयैवायं सृष्टः प्रभुरिति जनै सम्प्रति वृतः" ॥५५॥

गुणैर्यैः संसर्गो भवति भवतो न कुहचित्
सदावृण्वंस्तैस्त्वामतिविकृतभावैरथ निजैः ।
प्रयुञ्जानस्तुभ्यं घृणितघृणितं दुष्टवचनम्
प्रतिस्पर्धी क्वासौ भवितुमिह ते न प्रयतते ॥५६॥

अद्यतनः पतितो मानवः

मनुष्योऽसौ पापोऽखिलभुवमधिष्ठाय कुमतिः
परेषां जन्तूनां स्थितिमपि न चेदद्य सहते ।
कुतः केयं नीचा दुरितहतके वृत्तिरुदिता
स कर्तुं भूतात्मन् स्तुतिमपि न योग्यस्तव यया ॥५७॥

विहायैनां योनिं मनुजदुरितैर्ध्वस्तचरिताम्
कदाचिद् वाञ्छेयं तरलयति चित्तं बलवती ।
स्वतन्त्रे कस्मिंश्चिद् जगति विचरेयं नवतमे
स्वसीमा नोल्लंघ्या विधिरयमलङ्घ्यस्तव परम् ॥५८॥

तमो नेदं घोरं प्रसरतु नवीने तव भवे
पिशाची तृष्णापि प्रलयकरनाट्यं न नटतु ।

प्रसन्नः सर्वस्मै वितरतु जनः स्वार्थमखिलम्
स्वतः स्यात् सम्प्राप्तो निजनियत-भागश्च निखिलैः ॥५९॥

इयं दुष्टा तृष्णा जनयति कुकृत्यं न नहि किम्
न वा के तज्ज्वालाज्वलितमनसोऽशान्तमतयः ।
त्वनाशं लोकेऽस्मिन् नहि विदधते हन्त मनुजाः
क्षणं संरुध्येमां वितर परितोषं सुखकरम् ॥६०॥

सन्तोषः

सवत्से द्वे धेनू हरितवसनो भूमिशकलः
गृहस्थे सन्तोषो मनसि तव पुण्या स्मृतिकथा ।
इदं चेल्लब्धं स्यात् किमु पुनरहो काम्यमिह नः
वृथा पृथ्वीं सर्वां खनति मनुजाखुः खलु खलः ॥६१॥

इदं नो व्यग्रत्वं प्रतिसमय – दुर्वाविनपरम्
त्वयि श्रद्धाशून्यं व्यथयतु न नः सम्प्रति मुहुः ।
न चाप्यस्यां सर्वग्रसननिपुणोऽमोघगतिकः
महाकालोऽकाले विचरतु तवासावनियतः ॥६२॥

भीमा कालगतिः

यतः सर्वं सद्यो विगतगतिका संसृतिरियम्
न यत्राशा काचित् किमपि नच दृश्यं वत दृशोः ।
तदेतत्ते कृत्यं प्रतिहृदयविस्फोटविषमम्
वराकः संसारी कथमिव विधे कोऽपि सहताम् ॥६३॥

जना वेपन्ते यत्स्मृतिमपि निवार्यैव मनसि
न सोढुं शक्या सा तव गतिरियं तामसमयी ।
किमप्येकं पुष्पं विकसितिविहीनं नहि पतेत्
लभन्तां सम्पूर्णां निज विकसितिं ह्यत्र निखिलाः ॥६४॥

अजस्रं चिन्ताभिः परिरणितचित्तो हतधृतिः
महामोहभ्रान्तो हृदयगतपापैर् – निगडितः ।
शरीरी कायं ते क्षणमिह चरन् याति विलयम्
निजान् त्यक्त्वा बन्धून् सपदि रुदतो हन्त करुणम् ॥६५॥

सदैवास्मै रुच्यं सदयमिह वित्तं खलु निजम्
सदैवास्मै देयाः स्थिरसुखमयाश्चापि दिवसाः ।
यदैवासौ स्वस्थः पिबति च रसं कञ्चन सुजन्
तदैवासौ क्षेप्यो नहि च विषमे हन्त तरसा ॥६६॥

तमसो मा ज्योतिर्गमय

अनन्तेयं यात्रा तव भवपयोधेर्नु रचना
महाग्राहैः क्षुब्धा अनवरतचक्रैश्च निचिता ।
न यावत् पारोऽस्या नयनपथमायाति कुहचित्
समाक्रान्तास्तावत् पुनरपि भवानोज्ज्वतिमिरैः ॥६७॥

अहं मन्ये न्यस्तो मयि मननदीपोऽपि भवता
प्रदीपः किन्त्वास्ते परनचपलोऽयं तव पितः ।
क्षणेनायं वातैर्लघुभिरपि यत् शाम्यति मुहुः
स्थिरं तस्मात् कञ्चिद् वितर वरदालोकमधुना ॥६८॥

ज्ञान-कर्म-उपासना-समन्वयः

रुचिस्ते सत्कार्ये सुजनजनीहापि च तथा
कथं स्यात् तद्वृद्धिः परमिह भवे पापबहुले ।
समस्येयं नित्यं त्रिपुणतवृतान् चालयति नः
त्वयैवेयं साध्या प्रभुवर वनैषा स्थितिरियम् ॥६९॥

मदीयं यद् ज्ञानं भवतु सकलं तद् कृतिपरम्
स्वभावाद्दुल्लासो लसतु च कृतौ कर्तृहृदये ।

स्वकर्तव्यात् कश्चित् क्वचिदपि न जायेत विमुखः
न कालक्षेपो वा प्रकृतिनियते कर्मणि भवेत् ॥७०॥

हसन्ती गायन्ती चलतु मम घट्टी प्रतिपलम्
सदा नृत्यन्त्यग्रे प्रवहतु च मे जीवनसरित् ।
क्वचित् काचिद् बाधा पथि समवरोद्धुं पतति चेत्
प्रमत्तेयं भूयो घरघररवा नृत्यतुतमाम् ॥७१॥

प्रतप्तः शीतार्तः कठिनगिरिभिर्मर्मणि हतः
अयोयन्त्रागार – प्रतिगतकुधूमैः कलुषितः ।
कदा वातः क्षुब्धो निजनियतकृत्याद् विरमते
कदायं पूतात्मा पुनरपि न वा पावयति नः ॥७२॥

अभावस्याभावः

अभावश्चेत् कश्चित् पुनरपि युगेऽस्मिन् प्रभवतु
स्वयं तस्मिन् भावे भवतु परिपूर्तिः प्रियतमा ।
स्थिते त्वद्भावेऽस्मिन् ननु कुत उदीयाद् विरसता
कुतो वा नैयून्यं किमपि परिपूर्णेऽपि विशतु ॥७३॥

आशासूत्रम्

कुतश्चित् साहाय्यं नियतमिह लप्स्ये तव पितः
मम क्षीणामाशामपि धृतिरियं रक्षति सदा ।
इयं रक्ष्या नित्यं प्रतिहृदय – संधानधमनी
विलुप्येतेयं चेत् किमपि शरणं मे न भुवने ॥७४॥

शरीरं मे कामं प्रचुरतमदोषैकसदनम्
विशुद्धैः सद्भावैर्न च मम मनश्चापि विमलम् ।
न योग्यं तत्स्थानं क्वचिदपि भवान् यत्र विशतु
स्पृशेच्चेत्ते दृष्टिः स्वयमिह न पङ्केऽपि पतितम् ॥७५॥

आशंसा

इमे प्राणा यावत् स्फुरितगतयः सन्ति वपुषि
स्वरैस्तावद्रम्यैः सततसरसैः कैश्चन तव ।
समासज्येभ्यस्तत् मधुरतमगीतं प्रकटये –
यतः सर्वो लोको भवति सुखमग्नः स्वयमयम् ॥७६॥

यदेते गायन्तु त्वमपि मुदितस्तत् शृणु पुनः
प्रसन्नः सर्वात्मन् स्वयमिह रसं तच्च वितरेः ।
यतः सर्वा क्लान्तिर्मनुजमनसो याति विलयम्
अनित्ये नित्यत्वं विकसति च पूर्णं प्रतिकरणम् ॥७७॥

यदा चेयं मूका भवति ममतन्त्री स्वरगतौ
जनैः प्रोत्क्षिप्ता वा ज्वलति हुतवाहे क्वचिदपि ।
परिस्तीर्णा ये स्युर्दिशि दिशि ततः केऽपि शकलाः
चरद्भिर्गेयास्तैरपि तव मुखं कीर्तिलहरी ॥७८॥

स्तुतं किं लोकेऽस्मिन् स्तुत इह न चेत् ते गुणगणः
सुगीतं वा तत् किं तव यदि न गीतं खलु यशः ।
इयं बुद्धिर्व्यर्था विमृशति न चेत्सा प्रभुपदम्
वृथा सर्वो लोको यदि न च तवालोकनमिह ॥७९॥

नास्तितत्त्वम्

निषेद्धुं कः शक्तो जगति तव सत्तामिह विभो !
त्वमेकस्मिन् रूपे कथमिह समाकुञ्चतु परम् ।
निषिध्य स्वां सत्तां भवसि विशदस्त्वं प्रतिकरणम्
कथं कश्चिद् विन्देत् निजगतिगतिं त्वां त्वितरथा ॥८०॥

अणोरप्यज्ञेयं भवति निपुणैर्यस्य च बलम्
अमेयं सामर्थ्यं कथमिह भवेत्तस्य निखिलम् ।

तथाप्येतद् गुप्तं यदि सततमेवावसि दृशोः
प्रदर्श्य तत् कस्मै क इह च समालोकयतु तत् ॥८१॥

"ऋते निर्देशात्ते दलमिह चलत्येकमपि न"
ध्रुवेऽस्मिन् विश्वासे यदि मम मनः संशयपरम् ।
जगत्स्वामिन् सेयं प्रकृतिरपसार्या सपदि मे
तथाऽधेया काचित् स्थिरतरमतिः शान्तमनसि ॥८२॥

मातृभावः

अये मातर्मातः सकृदिति तु बाले निगदिते
किमन्यद् वक्तव्यं झगिति जननी धावति यदि ।
स्वभावोऽयं सिद्धः प्रथिततमभावो भवविधौ
किमर्थं तन्मूढः पुनरिह मुधा रोदिमि मुहुः ॥८३॥

मनस्ते तत् कीदृक् परमकरुणं स्नेहसरसम्
सदा स्वार्थत्यागे निहितनिजभावं मृदुतमम् ।
सदाशाकल्लोलैः प्रतिपलचलं येन रचितम्
जगत् कल्याणार्थं शिवमयमिदं मातृहृदयम् ॥८४॥

विपद् वज्राघातैः प्रतिहतगतिः शीर्णहृदयः
निराशाक्रान्तोऽयं तव शिव ! पुरस्तान्नतमनाः ।
सविश्वासं सर्वं हृदयगतमावेद्य हि जनः
स्थिरां शान्तिं शक्तिं सपदि लभते कां न च धृतिम् ॥८५॥

आत्मसमर्पणम्

तथाप्येनं चिन्ता विकलयति चित्तं यदि मृषा
त्वया चिन्त्यं सर्वं निजकृतिकृते चिन्त्यमिह यत् ।
वयं के कर्तारः जगति करणीयं च किमहो
तथा नित्यं यामो भव ! भुवि यथा प्रेरयसि नः ॥८६॥

कृतश्चेत्स्वाधीनो निजकृतिकृते निर्भरमहम्
मदीयाशंगेयं प्रभुवर ! वसेयं तव वशे ।
चलेयं मे बुद्धिः सततमभिभूता कुरजसा
क्षमा स्पष्टं द्रष्टुं किमपि नहि ते सद्द्युतिमृते ॥८७॥

असीम्नस्ते रूपं यदि मयि ससीमेऽपि लसति
क्षणेऽनन्तात् पारे व्रजति यदि चेदं मम मनः ।
क लीनं किञ्चिन्मे स्फुरति यदि बोधे सपदि तत्
अहेतौ कारुण्ये तदिह तव किं स्यां न कृतवित् ॥८८॥

सारस्वतो विलासः

शिवं सत्यं सौम्यं प्रतिहृदयरम्यं नवनवम्
स्वगीतं गायन्ती मधुरमधुरं पद्मसदने ।
प्रसन्नावाणी मे मनसि जगदानन्दजननी
स्ववासं कल्पेत प्रहसितमुखी सम्प्रति सदा ॥८९॥

परोक्षं प्रत्यक्षं यदुदितदृशा पश्यति जनः
यया स्वल्पोऽप्यात्मा भवति परमात्मा सपदि च ।
सदा सेयं शक्तिस्तव मम मनोऽन्तर्गततमो
निरस्यन्ती दूरं विमलतमभासाद्य लसतु ॥९०॥

उपनिवेदनम्

सुखं किं नो भुक्तं तव सुखमये शान्तिसदने
न किं किं विज्ञातं परममनुभूतं न च नवम् ।
सुखं दुःखे दुःखं पुनरपि सुसौख्ये परिणतम्
तवातिथ्ये दृष्टा परमिह न काचिद् विरसता ॥९१॥

भवाद् यद् वैराग्यं भवति भवतश्चापि यदि तत्
कदाचित् जातं तत् शरणविमुखेऽस्मिन् शरणद !

यदा सर्वे जन्या विचलितधियो मर्त्यतनयाः
विरागे रागे वा वयमिह पराधीनमनसः ॥९२॥

जगत्यां या काचित् ज्वलनकणिकापि ज्वलति ते
तथाप्यस्मल्लाभो भवति नियतो वेद्मि नहि वा ।
यथा दृष्टं सर्वं तव जगति नूनं निरमयम्
न तद्दुःखं दुःखं यदिह परिणामे सुखकरम् ॥९३॥

दयासिन्धो ! बन्धो ! त्रिभुवनभवानामनुपदम्
असारे संसारे तव चरणयोरेव शरणम् ।
प्रकामं सौन्दर्यं निजनिजकृतीनामिह फलम्
तवाधारः स्वामिन् भवतु सुहृदः किन्तु सततम् ॥९४॥

मया सर्वं यत्तत् कथयितुमयं धृष्टवचनः
जगद्बन्धो ! क्षन्तः किमपि गदितं चेदनुचितम् ।
न जाने किं वाच्यं किमिह न च वाच्यं प्रतिपदे
स्वभावात् सन्तोषो भवतु भवतो बालभणितौ ॥९५॥

न जाने सर्वस्वं तव चरणयोर्यस्य निभृतम्
स्थितानि त्वद्भक्तिद्रवितहृदयं संसृतिरसम् ।
अनिर्वाणानन्दप्रणयमुलनां — सत्यपदवीम्
स्वतन्त्रां वा दृष्टे स्वमनमपि वक्तुं गतभयः ॥९६॥

करक्लेशोऽप्येषां कृतिषु न विधेयः योऽत्र कुहचित्
विधाने लोकानां प्रबलतम आस्ते विधिरयम् ।
तथापि त्वां वेत्तुं यदि मयि सदैव ग्रहिलता
ममार्थे क्षन्तव्यः प्रतिजनिकृतो दोषनिकरः ॥९७॥

स्ववृत्त्यर्थं हिंसानिरतगणिकानामपि नृणाम्
क्षमां त्यक्त्वा ते नः क्व नु दुरितभाजामिह गतिः ।
कृपैषा ते नूनं परमकरुणापूर्ण — मनसः
यदस्मात् पापिष्ठानपि सुकृतभाजः प्रकुरुते ॥९८॥

मदीयं वाऽन्येषां भवति च निवेद्यं यदपि ते
फलं तत् पूर्णं त्वत् श्रुतिपथगतेरद्य लभताम् ।
क्वचित् कश्चिल्लोके किमपि शृणुयात् नापि शृणुयात्
शृणोषि त्वं नित्यं तदिह सुदृढं विश्वसिमि तत् ॥९९॥

कदाचिन्मीमांसे किमु फलमहो नामजपने
सकृत प्रोक्तं किं तद् विशति हृदये नैव भवतः ।
प्रतीक्षा द्वारे ते पलमपि कथं स्यात्समुचिता
उताहो राज्ये ते चिरकृततपस्यैव फलति ॥१००॥

न यस्मादस्वस्थो रसयति रसं किन्तु तपसः
पुरा तत् प्राणा मे दृढतम विधेया दृढतराः ।
बलं देयं देयः खलदलविदारी च विजयः
अशक्तानां लोके भवति दयनीया बत गतिः ॥१०१॥

त्वदीया या काचित् हृदि समुदिता स्वात्मलहरी
यथा चेमे शब्दा नभसि विहरन्तः प्रकटिताः ।
तथा सर्वं तुभ्यं भवभयहरायार्पितमिदम्
पठन् शृण्वन्नेतत् सकलसुखभाक् स्यात्तव जनः ॥१०२॥

नमस्ते सच्चिदानन्द नमस्ते प्रभवे विभो !
जगद्-भर्त्रे नमो नित्यं नमस्ते च भवात्मने ॥१०३॥

देवीप्रसादतनयो द्रुपदात्मजायाः*
मातु-र्वचोभि - रभि - लब्ध - हरि - प्रसक्तिः ।
विद्याधरोऽर्पयति यत् हरनामतृप्त्यै
नित्यं तदेव भवताद् भवभीतिहारि ॥१०४॥

लीला च ते भवतु सर्वसुखैः समेता
गाढञ्च संशयतमो भवतादपास्तम् ।

---

* द्रौपदीदेवी

वर्षामृतैर्वसुमती मुदिता सदास्ताम्
संसारवह्निशमनञ्च भवप्रसादात् ॥१०५॥

श्रीपुष्पदन्तस्य महामहिम्नः स्तोत्रस्य पाठे निरतेन नित्यम्
सद्दर्शनावाप्त-सदाशयेन भावाञ्जलिः कोऽपि समर्पितोऽयम् ॥१०६॥

एकोऽपि – कश्चिद्यदि – मामकेन
स्तोत्रेण कांचित् सु लभेत शान्तिम् ।
मन्ये श्रुतं सर्वमिदं विधात्रा
भक्तार्तिहर्त्रा – सुखशान्तिदात्रा ॥१०७॥

त्वं योऽसि यद्रूपमयश्च धातर्यथा च लोकप्रगतिं विधत्से
तथैव मान्योऽसि मतो मम त्वं सर्वा गतिस्ते जगतां शुभाय ॥१०८॥

एक एव भवाधारः, एकमेव च साधनम्
भगवन्नाम संकीर्त्य शुभं कर्म समाचरेत् ॥१०९॥

इमां भागवतीं श्रुत्वा स्तुतिं मे सर्वसौख्यदाम्
सद्बुद्धिश्च नवोत्साहं सर्वः सर्वत्र विन्दतु ॥११०॥

इति विद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन –
विद्याधर शास्त्रिणा गीता प्रभुलीला–
लहरीयं गीयतां सानन्दमन्यैरपि भक्तिरस रसिकैः सहृदयैः



॥ श्रीः ॥

अथ हिमाद्रिमाहात्म्यम्

श्री मालवीय उवाच—

शक्ति – पुत्रम्प्रणम्याहं गणेशं विघ्न – नाशनम्
त्रिपुरारिं महादेवं सेनानी च महाबलम् ॥१॥

हिमाद्रे – र्वच्मि माहात्म्यं नानापत्ति – निवारकम्
जीवनं भारतीयानां शिवप्रीतिकरं परम् ॥२॥

यस्य संस्मरणं नित्यं निधानं सर्वसम्पदाम्
विस्मरणं च विज्ञेयं निदानं विविधापदाम् ॥३॥

राष्ट्र रक्षा करं नित्यं विश्वशान्ति – विवर्धकम्
विज्ञैः सर्वत्र संश्राव्यं ग्रामे ग्रामे गृहे गृहे ॥४॥

यूयं वेत्थ महाभागा देवतात्मा हिमालयः
नगानामधिपो दिव्यो पूज्योऽस्माकं सनातनः ॥५॥

एष नः सर्वशक्तीनां पोषकः पालकस्तथा
युगेभ्यो रक्षकोऽस्माकं सर्वसौख्य – प्रदायकः ॥६॥

देवनद्योऽत्र संभूताः मान्या भारतमातरः
स्नान्ति सप्तर्षय – श्चास्मिन् नित्यं सरसि मानसे ॥७॥

पुराणेष्वस्य माहात्म्यं महद् व्यासेन वर्णितम्
कालिदासेन वाणेन स्वकाव्येषु पुन र्मुहुः ॥८॥

स्थितोऽस्मिन् सह पार्वत्या सर्व – दुःख हरो हरः
जगतः पितरावेतौ पालकौ नः सनातनौ ॥९॥

अत्र नारायणः साक्षात् राजते बद्रि - पर्वते
भुक्त्यै मुक्त्यै सदा यात्रा जनैरत्र विधीयताम् ॥१०॥

अत्र दिव्याश्रमा भव्या अत्र तीर्थाः सहस्रशः
अनन्तरत्न - पूर्णोऽयं दिव्यौषध - विभूषितः ॥११॥

तपस्विनां तपोभूमिः शुक्लः शान्तो हिमालयः
युगेभ्योऽपेक्षते शान्ति लोके सार्वत्रिकीं स्थिराम् ॥१२॥

नित्यं द्रष्टव्यम स्माभिः शान्तिरस्य हि दुर्जनैः
भग्ना न क्रियते कैश्चित् शुक्लिमा न च नाश्यते ॥१३॥

अजस्रं ह्यस्य वैशिष्ट्यं ध्येयं भारतजै र्जनैः
विस्मृते महती हानिः ध्रुवमेतद् ब्रवीमि वः ॥१४॥

श्रोतारः कथयन्ति—

सर्वमेतत् परं सत्यं शक्तिदं मुक्तिदं महत्
नवीने भारतेवर्षे नैवं किन्तु विमृश्यते ॥१५॥

तीर्थबुद्धि - विलुप्ता नः नष्टा कष्ट - सहिष्णुता
ग्रीष्मामोदे रतानां नः - तपः शक्ति विलोपिता ॥१६॥

श्रुत्वैतत् परमं खिन्नो मालवीयो महामनाः
ततः प्राह सनिःश्वासं गतिर्नेयं शुभावहा ॥१७॥

तपसां क्षीयमाणत्वात् विस्मृते - निजसंस्कृतेः
स्वशास्त्राणामनभ्यासात् राष्ट्रमस्तं हि गच्छति ॥१८॥

विभेमि न भवेत् कश्चित् दस्यूनां हि नवोदयः
पथभ्रष्टेषु देवेषु दानवै र्ज्यंते वलम् ॥१९॥

वयमार्यपथाद् - भ्रष्टा ब्रह्मचर्येण वर्जिताः
केवलं हन्त संजाता गायका नर्तका नटाः ॥२०॥

विविध – व्यसनासक्ताः क्षात्रधर्म विलोपकाः
हते धर्मे हता नूनं वयं स्याम बिभेम्यहम् ॥२१॥

पुरा स्वराष्ट्ररक्षायै सर्वे भारतजा जनाः
हिमालये तपस्तेपुः वयं सेवामहे सुराम् ॥२२॥

विस्मर्तव्यं क्षणं नैतत् पितृदेशस्य गुप्तये
यत्नो भागीरथो नित्यं राष्ट्रभक्तैरपेक्ष्यते ॥२३॥

अस्माकं जननी मुख्या माता देवी हि पार्वती
पयसाऽस्या वियुक्ताश्चेत् जीवितुं नैव शक्नुमः ॥२४॥

हिमाद्रेः स्मरणं तस्मात् कार्यं नित्यं शुभेप्सुभिः
स्वधर्मस्य रहस्यं च ज्ञेयं सर्वैः प्रयत्नतः ॥२५॥

श्रुत्वैतद् वचनं दिव्यं मालवीय महात्मनः
तत्रस्थैः श्रोतृभिः सर्वैः प्रार्थितं विनतैः पुनः ॥२६॥

त्वया ह्येव वयं शिक्ष्या यथा धर्मः सुरक्ष्यते
तपस्विन् आर्यधर्माणाम् ज्ञाता कोऽन्यस्त्वया समः ॥२७॥

अतीते नोहि ये धर्मा अद्यत्वेऽपेक्षिताश्च ये
द्वयोरेव भवान् ज्ञाता देशकाल – विदाम्वरः ॥२८॥

शाश्वता नो हि ते धर्माः सर्वशक्ति–विकासकाः
यथा ते विस्मृता न स्युः तथा मार्गो निदिश्यताम् ॥२९॥

धर्मेण हीनाः खलु शक्तिहीना
निजात्मदीनाश्च भवन्ति सर्वे ।
यथा स्वधर्म परिपालयामः
तथैव तस्माद् वयमद्यशिक्ष्याः ॥३०॥

इति श्री विद्याधर शास्त्रि विरचिते हिमाद्रि माहात्म्ये
परिपूर्णः प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनरुवाच--

सज्जना ! दुष्करं नेदं कृते भारतवासिनाम्
स्वभावाद् धार्मिका भव्या आर्या वर्तामहे वयम् ॥१॥

यच्च संसर्गदोषेण दोषजात – मुपार्जितम्
शक्यते तत् परिष्कर्तुं कर्तव्यो दृढनिश्चयः ॥२॥

यतोऽभ्युदयो नित्यः यतः श्रेयश्च शाश्वतम्
महर्षिभिः स सम्प्रोक्तो धर्मः श्रेष्ठः सनातनः ॥३॥

ब्राह्मे यामे समुत्थाय कृतस्नानादि – सत्क्रियैः
भगवत्स्मरणं कृत्वा व्यायामः समुपास्यताम् ॥४॥

गवां सेवा सदा कार्या पयः पानञ्च नित्यशः
दुर्बला सततं दीना दौर्बल्यं धर्मघातकम् ॥५॥

मुख्यं धर्मस्य रक्षायै समयस्य सुरक्षणम्
उपयोगो हि कालस्य लोके सर्वं सुसाधयेत् ॥६॥

आलस्यं पूर्णतः त्याज्यं तन्द्रा सेव्या नहि क्षणम्
स्थेयं सर्वत्र संसज्जैः सम्पाल्यः सैनिको विधिः ॥७॥

धर्मनीतिः समुत्कृष्टा नीत्या धर्मः सुशोभते
लभन्ते न समुत्कर्षं केचन नीति – पराङ्मुखाः ॥८॥

अहिंसा परमो धर्मः सामनीतिश्च शोभना
काले काले क्वचित् हिंसा दण्डनीतिश्च सेव्यते ॥९॥

शठेन व्यवहर्तव्यम् शाठ्येनैव सतां मते
प्रकृत्याऽसौ हि पापात्मा विश्वासं नार्हति क्वचित् ॥१०॥

शठैः सम्पादिता मैत्री प्रायशः प्राणहारिणी
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत् ॥११॥

आततायिन – मायान्तं हन्यादेवाविचारयन्
आततायिवधे दोषो हन्तुः कश्चिन्न मन्यते ॥१२॥

वृद्धानां वचनं ग्राह्यं त्याज्याहंभाव – भावना
श्रोतव्यैव च सर्वेषां हितवार्ता हि या भवेत् ॥१३॥

पक्षे स्थेयं नचैकस्मिन् कदाचिद् शुभशासकैः
सत्यरक्षा सदा कार्या यत्र कुत्रापि तद् भवेत् ॥१४॥

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च तथा नृपाः
स्वल्पया हि तदुन्नत्या तुष्टैर्भाव्यं न सर्वथा ॥१५॥

जनवृद्धेरनित्यत्वात् जनाः शैथिल्यमागताः
मुहुर्मुहुः स्वधर्मे तत् योज्या राज्ञा सदैव ते ॥१६॥

स्थेयं नित्यञ्च सन्नद्धैः स्वकर्मण्यधिकारिभिः
सामान्यं चापि यत्कार्यम – उपेक्ष्यं नैव तैः कचित् ॥१७॥

नीतिनिर्धारणे भाव्यं सन्ततं दूरदर्शिभिः
शत्रूणामथ मित्राणां नित्यं कार्यं परीक्षणम् ॥१८॥

महाकाली महालक्ष्मीः तथा दिव्या सरस्वती
नित्यं सहैव वर्तन्ते नह्युपास्याः पृथक् पृथक् ॥१९॥

शक्तिशून्यं हि यद्ज्ञानं कर्मक्षेत्रे निरर्थकम्
दुर्गतं मानहीनं तत् मन्तव्यं हि नपुंसकम् ॥२०॥

ज्ञानशून्यं बलं चेत्यं साध्यं नैव सुसाधयेत्
आभ्यां हीनञ्च यद् वित्तं विपदामेव तत् स्थलम् ॥२१॥

ज्ञाने बले तथा वित्ते समं सुसमुपार्जिते
कर्मशक्ते – र्भवेद् वृद्धिः शुद्धशक्ति – र्हि या मता ॥२२॥

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं" गीतोक्तं हि सनातनम्
रक्षकं सन्ततं रक्ष्यं चतुर्वर्गस्य साधकम् ।।२३।।

भारते साम्प्रतं दैवात् धर्मोऽत्नौ शिथिलोऽभवत्
दार्ढ्यं नैष समुद्धार्यः विमृश्यश्च पुनः पुनः ।।२४।।

श्रोतृभिः पुनरुच्यते—

भगवन्नेष सन्देशः नूनं सर्वहितावहः
तथापि संशयाक्रान्ता वयं वर्तामहेऽधुना ।।२५।।

स्वार्थेन बत लोभेन ग्रस्तेऽस्मिन्नद्य जीवने
धर्मस्य सुप्रसारोऽयं कथं स्यात् सहजः पुनः ।।२६।।

विचारः साम्प्रतं चायं रूढ एव जने जने
विनाऽसत्यस्य संयोगं सत्यं न स्यात् फलप्रदम् ।।२७।।

इति निशम्य पुनः स बुधोऽब्रवीत्
त्यजत — संशयमेनमहोऽवरम् ।
यदनिवार्य — मपेक्षितमस्ति नः
बुधजनै र्नहि तत्र विशंक्यते ।।२८।।

इति श्रीहिमाद्रि-माहात्म्ये परिपूर्णो द्वितीयोऽध्यायः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनरुपदिशति—

संशयै – निर्बलो नात्मा क्वचित् कार्यः कदाचन
उत्थिताश्च प्रबुद्धा येकर्तुं किं तैं र्न शक्यते ॥१॥

उत्थातव्यं च योद्धव्यं राष्ट्ररक्षाकृते सदा
शाश्वतो ह्येष धर्मो नः नान्यः पन्थाः शुभावहः ॥२॥

राष्ट्रस्यापि सुरक्षायै पुरावर्मोह्यपेक्ष्यते
ऋते तं नैतिकी शक्ति – विकासं नाप्नुते क्वचित् ॥३॥

स्वदोषा एव लोकेऽस्मिन् शत्रवः प्रबला मताः
ते ह्येवातः पुरा दम्या संछेद्या मूलत–स्तथा ॥४॥

शत्रुभिः क्रियतां किं तै–र्न तत् चिन्त्यं विशेषतः
स्वशक्ते र्वर्धनं सर्वैः सम्पाद्यं सर्वतः पुरा ॥५॥

सशक्ते नैव कुदृष्टि कोऽपि लोके निपातयेत्
तिष्ठन्ति शत्रवो भीताः स्वयं तस्मात् परे परे ॥६॥

न मैत्री काम्यते कैश्चित् न वा सन्धि र्हि निर्बलैः
नाना सामाजिका दोषा वर्धन्ते चैषु सन्ततम् ॥७॥

विश्वशान्ति – कृते नित्यं शक्ति – रेव गरीयसी
विना भीतिं दुरात्मानः वार्ता काञ्चिन्न शृण्वते ॥८॥

व्यर्थश्चैव विचारोऽयं न युद्धं साम्प्रतं भवेत्
भावि पश्याम्यहं युद्धं नैषामन्तो भविष्यति ॥९॥

जन्मभूमेः सुरक्षार्थं युद्धाय कृतनिश्चयैः
भारतीयैः सदा स्थेयम् स्वातन्त्र्यं नदपेक्षते ॥१०॥

प्राचीनं मध्यकालीनं नवीनञ्च विदाम्वराः
भारतस्य यथैतिह्यं मयाधीतञ्च चिन्तितम् ॥११॥

सत्यस्यैव युगस्यायं देशः कश्चित् पुरातनः
सात्विकै रेव सद्भावै – र्दुर्जनानेष मर्षति ॥१२॥

द्व्यधि सहस्रवर्षेभ्यो दोषोऽस्मिन्नेष चागतः
नायं मायामये लोके मायामाश्रित्य जीवति ॥१३॥

झञ्झावाते समायाते क्षणं भूत्वा समाकुलः
पुनः शान्तोऽनपेक्षोऽयं शान्तिमेव प्रसेवते ॥१४॥

युगधर्म – विरुद्धेयं किन्त्वेषा साम्प्रतम् गतिः
राष्ट्रे स्वातन्त्र्य – रक्षार्थं परिवृत्तिमपेक्षते ॥१५॥

छलछिद्रान्विता सर्वा साम्प्रतं कलिसन्ततिः
व्यवहारे तया सार्धं नैका नीतिः सदा शुभा ॥१६॥

सज्जना वशमायान्ति सत्कार्यैश्च सदाशयैः
अनार्या दस्यवो वध्याः दण्डेनैव हि दुर्जनाः ॥१७॥

काकादपि महाधूर्ता निर्घृणाः सर्वभक्षिणः
प्रकृत्या निर्मिताः केचित् प्रत्यक्षं नरराक्षसाः ॥१८॥

आर्यधर्म – विरुद्धास्ताः प्रसिद्धा म्लेच्छजातयः
सन्त्यत्र भूतले काश्चित् स्वभावात् हिंस्रवृत्तयः ॥१९॥

मृषावाचो द्विजिह्वास्ता नानारूपधरा मताः
नैता विश्वासमर्हन्ति नचौदार्यं च किञ्चन ॥२०॥

पुरा मैत्रीं ततो वैरं विश्वासस्य च नाशनम्
विविधैस्ते – नटी वेषैः मोहयन्त्यत्र मानवान् ॥२१॥

चारैस्तासां स्थिति र्ज्ञेया रक्ष्यो मन्त्रश्च यत्नतः
सतर्कै रेव संस्थेयं ताभ्यो नित्यं बुभेप्सुभिः ॥२२॥

सम्बन्धे यैश्च युष्माकं मैत्र्यंशोऽपि भवेत् क्वचित्
सौहार्दं तैः सुसंरक्ष्यं मित्रलाभे परं फलम् ॥२३॥

वृत्तार्णवेन[1] वीरेण जयपानेन[2] सर्वशः
तथैवामरकायेन[3] शस्त्रविद्याधरेण वा ॥२४॥

बंधुना नयपालेन[4] ब्रह्मदेशेन सैंहलैः
गांधारैः पारसीकैश्च सन्मित्रै र्मलयादिभिः ॥२५॥

सज्जनैः प्राक्तनै मित्रै - रफ्रिकादेश वासिभिः
अर्वप्रभृतिभिश्चान्यैः यथाकालं रसौकसा[5] ॥२६॥

संरक्ष्यो मातृसम्बन्धः सर्वैरास्तिक - मण्डलैः
सीमासंरक्षणं नित्यं शूरैः कार्यं च दुर्जयैः ॥२७॥

राष्ट्ररक्षण - लग्नेभ्यो जीवनं मरणं समम्
स्वातन्त्र्ये जीवनं तेषां दास्ये च मरणं महत् ॥२८॥

अणुशक्ते - र्युगं ह्येतत् सर्वत्रैषा समपेक्ष्यते
अण्वस्त्राणां विकासेऽपि प्रदर्श्यं पाटवं ह्यतः ॥२९॥

प्राक्तनादेव कालाद्वद् - वयं स्मोऽथर्व - शक्तयः
शस्त्रास्त्राणां विधानज्ञा यत्र विद्या - विशारदाः ॥३०॥

अन्यासामपि शक्तीनां शक्तिरेभिः प्रपुष्यताम्
वैज्ञानिकै श्च साध्यन्तां किं किं नाभिः सहस्रशः ॥३१॥

---

१ इतालिया २ जापान ३ अमेरिका ४ नेपाल
५ रूस

ततोऽपि मुख्यं बलमात्मशक्तेः
मतं प्रधानं हि मते मदीये ।
मनोबलं तेन विना न लभ्यम्
उत्साह शक्तिश्च न वृद्धिमेति ॥३२॥

इति श्री हिमाद्रि-माहात्म्ये परिपूर्णः सर्वशक्ति विकासकः तृतीयोऽध्यायः



अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्री मालवीयः पुनः प्रश्नोघयति

वयमात्मवले नूनं मुख्या वर्तामहे भवे
स्वभावाद् भारतेवर्षे नित्यमुच्चं मनोवलम् ।।१।।

ह्रासस्तस्याद्य कश्चिच्चेत् विस्मृतिस्तत्र कारणम्
स्वरूपं तत् पुनर्ज्ञेयं विहेया चात्महीनता ।।२।।

भारतीयो हि यः कश्चित् – अनुसर्ता स्वसंस्कृतेः
तत्र स्वयं प्रवर्धन्ते गुणास्तद् – वलवर्धकाः ।।३।।

प्रसिद्धा भारती नारी दुष्टदर्प – विमर्दिनी
शक्तिरूपा स्वभावात् सा रणे चण्डी भयंकरी ।।४।।

सत्येऽस्माकं पराशक्तिः सत्यं जयति नानृतम्
दैनिके व्यवहारे तत् सत्यं रक्ष्यमशेषतः ।।५।।

शिक्षणे, शासने, चित्ते दम्भश्चेत् कोऽपि वर्धते
जनानां खलु विश्वासः समूलं तत्र नश्यति ।।६।।

यथा राष्ट्रे भवेद् वृद्धि–श्चारित्र्यस्यात्म–सम्पदः
लोभस्याथ यथा त्यागो दुष्टा तृष्णा च दम्यताम् ।।७।।

यथा दण्डयाश्च दण्डयन्ते राष्ट्र–शान्ति–विघातकाः
निरुध्यन्ते च यथा सद्यो राष्ट्र कोपस्य लुण्ठकाः ।।८।।

यथाऽय रक्ष्यते नित्या विश्वकल्याणभावना
तथा नित्यं प्रयत्येरन् भवन्तो वुधसत्तमाः ।।९।।

प्रोद्दीप्ता जायतां नूनं दैवी शक्तिः पुनः स्वम्
सत्कर्मप्रीति – सम्पन्नाः सर्वे देवाः स्वभावतः ॥१०॥

जगन्नाथो महानाथः रक्षकः पूर्वसागरे
महाकाली च कामाक्षी प्राच्यां प्रागुत्तरे तथा ॥११॥

सोमनाथो महादेवो द्वारकावीश्वरो महान्
पद्मनाभो महाविष्णुः पालकः पश्चिमे तटे ॥१२॥

नारायणस्तथोदीच्यां त्राता वदरिकाश्रमे
हैमः केदारनाथश्च – भक्तानां परिपालकः ॥१३॥

महान् रामेश्वरो देवः दिव्या कन्या कुमारिका
दक्षिणे भ्राजते–शक्ति नित्यास्माकं महीयसी ॥१४॥

मृत्युञ्जयो महाकालः चामुण्डा शव–वाहिनी
ज्वालामुखी महाशक्तिः एकलिङ्गो महेश्वरः ॥१५॥

श्री रङ्गः पाण्डुरङ्गश्च भगवान् वेंकटेश्वरः
विश्वनाथो भवाधारः प्रचण्डः कालभैरवः ॥१६॥

अन्ये च जैनबौद्धानां खिष्टानां सिक्ख संगिनाम्
सम्पूज्या इष्टदेवा ये गुरवश्च तपस्विनः ॥१७॥

अस्माकं रक्षका एते भयभीता कुतो वयम्
अस्माभिः सिद्धपीठानाम् एषां कार्यं सुरक्षणम् ॥१८॥

वलिभि र्वलिनो देवा निर्वलै स्तेऽपि निर्वलाः
वलं सर्वविधं तस्मात् संग्राह्यं विजिगीषुभिः ॥१९॥

हिमाद्रौ रक्षिते सर्वे तिष्ठन्त्येते महावलाः
नगेन्द्रोऽसौ सदारक्ष्यः प्राणैरपि धनैरपि ॥२०॥

यदा यदा दुराक्रान्तो दुष्टैरेष हिमालयः
तर्हि तर्ह्येव जातेयम् उद्विग्ना देवमण्डली ॥२१॥

म्लेच्छैश्चेत् संस्कृति र्ध्वस्ता संस्कृतं वा विलेपितम्
स्मरणं-पूजनं भूयो देवानां कै र्विधीयताम् ॥२२॥

रक्षा नो रक्षिते ह्यस्मिन् जयश्च शाश्वतो ध्रुवम्
अरक्षिताश्च तिष्ठामो हिमाद्रिश्चेदरक्षितः ॥२३॥

संकल्पः प्रत्यहस्तस्मात् ग्राह्यो भारतजै-र्जनैः
नैपदेशः खलैः कैश्चित् तेषु जीवत्सु दूष्यताम् ॥२४॥

निशम्यैतत् सदस्यास्ते स्वाभिमानाभिमन्त्रिताः
स्वरेणैकेन संघोषं चक्रु - "जयहिमालय" ॥२५॥

श्रुत्वैनं जय - संघोषं कैलाशे मुदितो हरः
पार्वती च परम्प्रीता नित्यमेनं वरं ददौ ॥२६॥

हिमालये मदावासे येषां श्रद्धा सनातनी
तेभ्यो दास्याम्यहं नित्यं जयं, कीर्तिं, स्थिरां श्रियम् ॥२७॥

विद्याधरेण बुधवृन्द - कृपाधरेण
श्री मालवीय - शतक - स्मृतिपुष्पमेतत् ।
भक्त्यार्प्यते हिमगिरि - स्तवनात्मकं तत्
कैलाश वासि - शिवशंकर पादपद्मे ॥२८॥

दिव्यो महान् सुरसरिज्जनको हिमाद्रिः
संजीवनीभिरमृताभि - रहो न काभिः ।
दिव्यात्मशक्ति - जननीभि - रनादिकालात्
दिव्यौषधीभि - रनिशम् परितो न दीप्तः ॥२९॥

जागर्तु विश्वहृदि विश्व - हित - प्रवृत्तिः
शुद्धामतिश्च समुदेतु नलभ्य चित्ते ।
राष्ट्रेषु शक्ति - रखिलेषु तयोद्भवेत् सा
रक्षाकरी भवतु याऽखिल - निर्बलानाम् ॥३०॥

इति विद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसाद शास्त्रि तनयेन —
विद्याधर शास्त्रिणा विरचिते श्री मालवीय-शतकस्मृति
स्मरणीये हिमाद्रि-माहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ श्रीः ॥

अथ काव्य वाटिका

संगृह्य संगृह्य यतः कुतश्चिद् – वीजानि यस्याम् प्रतिरोपितानि
क्षुद्रापि सा मे मरुवाटिकेयं सेच्या सुहृद्भिः स्वकृपार्द्रभावैः ।।क।।

जानामि नित्यम्परिवृत्तिशीले स्थिरं न किञ्चिज्जगतीतलेऽस्मिन्
पलद्वयं किन्तु यदत्र तिष्ठेत् कस्यापि गीतस्य पदद्वयं तत् ।।ख।।

तत्रादौ मातृवन्दनम्

(१)

सर्वात्मिके सर्वमनोऽभिरामे वीणाधरेऽलौकिक – गानमग्ने
क्षणं स्ववासेन मनो मदीयम् आनन्दसञ्चारमयं विधेहि ।।१।।

मदीयवाचाप्यथ विश्वहृद्यम् गेयं ततः किञ्चन गीतमेकम्
भवेत् कृतार्थो मम शब्दराशिः कश्चिन्नवोऽर्थश्च विभातु लोके ।।२।।

आकृष्य ये त्वां च हठात् सुगातुम् कुर्वन्ति कश्चिद् विफलम्प्रयासम्
प्रकम्पितोऽयं मधुरः स्वरस्ते विधीयते किं नहि तैः स्वमौर्ख्यात् ।।३।।

सदा प्रसन्ना स्व विचार मग्ना स्वयं स्वतन्त्री च यदा स्पृशेस्त्वम्
भवन्त्यवाचो नहि के तदानीम् निशम्य तद् गीतमहोऽद्वितीयम् ।।४।।

विद्यो वयं किंचन वा न विद्मः विद्मः परं त्वं हि सरस्वती नः
ये त्वां भजन्ते शुचिभिर्मनोभिः नित्यं स्वतस्ते सरसा भवन्ति ।।५।।

शक्तोऽप्यशक्तो भवतीह तावत् शक्ति त्वदीयां लभते न यावत्
जलेन पूर्णोऽपि घनोऽनुकूलां गतिं विना वर्षति नैव वायोः ।।६।।

तद्रक्ष नित्यं स्वकृपार्द्र – दृष्टिं सदाऽनुकूलां मयि शक्ति–धात्रीम्
मति–र्भवेन्मे न कदापि मन्दा वर्षेच्च नित्यं नव – काव्य वर्षाम् ।।७।।

अथापरा मातृ–स्तुतिः

(२)

मात र्यदैव विनताः प्रणताः स्तुमस्त्वाम्
सद्यः प्रयान्ति दुरितानि लयं क्वचिन्नः ।
शान्ति – र्मनो विकसितिः – सुमति – र्विशाला
स्फूर्तिश्च काऽपि समुदेति विलक्षणैव ।।१।।

दृष्टं मयैतदखिलं त्वदुपासकानाम्
स्तोत्रेषु सत्कवि – जनोक्तिषु च नित्यमेव ।
भूयोऽनुभूतमथ सत्यमिदं स्वयं च
प्रत्यक्षमेव वहुधा स्मरणेन तेऽम्ब ! ।।२।।

तत्र प्रमाणमपरम् प्रथितं च मातः
श्रीकालिदास भवभूति – महाकवीनाम् ।
वाणस्य – सत्कृतिषु चानुपमासु हृद्यम्
केषां मनो हरति यन्न विभासमानम् ।।३।।

तैः श्रावितं मधुर – गीतमहो कदा किम्
यस्मात् – स्वयं सपदि तैः ससवेत्य मत्ता ।
गातुं ह्यपूर्वमिह दिव्यमहो प्रवृत्ता
यद् – गीति हृद्य – लहरी मधुरा त्रिलोक्याम् ।।४।।

निर्णायकैरपितु किंचन किन्तु गेयम्
सर्वेऽपि गान – निपुणा न भवन्ति लोके ।
शुष्केऽपि कीचक – वने पवन – प्रवेशः
किं किं स्वयम्प्रकटयेन्न सुरम्य – गानम् ॥५॥

रम्या च भाति खलु सैव तरङ्गिणी या
नित्यं वहेत् प्रकृति – सिद्ध – पथि स्वकीये ।
संखन्य भूतलमथ प्रति – नीयमाना
कुल्या न कापि लभते सरणीं स्वतन्त्राम् ॥६॥

तस्मात् कृपा प्रतिपदं तव नित्यमीहे
काव्यं यथास्तु मम कृत्रिमदोष – मुक्तम् ।
यस्मिन्नलौकिकमथाखिलमेव भातु
त्यक्तं यथार्थ – कथनेन न यत् कचित् स्यात् ॥७॥

सर्वं गीतमयं जगत्

भास्करो भासतां नित्यं भासतां च तथा शशी
तारास्तथापि सायान्हे भान्तु किं न नभस्तले ॥१॥

सरिद्भिः प्रस्रवन्तीभिः कामं खेलतु सागरः
शिशवः किं न खेलन्तु स्वकुल्याभि र्गृहाङ्गणे ॥२॥

राजा येन पथा यातं तेन यातु न याचकः
अनन्ते विश्वमार्गेऽस्मिन् कोऽन्वेवं कश्चिदादिशेत् ॥३॥

वाङ्मयस्य च वारेयं शाश्वती काऽप्य नादितः
मनुष्येषु मनो यावत् तावन्मानस – वीचयः ॥४॥

गायने निपुणाः केचित् न वा कश्चित्तथा भवेत्
गीयते किन्तु कैं नास्मिन् सर्वं गीतिमयं जगत् ॥५॥

कोकिलालाप – रम्यं यद् वनं तद् झिगुरैरपि
झिकृतं क्रियते किं न स्वझिंकारेण सन्ततम् ॥६॥

प्रभुगीतानि गीयन्तां गीयतां देश गौरवम्
तच्चापि गायकै र्गेयम् यत् – सर्वोन्नति–कारकम् ॥७॥

किञ्चिन्मनोगतं गीतं गीतं ह्येतत् मयापि तत्
श्रूयतां विज्ञवर्यैस्तत् स्वतो हृद्यं हि तद् भवेत् ॥८॥

प्राभातिकं तत् स्तवनं खगानाम्*

उच्छेदयद्–गाढतमः–प्रसारम् चन्द्रप्रभां चापि तथा मनोज्ञाम्
विस्फूर्यमाणं हि विलोक्यतां जनैः प्राच्यां दिशायामुषसो महन्महः ॥१॥

निरीक्ष्य यत्साभरणा विभावरी याता ह्यशेषा जगतस्त्वराभरा
दृष्ट्वा कयाचित् परया युतम् प्रियं भृशम्प्रकुप्येत् खलु का न नायिका ॥२॥

दीप्तम्पुरा सूर्य – करैर्नभो हि स्वयम्प्रदीप्तः पुनरेष जातः
कुर्वन्तु सर्वे प्रणतिम्प्रहृष्टा हे विश्वमूर्ते परिपाहि विश्वम् ॥३॥

भृंगोऽपि गुञ्जन्नयमेति साम्प्रतम् फुल्लारविन्देन समेतुमीरयन्
त्यक्त्वा नहि त्वां गतवानहं क्वचित् आनीयते पश्य मया तव प्रियः ॥४॥

वियच्चराश्चापि तरुस्थितास्तथा कूजन्ति सर्वत्र मनोहरस्वराः
यद् भाति नूनं विदुषां सतां मते प्राभातिकं तत् स्तवनं खगानाम् ॥५॥



* सन् १९१९ में निर्मित आरम्भिक रचना

राका विहारः

चन्द्रप्रकाशः परितः प्रसारी, राका प्रशान्ता, प्रकृतिः स्थिरासीत्
यदा कदाचित्सरितः प्रवाहे ध्वनिः श्रुतिं कोऽप्यविशच्च सद्यः ॥१॥

माधुर्यसारे समये प्रियेऽस्मिन् चेतो विकासोऽनुपमोऽनुभूतः
संलापलीनः सुहृदा सहाहं तटे सुरम्ये व्यचरं विशाले ॥२॥

क्वचिद् विविक्तः क्वचिदन्तराले क्वचिच्च शाखासु निषण्ण एव
क्वचिद् तरोर्मौलिवदेव चन्द्रः पर्णावलीमध्यगतो विभाति ॥३॥

नदीं कदाचित् गगनं कदाचित् तरुं कदाचिच्च विलोकयन्तौ
सर्वत्र शुभ्रां सुषमां पिबन्तौ, आनन्दरूपावभवाव तत्र ॥४॥

स्वप्नस्य लोके कुहचिद्भ्रमन्तो विस्मृत्य चिन्तां निखिलां जगत्याः
सखाय एते मुदिता प्रमत्ता दुःखस्य नाम्नाऽपि न सन्त्यभिज्ञाः ॥५॥

नवं नवं भावमयं विलासं क्षणे क्षणे भूरि विकासयन्तः
स्थलं स्वहासैः परिपूरयन्तः नानाङ्गभङ्गैः परितो लुठन्ति ॥६॥

रोगो विवेकस्य न तेषु कश्चित् न चापि काचिद्यशसोऽभिलाषा
वसन्तवातः समयः सुरम्यो गीतिश्च काचित् परिमादिनीयम् ॥७॥



मरुबालानां वर्षाभिनन्दनम्

मातर्वर्षति वर्षेयं पश्य पश्य गृहांगणे
कीदृशा बिन्दव: स्थूला: कीदृशो मधुरो ध्वनि: ।।१।।

घना इत: समायाता घटाचेयं ततस्तता
आगच्छ विमले शीघ्रं स्नास्यावस्तत्र चत्वरे ।।२।।

समायात्यत्र कुल्येयं जलं चेयन्मितं तत:
आयाहि तत्र पश्यावो नदीयं याति वेगत: ।।३।।

कथंकार – महाधारा नालिकाभ्य: पतत्यध:
निर्मलं सलिलं ह्येतत् पूरयावो न किं घटान् ।।४।।

शाश्वती काव्यधारा:

अहोऽद्य कीदृक् जगति भ्रमोऽयं विवर्धमानो बत कोप्यनार्य:
"काव्यम्प्रकृत्या प्रभवेन्न किञ्चित्" तद् गीयते विस्मृति–वर्धनार्थम् ।।१।।

निनादयन्ती सततं स्ववीणां वाणी कदा तिष्ठति किन्तु मूका
स्वगान–शून्याश्च कदा स्वरा वा नित्यम्प्रमत्ता प्रकृति: स्वभावात् ।।२।।

मौनेऽपि नादोऽनुपमो जगत्यां विलक्षण: कोऽपि रसश्च शुष्के
योगे वियोगेऽत्र गति: समाना दृष्टि विशाला कविना विधेया ।।३।।

काव्यस्य लोके न धनी सुमान्यो दीनोथवा कोऽपि भवेद् विहीन:
साहित्यसृष्टि: पृथगेव काचिन् नावीनतां गच्छति सा विधातु: ।।४।।

सौख्यानुभूतिः कविमानसे या तस्यैव सेयं सुखसागरस्य
यस्येह लीला परितो हसन्ती सर्वेषु दृश्येषु रसं बिभर्ति ॥५॥

उत्तालतालं कुरुते स्व – नृत्यं घोरे श्मशानेऽपि सदैव रुद्रः
अज्ञातभावा प्रकृतिस्थलीयं तेनैव सार्धं कुरुते च लास्यम् ॥६॥

गानेन मत्तो भुवने न किंचिद् गानेन शून्यं कविना व्यलोकि
रेखा न काचिद् विकलेह चित्रे विभावयेद्याभिनवं न किंचिद् ॥७॥

मन्ये न काव्येन भवन्ति मत्ताः क्षुत्क्षामकण्ठा वसनै–र्विहीनाः
घोरेण शैत्येन जडीकृता वा गानेन शून्या नहि तेऽपि किन्तु ॥८॥

बालैः स्वखेला–निरतैरकस्मात् स्त्रीभि–र्निजान्तर्ध्वनितं च नित्यम्
वने निशीथे पथिकै रहो वा यद् गीयते तत् निखिलं हि काव्यम् ॥९॥

स्वकर्ममग्नैः श्रमिकैश्च सार्धम् अचेतनैश्चापि निजे प्रवाहे
यो घर्घरेति क्रियते ध्वनिर्वा काव्यं तदव्यक्तमहोऽद्वितीयम् ॥१०॥

अव्यक्तमेतत्–निखिलं स्वमत्तम् प्रतीयते संरचयत् स्वगीतिम्
निशम्यते नित्यमियं च मौनम् केनाप्यनन्येन सुखं स्वलोके ॥११॥

तद् गीयतां मित्र सदैव हृद्यं यच्चापि तेऽन्तः प्रभवेत् स्वभावात्
स्वाभाविकं सर्वमिदं हि भव्यम् निगीयमानं सततम्प्रकृत्या ॥१२॥

प्रणयोद्भूतिः

किं तद्–भावमयं विलक्षण–गुणं दृश्यम्परं मोहकम्
विस्मर्तुं नहि शक्यते नयनयो–र्यातं क्षणं यत्पुनः ।
किं रूपं सुदूरागतं कथमहो व्याप्तं च तत् सर्वतः
वेत्ता तस्य तु सृष्टि–मोह–पतितः शंके न धाता स्वयम् ॥१॥

व्यग्रो भूःप्रिय मा कचित् स्थितिरियं साध्या न सद्यो जनैः
प्रेम्णो लक्षणमेव "धैर्य-सहिता शान्ता प्रतीक्षा" यतः।
मौनी, शाश्वत-निश्चयी, दृढरति-र्विश्वासभू-र्निश्चलः
कृत्वा कामपि साधनां स्थिरतमां प्रेम्णः कृपाम्प्राप्नुते ॥२॥

यस्मिन् प्रेम्णि सुसंगमो हृदययो र्जायेत विश्वात्मनोः
तत् प्राप्ति-र्यदि सद्य एव न भवेद् वैचित्र्यमत्रास्ति किम्।
एकस्मिन् क्षण एव सर्वमपि तत् तच्चेतस-स्तज्जगत्
एकं ह्येव कथं भवेत् क्षणमिदं धैर्येण संचिन्त्यताम् ॥३॥

अद्वैतं भवभूतिना निगदितं दिव्यं सदानन्ददम्
लोके जातमलौकिकं किमपि यत्-प्राप्तं तपोभि-र्द्वयोः।
नित्यम्पूतमिदं च धर्म्यमखिलं त्यागादिभिः संभृतम्
प्राप्तव्यं क्षणिकैर्न कैश्चन जनै - र्भावैश्चलैरैन्द्रियैः ॥४॥

शृणुध्वमद्यापि निवेदनं मे

शृणुध्वमद्यापि निवेदनं मे किंचिद् विनम्रं मनुजाः समस्ताः
न सर्वथैवाद्य विलोपनीया ह्रासोन्मुखी वै स्वमनुष्यतेयम् ॥१॥

लुप्येत सर्वापि मनुष्यता चेत् नारायणोऽपि क्व वसेन्न् लोके
नारायणे चाथ नरे न कश्चित् भेदः स्वसत्कर्मणि - विद्यमाने ॥२॥

विरम्य सर्वात्म - विनाश वृत्ते विश्वस्य सर्वस्य - विनाशनात्तत्
सद्भ्रातृभावोऽपि विवर्धनीयो रक्ष्या जगत्याः प्रकृतिश्च शुद्धा ॥३॥

स्थितं जगत्यां कलहायमानैः चिरं मिथो ध्वंसपरैर्भवद्भिः
शत्रुत्व-भावैक - विवृद्धिलीनैः सदैव शंका - निरतंरशान्तैः ॥४॥

न लक्ष्यभेदो नहि मार्गभेदः न साधनानामथवास्ति भेदः
तथापि भिन्नैव मतिर्गतिर्वा कथं जनान्नः कुरुते विशीर्णान् ॥५॥

विश्वं हि विध्वंसयितुं न वात्रा मनुष्यसृष्टिर्विहिता वतेयम्
भ्रष्टः स्वमार्गात् कथमद्य मर्त्यो भ्रान्तो जगत्यां भ्रमति प्रमादात् ।।६।।

धर्मो मनुष्यस्य सनातनोऽयम् जीवाः समस्ताः परिपालनीयाः
प्रतिक्षणं किन्त्वधुना हि धात्रीम् जीवैर्वियुक्तां किमहो न कुर्मः ? ।।७।।

कुरुष्व तत् किञ्चन नित्यमीदृक् येनात्र सर्वे सुखिनो वसेयुः
स्वयं सुखी स्याः सुखिनोऽपरे च त्वदीय कार्यैः सततं भवेयुः ।।८।।

सर्वमेतद् भवेत्पुनः*

तद्दिने विक्रमीरेय, चक्रवर्तिन् महामते
ईप्सितं मान्यवर्य्यैत, सर्वमेतद् भवेत्पुनः ।।१।।

यद्दिने भारताध्यक्षा, भोजराजानुसारिणः
पण्डितानां सभां कुर्युः, कवीनां च समादरम् ।।२।।

विद्वांसो जीविका – प्रश्नैरक्लान्ताः शान्तचेतसः
यापयेयुः सुखं कालं निरताः शास्त्रमंथने ।।३।।

गवां संरक्षणम्पूर्णम् पोषणञ्चार्य – संस्कृतेः
भारते भासतां नित्यं शुद्धा संस्कृत – भारती ।।४।।

क्षुत् पिपासाकुलः कश्चित् प्राणी प्राणैर्न हीयताम्
प्रति – गेहमथातिथ्यं पूर्ववत् सुलभं भवेत ।।५।।

स्वर्णोऽपि स्वर्ण वर्णाभा गंगायां शुचिता पुनः
ऐन्द्रे धनुषि वैचित्र्यं तद्दिने भासतां नवम् ।।६।।

---

* महामहिम गवर्नर जनरल विद्वत्प्रवर श्री राजगोपालाचारी जी द्वारा एक संस्कृत सम्मेलन में अभिव्यक्त एक आशंसा की पूर्ति में प्रेषित पद्यावली ।

भूयः समायास्यति

स्थातव्यं स्थिरनिश्चयैरविरतं विश्वासपूर्णैस्तथा
स्वार्थान्धैर्वत दुर्जनैः शकलितेऽप्यस्मिन् स्वराष्ट्रेऽधुना
स्वाधीने प्रियभारते नवनवः स्यादेव भाग्योदयः
सर्वानन्दमयी स्थितिश्च सुतरां भूयः समायास्यति ।।१।।

लुप्तः पञ्चनदात् स संस्कृतविदां वेदध्वनिः पावनः
शीर्णा सा च सुसंस्कृतात्ममनसां सन्मण्डली धीमताम् ।
जाता स्वप्नसमाश्च हा लवपुरव्याप्ताऽखिला संस्कृतिः
धैर्यं रक्ष सखेऽचिरात् प्रतिपुरं भूयोऽपि सा थास्यति ।।२।।

तारुण्यं हि गतं गतं पुनरिदं नागच्छतीति श्रुतिः
वर्षिष्ठै नितरां स्वकर्मनिरतैः श्रुत्वापि न श्रूयते
सोत्साहै-र्नवयौवनं नवतमं वृद्धोऽपि भीष्मो युवा
क्षीणं चेत् तदिदं कथंचिदधुना भूयः समुद्भास्यति ।।३।।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र ह्यधुना क्षीणोऽखिलो दृश्यते
संस्कारार्जित-संस्कृतिश्च निखिला जाता विकारावृता
दिव्यं दार्शनिकं सदात्मनिरतं पूर्णं हि तज्जीवनम्
तुष्टम्पूर्व-महोऽखिलं यदभवत् तत्किम्पुनः प्राप्स्यते ? ।।४।।



मनुष्यरूपं हि जहीहि सद्यः

विधाय दासानथ दैन्य-पूर्णान् बन्धून् स्वतन्त्रान् शतशः स्वकीयान्
लोके जनक्रन्दन – मात्रमग्ने क्व प्राप्नुयास्त्वं सुखशांतिलेशम् ॥१॥

सहस्रशो यान्तु रुदन्त "आर्ताः स्वयं हसंस्तिष्ठतु योऽभिमत्तः
जनेषु तस्यापि यदि प्रकर्षः कदापि मे जन्म जनेषु न स्यात् ॥२॥

विवेक-शक्तिः प्रभुणा प्रदत्ता भ्रात-र्विचिन्त्यम्पुनरद्य शान्त्या
यो रक्षकः स एव विभक्षकः सन् पिशाच-वृत्ति नु कथं बिभर्षि ॥३॥

कस्यापि जन्तो र्दयनीय वृत्तां दशां विलोक्यापि दया दरिद्रम्
चित्तं न चेत्ते द्रवतीह किञ्चित् मनुष्यरूपं हि जहीहि सद्यः ॥४॥

जीवन दर्शनम्

स्वजन्मजातो जगदीश – भक्तः स्वाध्याय-मग्नो मुदितान्तरात्मा
नित्यं सृजन् कांचन काव्यसृष्टिं न वेद्मि कालस्य गतिं हि कांचित् ॥१॥

गतः क्व खल्वेष कथम्पुन-र्वा गच्छेन्न समस्या न ममास्ति काचित्
याति स्वतन्त्रः सततं स मौनं नवं युगं चानयति स्वतन्त्रः ॥२॥

नाहम्पृथिव्या व्यथया कयाचित् मर्माहतो दुःसमयं नयामि
सौख्यं च किं नेह मयानुभूतम् प्राप्नोमि कां नैव कृपां च मातुः ॥३॥

संदेह-पूर्णोऽपि भवामि भूयः भीतिश्च काचित्-स्वत एति सा सा
नैषा चिरं तिष्ठति किन्तु चित्ते पाता प्रभु-र्विश्वसिमि-प्रकामम् ॥४॥

स्नेहाभिलाषी बहुधा प्रसन्नः सौन्दर्यपूजानतमस्तकश्च
विद्यानुरागी विदितात्मबोधो दुःखाभिभूतो न चिरं भवामि ॥५॥

जातोऽस्मि दासः शकुनावलीनां पश्यामि यत्ताः सफलाः समस्ताः
क्षणे यतेऽहं निज-कीर्ति-वृद्धयै क्षणेन सा भाति परं ह्यनित्या ॥६॥

परस्य तत् तत् न ममेति बुद्धया नोपेक्ष्यते किंचन निन्द्यते वा
सर्वत्र सत्यं शिरसा दधानः तल्लक्षणं व्यापकमेव कुर्वे ॥७॥

सुस्पष्टवादी हृदयेऽभिमानी सदा गुरूणां चरणेषु नम्रः
दम्भेरतानां विकटोऽस्मि शत्रुः साधारणानां च सखा विशालः ॥८॥

अहं विरोधी प्रबलश्च तेषाम् एकस्य पक्षस्य समर्थका ये
ते सन्ति काणाः परदृष्टि-दीनाः पश्यन्ति पूर्णं नहि ते कदाचित् ॥९॥

कथं गदेयं नहि सत्यमेतत् मृषैव वा सर्वमिदं हि नूनम्
क्वचिद् ऋतं यत् परतोऽनृतं तत् स्व स्वक्षणे सत्यमिहास्ति सर्वम् ॥१०॥

स्वकार्य-सिद्धयै पर-कार्य-नाशं कुर्वन्ति ये केऽपि जनाश्च हीनाः
क्षणं मदीये हृदये न कांचित् क्वचित् लभन्ते कुटिलां गतिं ते ॥११॥

स्वस्थः प्रसन्नः समयं नयेयम्

पश्यामि शान्तं कमपि प्रकाशं भवामि तद् – भावमयश्च सद्यः
चेतः प्रफुल्लं विमला च बुद्धि – र्भावाश्च भव्याः स्वयमुद्भवन्ति ॥१॥

रजोमयेऽन्तश्चलितेऽति वाते – द्वेषानलप्लुष्ट – समस्त – वृत्तौ
धूमावरुद्ध – श्वसन-प्रसारे शान्तिः क्व साऽस्मिन् समये सुलभ्या ॥२॥

कोलाहलैः पूर्णमिदं समस्तं रणाद्रणात् सम्मुखमेति – विश्वम्
क्व गम्यते किं क्रियते न किञ्चित् शक्यं विनिश्चे तु – महोऽन्धकारे ॥३॥

किं जीवनं नागरिकं जनानाम् जातं युगेऽस्मिन् व्यसनाभिगप्तम्
विद्युत्प्रदीपैः परितः प्रदीप्तम् घोरेऽन्धकारे सहसा च मग्नम् ॥४॥

क्षणे क्षणे भीति-गर्त-विपन्नम्-प्रेम्णः प्रकोपेण विमुक्त मूलम्
स्वलक्ष्य लब्धि-क्षति मन्दभाग्यम्-शरीर चिन्ता-प्रमुखात्मकृत्यम् ॥५॥

सदा प्रसन्नाम्प्रकृति विशालाम् विलोकयन्नारमणीय - वर्णाम्
वृक्षैः कदाचिन् च दलैः कदाचित् पुष्पैः कदाचिच्च सुमन्त्रयेऽहम् ॥६॥

एकैव लोके खलु मे समीहा स्वस्थःप्रसन्नः समयं नयेयम्
पश्यन्नसीमं निजसीम्नि तिष्ठन् प्रभुं विभुं मे स्थिरधीः स्मरेयम् ॥७॥



जाने न दोषः कथमेष नश्येत्

यद् भारतीयम् तदभारतीयम् पापञ्च यत् पुण्यमयं तदेव
कथं हि सर्वम्प्रतिकूलमेतद् जातं भवद् - वाञ्च समस्तमास्ते ॥१॥

किं नाम लक्ष्यं किमु वा विधेयं स्पष्टं न किञ्चिद्-भ्रमतामगत्या
स्वयम्पतन्तः पतनस्य गर्ते पराँश्च कांस्कान् नहि पातयामः ॥२॥

नित्यानि वैज्ञानिकशक्तिमन्ति त्यक्त्वा च कर्माणि वनान्हिकानि
उपेक्ष्यवीर्य - द्युति - मात्मदीप्ताम यतामहे कृत्रिमरूपमाप्तुम् ॥३॥

निजार्थसिद्धौ नितरां निमग्ना - स्त्यागस्य नामाप्यवहेलयन्तः
अर्थार्जने सर्वविधे विनिन्द्ये सर्वेऽद्य किं हन्त रता नहि स्मः ॥४॥

स्वाधीनता - नाम भृशं रटन्तः दासा भवन्तश्च सदा परेषाम्
वैदेशिकीं यामवलोकयामः - तामेव किं नैव वतानुयामः ॥५॥

महर्षयो येन पथा प्रयाताः राजर्षयो वा भुवन – प्रसिद्धाः
विस्मृत्य तं शान्तिमयं स्वमार्गम् धूमावृतं कापथ – माश्रिताः स्मः ॥६॥

हे शारदे सन्मति – दानशीले बुद्धिं विशुद्धां कुरु शीघ्रमेषाम्
अन्धा न यावन्निखिलं स्वराष्ट्रं क्षिपन्ति कूपे सहसा क्वचित्ते ॥७॥

राजस्थानीया-वीरमाता

वांध्यं श्रेष्ठं जगति मनुते सा न सूते सुतञ्चेत्
धीरं वीरं रिपुदलशिरः – कन्दुकासक्त – चित्तम् ।
धिक् स्वस्त्रीत्वं गणयति तथा सा न चेद् वीरपत्नी
युद्धे यातुं प्रियजनशिरः कुंकुमै – र्नार्चयेद् वा ॥१॥

वीरक्षेत्रे प्रवहति सरित् यत्र चैकैव नित्यम्
संग्रामोर्वीतरलितगतिः रक्तधारा विशाला ।
भीष्म – ग्रीष्म – बलमविरतये साधनं यत्र चैकम्
तेषां पार्श्वे लसति सततं श्यामलश्चन्द्रहासः ॥२॥

विधि-विहिते जगदादि शिक्षके

हृदि हृदि भासित–वेदभास्करे दिशि दिशि दीप्त–यशः–सुधाकरे
त्रिभुवन–तृप्ति कृते कृताध्वरे नरहरि – गर्जन – गर्जि – गह्वरे ॥१॥

मलयज – शारद – कुंकुमार्चिते – रवितनयातट – रास–लासिते
अमृत – पयोधर – गोकुलावृते – विबुध – गणैरपि नित्यमादृते ॥२॥

भुवि सततं समभाव – भाविते – शमदम – सामनीति – शासिते
शुकमुख–निर्गत – गीति – मादिते व्रजविपिने मुरली – निनादिते ॥३॥

विभुरपि खेलति–यद्–व्रजाजिरे प्रभुरथ नाथति यस्य मन्दिरे
पथि पथि वाहित–भक्ति – निर्झरे–हृदि जगदीश्वर–शक्ति–निर्भरे ।।४।।

प्रभुचरणामृत–पान – पावने – प्रतियुग – संचित – शुद्ध – साधने
प्रिय – जगतीतल – केलिकानने – हिमवति योगभृतां सुखासने ।।५।।

अपिजनिते परमे पुरातने – मधुमति नन्दति – नित्यनूतने
विपदि सदाप्त – मुकुन्ददर्शने – सुविहित – सर्व – समृद्ध–सर्जने ।।६।।

अनुपम काव्य – कलाविकासके – भवभय – संशय – भूरिभक्षके
सितयशसाऽखिल – विश्वभासके विधिविहिते जगदादि – शिक्षके ।।७।।

हरिहर – हंसविहारि – पोषिते "जयजयभारत" घोष – घोषिते
प्रकृति कृति–ननु का न भासते निखिल विपद् गण–नाशि भारते

अथ काचिदेका–गद्य कुसुमाञ्जलिः

भारतं वर्षम्

अस्ति अव्यक्त व्यक्तरूपाया अखिललोकलावण्यसीमायाः निखिलार्थसाधिकाया मातुर्महालक्ष्म्याः पृथिव्याः परमपावने स्नेहसद्मनि शुभाङ्के विराजमानम् त्रिभुवने विभ्राजमानम्, उदीच्यामभिषिच्यमानम् साक्षात् शंकरसन्निवेशेन, सुरसरित्–सूर्यतनयादिशुचिसरित् समुद्भावकेन, प्रकृति–विलासविलक्षणेन, शैलशिरोमणिना, सर्वदेवालयेन, हिमालयेन, मध्ये च विजृम्भमाणम् विशालशिलातलपतन्नार्मदसलिल–समुच्छलच्छी करमुक्तानिकरवर्षिणा, सघनवनसुखशयनमग्न – पञ्चाननेन, झंझावात विधूतविनमत्तरुगणविहितानवरत – नृत्येन, विद्युत्प्रपातप्रतिध्वनित–महा गह्वरगर्जित महाविजयपटहेन, शोणस्थलमृत्युञ्जया – मरकण्टकविहरद्– व्याघ्रेण, बृहता विन्ध्याचलेन, तत्तद्देशविशेषाशेषसमुपहार – समानेतृ–

अथ विद्याधर-साहित्यदर्शनादि-सूत्राणि
विद्याधर–कारिकाश्च

तत्र प्रथमं साहित्य-सूत्राणि

१. अथातः साहित्यदर्शनमीमांसा।

२. सनातनी वाग्–भंकृतिरव्यक्ता ।

३. दिव्यस्वरभावमधुरा सा साहित्ये ।

४. श्रोतृवक्तृभाव–साहिती–साहित्यम् ।

५. चेतनाचेतनसंसर्गेण तत्तद–भावोद्बोधनमपि साहित्ये।

६. तथैव चेतनयोः।

७. सर्वभावानुभवी, स्फुटशब्दार्थगायकः स्वान्तर्नादनादकः कश्चन जनश्च कथ्यते कविः ।

८. तदनुभूतिप्रकाशकः सद्यः तत्तद् – भावसम्प्रेरकः कश्चन संगीतिमयो भावश्चोल्लासयति सत् काव्यम् ।

९. स्पष्टोक्तिजीवितं, स्पष्टमोजः–प्रधानं, सद्भावसमुद्बोधकं च तत् काव्यम् सत्काव्यम् ।

१०. स्फुटं स्वार्थप्रकाशिका शक्तिरभिधा ।

११. तत् सम्बद्धापरार्थद्योतिनी च लक्षणा।

१२. स्वस्वसंस्कारानुकूलार्थाभिव्यक्तिश्च व्यञ्जनायाम्।

१३. व्यञ्जनाभंकृति–र्ध्वनिः ।

१४. वर्णपदवाक्यानामुपरतौ तत्तद्–वर्णपदादिध्वनीनां नित्या–नामर्थसंस्काराणाञ्च युगपदावेशजनितश्च स्फोटः।

१५. तत्तद् – भावोद्बोधनक्षमा मनोऽनुग्राह्या वाक्य–योजना शैली ।

१६. भावानुगतः स्वराघातः।

१७. आकस्मिकी सौन्दर्यानुभूतिश्चमत्कारः ।

१८. विलक्षणं वा बुद्धिवैभवं जनयति चमत्कारम् ।

१९. प्राकृतिकं, हार्दं, बौद्धिकं च नानात्मकं सौन्दर्यम् ।

२०. सर्वार्थ-विद्योतकं केनाप्यनिर्वचनीयेन प्रकाशेन-प्रकाशितं च तद्भवति ।

२१. सर्व-वस्तुगतमपि प्राधान्येन स्वगतं तत् ।

२२. नहि सर्वं सर्वस्मै रोचते ।

२३. स्वस्वानन्दानुभूति-समुल्लासितं वा सर्वं सौन्दर्यम् ।

२४. आत्मविकासोद्भूतं वा सौन्दर्यम् ।

२५. ग्राम्याणामथ नागरिकाणां च न सर्वत्र समाना सौन्दर्य-दृष्टिः ।

२६. एवमेव श्यामाङ्गानां सौन्दर्यबोधेऽपि दृश्यते पृथग्-विध-मेवाङ्ग-सौष्ठवम् ।

२७. स्वभावेन तन्मृदु, आकर्षकमस्पृश्यं च भवति ।

२८. मार्दवाद् गांभीर्ये किमप्यन्यदेव भवति नीतियुतं वैलक्षण्यम् ।

२९. अविस्मरणीयश्चानघो विभुः प्रभावः ।

३०. सात्त्विकानां तत्सात्त्विकं तामसञ्च तामसानाम् ।

३१. न विभावयेदाकृतिं विकृताम् ।

३२. न वा वर्णयेन्मनः-क्षोभकरं किञ्चित् ।

३३. सन्दिग्धमनर्थकं च न प्रतिपादयेत् किञ्चित् ।

३४. उल्लासो रसः ।

३५. कर्तव्य-पूर्तिजनित-आत्मसन्तोषो वा रसः ।

३६. चिन्ताव्यग्रे चित्ते न समुल्लसति रसः ।

३७. नवा समुल्लसति स्वयं चिन्तितं चित्तम् ।

३८. विभावानुभाव-व्यभिचारि-भावानां संयोगेऽपि नोल्लसति सदैव रसः ।

३९. भवति भोग्यभोक्त्रोरैक्ये नास्वादः ।

४०. नास्वाद्यतेऽस्थिरेण चेतसा किञ्चित् ।

४१. परेषां सन्तोषेणानुभूते स्वसन्तोषेऽपि भवति कश्चन रसोऽद्वितीयः ।

४२. व्यभिचारिभावा-अपि भवन्ति क्वचित् क्वचिन् स्थायिभावत्वमापन्नाः ।

४३. सर्व-कामपरितृप्ते-कर्म-पूर्ति-चिन्तारहिते परमेश्वरे च रसो भवति सदैव परमोरसः ।

४४. प्रतिशब्दं, प्रत्यर्थम्, प्रतिकालं च नानाविधमलंकरणम् ।

४५. सादृश्यं, सादृश्यमिव प्रतिभासकं, तद् विपरीतं वा विभावयत्यलंकरणम् ।

४६. बुद्धि-वैशद्येन, विमुदर्शनेन वा विदुषामुक्तिषु तद्भवति स्वतः सिद्धम् ।

४७. अनलंकृता अपि सत्येन संवलिता, ग्राम्याणां स्पष्टोक्तयोऽपि न भवन्ति सर्वथा काव्यत्वेन हीनाः ।

४८. सारल्यं तत्र परमो गुणः ।

४९. प्राकृतानामुक्तयो भवन्ति सदैव कृत्रिमैरसभङ्गै विमुक्ताः ।

५०. अस्पष्टं, संगीति-हीनं यत्तदनर्गल-वाग्-बहुलं च काव्यं न सत्काव्यम् ।

५१. यथा संभवं सदैव समुद्भाव्यं सद्भाव - सम्प्रेरकम् सत्काव्यम् ।



अथ काश्चन अभिनवाः साहित्यकारिकाः

औदात्यम्, काव्योद्भाविनी-स्थितिः

सर्वं सर्वात्मना सद्यः व्याप्नुयात् यत् जनात्मनि
निर्मलं तत्त्वमौदात्यं तत्रैतत् स्फुरति स्वयम् ॥१॥

यन्निशम्य स्वतः सर्वे साधुवादपरायणाः
हृद्यामुक्तिम्प्रशंसन्ते तत्रौदात्यं स्फुरेत् स्वतः ॥२॥

सर्वेषामपि यत्रैषां यथास्थानं स्थितिः स्थिरा
स्वतस्तत्र समुद्भाति तत्त्वमौदात्यमुत्तमम् ॥३॥

उत्कर्षो व्यापको ह्यस्मिन् आंशिकोऽपि क्वचित् क्वचित्
न ह्येतेन विरुध्यन्ते रसाः केचिद् गुणास्तथा ॥४॥

पतत्प्रकर्षदोषोऽस्मिन् क्षणं न सह्यते क्वचित्
भंगः कोऽपि तथौचित्ये वैकल्यं जनयेत् परम् ॥५॥

उत्कर्षो व्यापको ह्यस्मिन्–आंशिकोऽपि क्वचित्–क्वचित्
स्वचित्तानुगते भावे प्रकर्षानुभवः स्वतः ॥६॥

सच्चिदानन्द – सम्पन्नं तत् किंचिद् विलक्षणम्
तत्त्वं सर्वत्र सर्वेषु नाना रस – विभावकम् ॥७॥

चेतनाचेतनयोरैक्ये चेतनेन चितेस्तथा
स्वान्तर्भाव – समुद्रेकः काव्योद्भवकरो मतः ॥८॥

केनाप्यन्येन भावेन मनोवेग – विभाविनी
वाचां स्वयमुत्स्फूर्तिः काव्योद्भूतिकरी मता ॥९॥

प्राकृते सा पृथक् काचित् पृथक् सा संस्कृतात्मनि
जनस्य प्राकृतस्यापि वाणी सा चित्तहारिणी ॥१०॥

वैलक्षण्यं च शब्दस्य तत्तद्रूपेण भासते
क्वचिदर्थे क्वचित् शब्दे ध्वनावेव क्वचित् पुनः ॥११॥

गुणोवाऽस्तु – स्वसिद्धो वा शब्दोऽयं सर्वशक्तिमान्
स्थानभेदात्तु – नानात्मा जायते चानुभूयते ॥१२॥

साहित्ये दर्शने चैवं न भेदः कोऽपि तात्त्विकः
एकस्मिन् मनसस्तृप्तिः परस्मिन् बुद्धि – तर्पणम् ॥१३॥

सुव्यक्तो यत्र हृद् – भावः हृद्यं काव्यं हि तन्मतम्
नानाविधाश्च हृद्-भावाः सर्वेषां न समा हि ते ॥१४॥

काव्यं सत्कविभि-स्तस्मात् सर्व-भावैः समन्वितम्
रसैः सर्वैश्च सम्पन्नं विभाव्यं – सर्व – सौख्यदम् ॥१५॥

तत्तत्-तत्त्व समीक्षकानि सूत्राणि

१. यद्यस्मिन् नित्यं विद्यमानं तत्तस्य तत्त्वम् ।

२. तत्त्वमेकमनेकधा ।

३. तत्र चेतनाचेतनात्मकं, व्यक्तमव्यक्तं, सगुणं निर्गुणं, व्यष्टि समष्टि-समन्वितम्, सच्चिदानन्दं, सनातनं तत्त्वं ब्रह्म निष्क्रियम् ।

४. स्वप्रकाश-प्रकाशितं सर्व-प्रकाशकं, सर्वादिमं च यत् स्वरूपं तच्चेतनम् ।

५. तदेव चास्थिरम् पर-प्रकाश-प्रकाशितं चाचेतनम् ।

६. स्वतन्त्रम् परतन्त्रम् चाखिलं लोके ।

७. परस्पराश्रितं वा सर्वम् ।

८. स्वतन्त्रात् कारणात् स्वतंत्रं कार्यम् ।

९. अभेदादुभयोः ।

१०. सर्वं सर्वस्मात्समुद्-भवितुमर्हति ।

११. सर्वं च सर्वस्मिन् परिणमितुमर्हति ।

१२. एकस्मादेव कस्माच्चिन कारण विशेषात् समेषामाविर्भावात् ।

१३. क्रियाजननी, त्रिगुणमयी, प्रतिक्षणं तत्तद्रूपादिधारिणी काप्यनिर्वचनीया सदसद् विलक्षणा माया ।

१४. अद्वैते द्वैतदर्शिनीयम् ।

१५. आत्म-विस्मृति-जननी च ।

१६. अनयावृतं व्यष्टिमापन्नं ब्रह्मैव जीवः ।

१७. जीव व्यष्टिरहंकारः ।

१८. अहंकार-व्यष्टि-रिन्द्रियाणि ।

१९. ऐन्द्रियास्तेते विपया ज्ञानात्मकाः कर्मात्मकाश्च द्विविधाः ।

२०. ते चैव तत्तदचेतन-तन्मात्रादि-विभाविनो भावाः ।

२१. शुद्धसत्वोपेतः समष्टि-स्वरूपः सर्वशक्तिमान् ईश्वरः ।

२२. माया सम्वलितोऽयमेव हरिहर - ब्रह्मादिरूपेण सृष्टि-संचालको मन्यते ।

२३. सृष्टिरियमस्य न काऽप्यनित्या वा केवलं मिथ्या भ्रान्ति-जनिता मृग-मरीचिका ।

२४. मायामय्येव जगत्-मिथ्यात्व-प्रतीतिः ।

२५. विभुदृष्टे वैकल्याद् मिथ्यात्वभ्रान्तिः ।

२६. अहं व्यष्टिविकलो दिक्कालावच्छिन्नोऽल्पवलो जीवः स्वभावतोऽल्पज्ञः ।

२७. क्षुद्रस्य क्षुद्राः प्राणाः ।

२८. प्राणशक्तिरेव मनः शक्तिः ।

२९. प्राणशक्त्यै समष्टिशक्त्यधिगत्यै च संरक्ष्यं मनस्तत्तद्-इन्द्रियदोषविमुक्तम् ।

३०. कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादयो मुख्या दोषाः ।

३१. विभक्तोऽहम्भाव एव तत्तन्मात्रा विभाजको भावः ।

३२. समष्टिगता व्यष्टिगता रूपरसाद्यनुभूतिरेव च मनः ।

३३. अन्तर्भावयेद् विभक्तमहम्भावमविभक्ते परमे भावे ।

३४. सर्ववल्लभः स्थिरोभावः परमोभावः ।

३५. भक्तिः प्रधानं तत्प्राप्तिसाधनम् ।

३६. आत्मपरमात्मरतिर्भक्तिः ।

३७. पदे-पदे भगवदनुग्रहानुभूति र्वा भक्तिः ।

३८. व्याप्ये व्यापकदर्शनानुभूति-र्वा भक्तिः ।

३९. तन्मयता भक्तिः ।

४०. उपास्योपासकयोरेकीभावेऽद्वैतम् ।

४१. प्रकृति पुरुषयोरेकीभवनं-रासः ।

४२. प्रतिकर्म-रसास्वादो विहारः ।

४३. विहारी विहारिणमधिगच्छति ।

४४. विहारिणः सर्वेकामा निष्कामाः ।

४५. कर्म सकामं निष्कामं च ।

४६. सकामं कर्म नावरम् नचेत्केवलं स्वार्थ-साधन-मात्र-संलीनम् ।

४७. सर्वं सर्वस्मै कृतं सकामं कर्मैव निष्कामम् ।

४८. निःसङ्गेऽसत्यपि सर्वकर्माभावे भवत्येव वासनानां काम-नानात्वाभावः ।

४९. हेयाः प्रमादोपेक्षालस्यादयः कर्मप्रतिबन्धका दोषा ।

५०. ऐहिकाभ्युदयापेक्षी निःश्रेयसाभ्युदयः ।

५१. योगकौशलं कर्म ।

५२. अपनेयाऽत्मक्लान्तिः ।

५३. स्थैर्यञ्च नित्यम्प्रसन्न-चेतसा ।

५४. कर्त्तव्य-पूर्तिमृते न सुलभ आत्म - सन्तोष आत्मप्रसादो वा ।

५५. कर्मयोगी सदा सुखी ।

विकास-सूत्राणि

१. शक्ति र्हि स्वशक्तिः ।

२. नैषा चेतनेऽचेतने वा भिन्ना भिन्ना ।

३. उभयोः संयोग एव चेयं भवति समभिव्यक्ता ।

४. जनके जनन्यां च सा समाना ।

५. विकासे पितु र्मातु र्वा प्राथम्यस्य प्रश्नस्तत्र कश्चन तात्विकः प्रश्नः ।

६. अभेदादुभयोः ।

७. अर्धनारीश्वरो ह्येव विकास-पद्धतेः सर्वसम्मतः परमेश्वरः ।

८. बीजवृक्षयोः प्राथम्यस्य समस्यापि तत्र काचन तात्विकी समस्या ।

९. सहैवानयोः सुविकासात् ।

१०. शिवो विष्णुर्देवीच सर्वेऽप्येते सन्ति सृष्टि - प्रवर्तकाः साम्येन ।

११. केचिदनादिकालात् स्वतः सिद्धामेव मन्यन्तेऽखिलां सृष्टिम् ।

१२. केचिच्च पश्यन्त्येनां तत्तत्कालेन प्रवर्तिताम् ।

१३. अपरे चैकस्मादेव कस्माच्चन भौतिकात् कारणविशेषात् ।

१४. नायं विकासः सर्वथा निरर्थकः ।

१५. न वा केवलम्पुरुषस्य प्रकृते र्वा स्वातन्त्र्याय ।

१६. न च केवलं मायया भासमानमेतदखिलम् ।

१७. यद् दृश्यते, यद् भाति, यद् विवर्तमात्रं यच्च परिणामि तन्निखिलं सत्यं नियतेन क्रमेण विकसितं चान्ते सर्वं सर्वस्मिन्–एकीकृतमेक-मेव सच्चिदानन्दं किमप्यनिर्वचनीयम् परमप्रेमात्मकं परमं शान्तमेतत् परमात्म – तत्त्वम् ।

१८. अस्थिरात् स्थिरं मा नय ।

१९. भयादभयं मा नय ।

२०. कम्पादकम्पं मा नय ।

२१. ॐ मृत्यो र्मा अमृतं गमय ।

भारतीया संस्कृतिः

१. तत्राद् आत्मसंस्कार–द्रव्यगुणकर्म–प्रभावोद्भाविता शाश्व-तीव काचित् मनः स्थितिः संस्कृतिः ।

२. ज्ञानोज्ज्वला सा नित्या ।

३. अन्धपरम्परया अनैरुपास्यमाना सैवाऽनित्या ।

४. नित्याऽनित्येति सा द्विधा ।

५. सच्चिदानन्दमयी नित्या सा भारतीया ।

६. प्रकृत्या सात्विकी नित्यमस्तेयादिपालनपरा दिव्या भारतीया-संस्कृति–र्नैपा परस्वोपहर्त्री पर प्रदेशाविकारकरणप्रवणा तत्तत् प्राणि-प्राणापहारिणी वा ।

७. मनः क्लान्ति निरासिनी प्रतिक्षणमन्तः प्रसादिनी च ।

८. भोक्तव्यं कर्मफलमवश्यमिति अस्याः सुदृढो विश्वासः कर्म-फल भोगायैव च पुनर्जन्म भवतीति चास्याः सुनिश्चितः सिद्धान्तः ।

९. त्रिकालवर्तिनी, त्रिभुवन व्यापिनी, निखिल विश्वहितैषिणी चेयं स्वभावात् ।

१०. स्वान्तः-परीक्षणशीला सन्ततं-परोपकर्त्री च ।

१०. त्यागमूलेयं हृष्यति त्यागेनाथ दानेन ।

१२. सत्यशौचादि सम्पन्नेयम् चैषाऽहिंसा-निरता नित्यं सर्व-प्राणि-संरक्षिणी ।

१३. न सहते साऽहङ्कार-जनितां कांचन क्षुद्राम्प्रवृत्तिम् ।

१४. जुगुप्सते चानृतम् ।

१५. स्व स्वकर्मफलाधायिनी निखिलाऽत्र सुखदुःखावाप्तिः ।

१६. स्वपुरुषार्थैः शक्यं कर्मफलमपि यथातथा परिवर्तितुम् ।

१७. विचित्रोऽस्यामास्तिकानां नास्तिकानां च समन्वयः ।

१८. प्रायशः सर्वत्रैवेयं सुप्रयतते सामञ्जस्याय ।

१९. सर्वत्रैकमेवाद्वितीय-दर्शिनीयम् पोषयति सर्वत्र विश्वैक्य-भावं विश्वकल्याणञ्च ।

२०. स्वदेशो भुवनत्रयम्, इत्यस्या व्यापकः सन्देशः ।

२१. चतुर्विधेषु आश्रमेषु वर्णेषु च सुविभक्ता अस्याः निखिला वैयक्तिकी सामाजिकी च जीवन-प्रणाली ।

२२. ब्रह्मचर्यमाश्रित्यैव गृहस्थादीनामपरेषामाश्रमाणां भवति सर्वात्मकः सद्विकासः ।

२३. वागर्थाविव सम्पृक्तमत्राखिलं दाम्पत्यम् ।

२४. ब्रह्मचर्येण सुरक्ष्यते शरीरं मनोबलं च ।

२५. आत्मविकासाय मनोविकासाय च शरीरम् आदिसाधनम् ।

२६. सुरक्ष्य ते च शरीरमायुषा ।

२७. चेतना-चेतन-संयोग-संरक्षणम् आयुः ।

२८. पाञ्चभौतिके पिण्डे तत्तद्भूतभौतिक-द्रव्यमात्रा-सामञ्जस्यं स्वास्थ्यम् ।

२९. स्व स्वव्यापारे यथास्थिति स्थानं वा स्वास्थ्यम् ।

३०. अचेतन संशोधनमावश्यकम् ।

३१. अशुद्धमचेतनं चेतनव्यापार वाधकम् ।

३२. भौतिक यज्ञक्रिया–प्रवर्तकं भोजनमथ पानम् ।

३३. नह्यन्नं विना प्रकृतिरन्नादमुत्पादयति ।

३४. प्रथमं वनस्पतयस्ततो जीवाः ।

३५. समपेक्ष्यते सर्वविधानां धातूनामभिरक्षणाय सर्वेषामेव धातूनामुपयोगः ।

३६. चन्द्रदिवाकरयोरविहतः प्रकाशो भवत्योषधप्रभावाय ।

३७. मरुस्थले निर्वाधा तत्समवाप्ति–संभावना ।

३८. स्वभावसिद्धं स्वास्थ्यसदनं मरुस्थलम् ।

३९. सेव्यः प्रातः कालीनो वीरवायुः ।

४०. सदैव समुपास्यश्च भगवान् भास्करः ।

४१. सम्वर्धनीया शैत्यतापादिसहिष्णुता ।

४२. तदभावे पदे पदे प्रतिश्यायादिभयम् ।

४३. सेव्यानि सर्वविधान्यन्नानि ।

४४. नहि किमपि नित्यमासेवितं खाद्यं सद्यः परित्याज्यम् ।

४५. स्व स्वकाले प्रकृत्यापेक्षिताः निषेव्या रसाः सर्वे ।

४६. नावरोध्या निद्रा, न वा रोध्या वेगाः ।

४७. नहि रोग–लक्षणानि क्षणमप्युपेक्ष्याणि ।

४८. समये शयनं, समये जागरणं, समये च भोजनं भवति सदैव जीवन–सौख्याय ।

४९. निद्रादोष–जनकाः सर्वशान्ति विघातकाः संयम्याः सदैव कामक्रोधलोभमोहादयो रजोगुणस्फोटाः ।

५०. सात्विकं भोजनं सुखस्वापाय ।

५१. स्वल्पाशी सदासुखी ।

५२. उदर-व्याधिग्रस्तो न भवेत्तात्तर्साशी ।

५३. यत्सुपाच्यं तदेव भक्षयेत् ।

५४. तक्रसेवी स्यात् ।

५५. मिष्टान्नं गृण्हीयात् केवलं प्रसादरूपेण ।

५६. तत्तद्विविष्टै र्योगैर्वा परिसाधयेत् स्वानुकूलान् स्वादु-पदार्थान् ।

५७. योषितां स्तन्यं सदैव रक्ष्यम्पवित्रम् परिपुष्टञ्च ।

५८. संरक्ष्या बालाः सदैव सुप्रसन्नाः ।

५९. अस्वस्था नारी जनयति सन्ततिमस्वस्थाम् ।

६०. सुरक्ष्या सदैव पाकशाला-विशुद्धिः ।

६१. भवति नारी प्रायः पथ्यविरोधिनी ।

६२. योषितां जिह्वास्वाद-संयमो भवेत् सदैव बालानां भैष-ज्याय ।

६३. परिणीतैरपि परिपाल्यं ब्रह्मचर्यम् ।

६४. गृहस्थैः सदैव सम्पालनीया कामधेनुः ।

६५. परित्याज्या मक्षिकादिभिर्विदूषिता आपणिकाः पदार्थाः ।

६६. नहि शुद्धं गव्यं विना भवत्यायुर्वेदभैषज्य-सिद्धिः ।

६७. प्रतिग्रामं संरक्ष्या गोचरभूमिः ।

६८. गृहस्थैः संस्थेयं सदैव सर्वैः सुप्रसन्नैः पारस्परिकेण कल-हेन विमुक्तैश्च ।

६९. अशान्ति-वर्धकः कलहो निमन्त्रयति स्वतो नानाविधान् मानसिकान् शारीरिकांश्च रोगान् ।

७०. यथासंभवं संरक्ष्यं रोगिस्थानमेकान्ते ।

७१. प्रतिगृहं समपेक्ष्यते स्वच्छतमं शौचगृहम् ।

७२. सदैव-ग्राह्यं-तुलसीपत्रम् ।

७३. मैथुनान्ते पिवेद्दुग्धम् ।

७४. पथ्यं विना न सेवेत किमपि तत्तत्पौरस्त्यम्पाश्चात्यं वा भैषज्यम् ।

७५. सदैव सेव्यं हृद्यं द्रव्यम् ।

७६. हितभुक् मितभुक् वामशायी च सदा स्वस्थः ।

७७. न परित्यजेत् कदापि भ्रमणम्प्राणायामं सुस्थिरं मौनं ध्यानञ्च ।

७८. भवति हिताय स्वरानुकूलं भोजनं स्वरानुगतं च पानम् ।

७९. दक्षिणे भोजनं वामे च पानम् ।

८०. तथैव मैथुनं दक्षिणे ।

८१. स्वरसंशुद्धिः प्राणसंशोधिनी ।

८२. न पीड्यते स्वरसाधको वायोरवरोधेन ।

८३. प्राणायामोऽपनयति मस्तिष्कभ्रान्ति हृदयापशान्तिश्च ।

८४. प्राणशुद्धिश्च जायते ।

८५. स्वरपरिवर्तनेन भवति तात्कालिकी रोगशांतिः ।

८६. स्वरा एव प्राणाः ।

८७. अपथ्यं जनयति सदैव स्वरवैषम्यम ।

८८. स्वरसाधकः सदैव सेवेत सुमितानि सात्विकानि द्रव्याणि ।

८९. रक्षेच्च नित्यं स्व विचारान् सर्वथा परिशुद्धान् ।

९०. नित्यं हितावहा वैचारिकी चिकित्सा ।

९१. न भवेद् रोगी कदापि नैराश्य-विकलः ।

९२. सुदृढायां विचारशक्त्यां विचारेणैव भवंति वश्या अखिला रोगाः ।

९३. मत्तानां विचारचिकित्सा प्रधाना ।

९४. न कदापि सद्यो विरोध्यो निरोध्यो वा कश्चन प्रमत्तः ।

९५. सुविधेयाः सदैव सुदृढाच तस्य विचारशक्तिः ।

९६. शंकितः, संशयितः, पूर्वाग्रहशीलश्च जनः स्वस्थोऽपि भवत्यस्वस्थः ।

९७. शरीर नैर्बल्यात्मनो-नैर्बल्यम्पुराऽपनेयम् ।

९८. स्वस्थोऽपि निर्बलमानसः सदैवानुभवत्यात्मानमस्वस्थम् ।

९९. भगवत्स्मरणं. तत्तत्कर्म – व्यासक्तिः सदैव सुसम्वर्धयति मनोबलं सर्वेषाम् ।

१००. शरणागत-दीनार्ति-परित्राण-परायणे
सर्वस्यार्ति-हरे देवि, नारायणि नमोऽस्तुते ॥

१०१. ॐ यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

अथ कानिचित् तत्तत्-प्रकरण-गतानि प्रकीर्ण-सूत्राणि

१. सदैवाभिनन्दनीया परार्थ-सिद्धया स्वार्थसिद्धिः ।

२. अपहरेत् सर्वप्रथमं वर्तमानं सर्वविधं दुःखम् ।

३. निर्वृ तिरियम् परमा निर्वृ ति-र्निवृत्तिश्च सर्वोत्तमा ।

४. ऐहिकाभ्युदयाय मुख्या कर्मोपासना ।

५. विहेयाश्च सततं निद्रातन्द्रालस्याद्योऽखिला दोषाः ।

६. स्वानुभवात् परं न किमप्यन्यत् प्रमाणम् प्रमाणमुत्तमम् ।

७. न कश्चिन्महान् भेदः परिणामेऽथ विवर्ते ।

८. वस्तुगतः परिणामः ।

९. द्रष्टृ-गतश्च विवर्तः ।

१०. साम्यमुभयो-र्लयेः ।

११. अनियतात्मकं साहित्यिकं विश्वदर्शनम् ।

१२. वैज्ञानिकी दार्शनिकी चोभे दृष्टी प्रभावयतः साहित्यिकीं विश्वदृष्टिम् ।

१३. वैदिके साहित्ये च समभिलक्ष्यते सा सर्वत्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा विश्वव्यापिनी च ।

अथ नय सूत्राणि

१. दूरदर्शिनी प्रथमत एव परिणामप्रबोधिनी च मतिः – राजनीतिः ।

२. न सदैव शुभाय आत्मोदयः परज्यानिरिति प्राक्तनं तल्लक्षणम् ।

३. पक्ष–सपक्ष–विपक्ष–शक्ति–परीक्षणमपेक्ष्यतेऽस्यां निरन्तरम् ।

४. सुपरीक्ष्या सुतर्क्या चात्र प्रतिक्षणम्–क्रिया–प्रति–क्रिया प्रतिघात–संभावना ।

५. समनुसंधेयः प्रधानो विपक्षदोषः ।

६. प्रतिक्षणं सुप्रयत्यम्–तत्तत् मित्रसम्प्राप्त्यै ।

७. हेयः तुच्छ–प्रचार–प्रहारः ।

८. नह्येकस्यैव कस्यचन भावस्य रक्षणाय विरोद्धव्यो बहु–जन–भावः ।

९. पारस्परिकः सद् विमर्शोऽनवरतं हिताय ।

१०. स्वगत–राष्ट्रगत–विश्वगताखिलहित – संसाधिनी नीतिः सन्नीतिः ।

११. धर्मानुप्राणितेयं नीति–र्भवति सदैव धर्म्या–सर्वप्राणि–हित कारिणी च ।

इति साहित्य–दर्शनादि–रहस्योद्भासकानामाचार्य–वर्याणां साहित्योद्याने समाकीर्णेयं विद्याधर शास्त्रि–साहित्य–पत्रावली भवतुकृतकृत्या विदुषां कृपापूर्णेन सुसमीक्षणेन ।

अथ विद्याधर-संस्कृत नाटकावली

तत्र प्रथमम् पूर्णानन्दे प्रथमोऽङ्कः—

सानन्दम् प्रकृतिं सहैव सततं योऽर्धाङ्गिनीं रक्षति
प्रीतं शून्यमिदं यतः सुविकसितं चालक्ष्यते सर्वतः।
नित्यं नर्तन – संरतं सुमधुरं शान्तं स्वरं तम्परम्
पूर्णानन्दमुपास्महे स कुरुतामानन्द – पूर्णं जगत् ॥१॥

संसारानल – दग्धानां मूर्धानं जान्हवी – जलैः
सन्ततं शीतलं कुर्वन् पातु वश्चन्द्रशेखरः ॥२॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधारः)

सूत्रधारः — देवदत्त, देवदत्त,

(प्रविश्य पारिपार्श्विकः)

देवदत्तः — आज्ञापयतु भावः।

सूत्रधारः — कथमद्य समुपस्थितायामप्यभिनय वेलायां न दृश्यते तवाभिनेतृषु कश्चन नवोत्साहो न वा कश्चन नवाशा-संचारः।

देवदत्तः — मान्यवर्याणामनुचरा वयं सदैव वर्तामहेऽभिनवेन समुत्साहेन सम्पन्नाः सदैवाद्वितीयया क्रिया – शक्त्या च समवेताः।

सूत्रधारः — सदैव तदनुभवामि प्रत्यक्षम्। नाद्य किन्तु सा स्फूर्तिः क्वचिल्लक्ष्यते तथैव प्रस्फुरन्ती।

पारिपार्श्विकः— भाव प्रेक्षस्व तर्हि पुनरेनाम्पूर्वतोऽप्यधिकां परिस्फुर्ताम् ।

सूत्रधारः — "पुन"–ममिप ते शब्दः कुरुते शंकितं भृशम्_
व्यापारे निश्चिते कैश्चिद् – वुर्वैर्नायम्प्रयुज्यते ॥३॥

देवदत्तः — पूज्यवर्या, मान्यानामादेश–स्थले न भवत्यनिश्चयाय कश्चनावकाशः। परं प्रभाते सत्यपि कीदृशी किलेयं गीयतेऽस्माभिः काचन सायन्तनी गीतिः । को नामाद्य तत्तद्देश–भाषाभाव–प्रभावितात्मनि–अभिनवेभारते भवती जीर्ण–भाषानिबद्ध–मिदं नाटकं द्रष्टुमिहागच्छेत् ?

सूत्रधारः — (स्वगतं) नूनं तर्कोऽस्य नास्तिसर्वथा निर्बलः (प्रकाशम्) देवदत्त सत्यमेतत् सर्वम्, परम् नित्यममराऽस्माकं भारती श्रावयति सदैव कंचनानुपममरमेव सन्देशम् ।

विस्मृत्य तां तां हि कृपां स्वमातु–र्भवन्तु केचिरानयाः कृतघ्नाः
स्नेहार्द्र चित्ता जननी परं सा तिष्ठेत् सदा कामदुघा तथैव ॥४॥

अपिचानवरतम् – अमरभारती – सदुपासनानिरतानाम्–असंख्यात–प्रख्यात–शिष्यगणार्चित चरणानां महाभाष्याचार्याणां श्री हरनामदत्त शास्त्रि वर्याणाम् पुत्रस्य विद्यावाचस्पतेः श्री देवीप्रसाद–शास्त्रिणस्तनयस्य भारद्वाजान्वयस्य विद्याधर शास्त्रिणः सुप्रथितेयं भणितिः ।

या नित्या सा सदा शुद्धा शुद्धायां विकृतिः कुतः
वाक् तन्त्री –_निर्गता नित्या भारतीयं सुधामयी ॥५॥

देवदत्तः — भाव, भवतु भवतां भारती सदैवामरभारती परमद्यतनी भारतीया जीवन – गतिस्त्ववगाहते कांचन भिन्नामेव दिशामित्यत्र नास्ति कश्चन संशयः ।

सूत्रधारः — देवदत्त, अत्राप्याधुनिको लोको भ्रान्त एव सर्वथा। देशोऽयं न कश्चन सामान्यो देशः। इहहि बहुलायामपि तत्तद्देश – सम्पर्क – दोषतमिस्रायां–प्रकाशयति चैनमनिशं किमपि तदेव दिव्यतमं ज्योति–र्यन्न भवति कदापि मन्दं द्युति–हीनं वा।

देवदत्तः — यदीदृशमेव किंचनानुपमं वस्तु पूर्णानन्देऽस्मिन् नाटके वर्ण्यते तदातु मामकीनं चेतोऽपि त्वरयतीव मामेतद भिनेतुमविलम्बेन।

सूत्रधारः — अत्र सन्देह एव कः। तत्र हि स्वयमेव प्रतिश्रुतं नाटक प्रणेत्रा—

जातं सम्प्रति नः समस्तमपि यद् दोषावृत्तं जीवनम्
लोकै–र्विस्मृतमेव संयम–सुखम् प्रेम्णश्च चिन्त्यागतिः।
पूर्णानन्द–कृतावतः सुहृदये–र्दृश्यं हि तत् प्राक्तनम्
क्षेमाकांक्षिभि–रार्य–संस्कृति–रतम् प्रेक्ष्यम् पुनः पावनम् ॥६॥

(नेपथ्ये नृत्यध्वनिः)

किमु सुप्यत आलि–अहो अधुना दिनमद्य सुरम्यमिदं ह्युदितम्
द्युतिरस्ति नवा परितः प्रतता नवमुल्लसितं हृदय च हृदः ।७॥

कुसुमे कुसुमेऽनुपमा सुषमा सरसं मरुदेशवनं विरसम्
सरितः प्रवहन्ति हसन्त्य इमाः प्रतिभाति जगत्–ललितं निखिलम् ॥८॥

देवदत्तः — (निशम्य) कीदृशोऽद्यायम् भाव। भवत्ययं जगति नवीन एव कश्चनागा–संचारः।

सूत्रधारः — अरे, चिराद्–यत्समीहितमासीन् तदेव नः सम्पन्नम्। गुरुवरस्य गोरक्षनाथस्य वर–प्रसादोऽद्य मूर्तिमान् भूत्वा महाराजस्य शैलेन्द्रस्य गृहे समवतीर्ण इति प्रतीयते।

तत एवेयं मंगलगीति मयी नर्तन–भंक्रृतिः परितः प्रस–
रन्ती नर्तयति सर्वेषामेव नः–चेतांसि । पश्य पश्य, तत
एव चेमे सर्वेऽपि लम्बशाटपटावृताः त्वरितगति–प्रचल–
दुकूलाः पण्डिता अहमहमिकया राजप्रसाद–द्वारम्पर्या–
वृण्वन्त इतस्ततो विचरन्ति ।

(कश्चनैकस्तेषु श्रावयति चैतत् पद्यं मन्दस्वरेण)

समुपैति सहैव तामसी प्रथमैरेव करैर्न किं रवेः
नियतं प्रति विन्दुर्वर्ति वा सहजं किं न विशेषणं ह्यपि ॥६॥

सूत्रधारः — (श्रुत्वा) अरे सुधासारेणैव सह कीदृशोऽयं वज्रपातोद–
घोषः । सर्वथा कल्याणं कुरुताद् – भगवान् भूतभावनः
सर्वेषाम । इदानींतु आगच्छ प्रमोदावसरेऽस्मिन् आवा–
मपि एभिः पण्डितैः सहैव राजकुलं वर्धापयाव समुप–
स्थितानां जनानां मनोरञ्जनाय च यत् सामयिकं तत्
प्रस्तुमः ।

द्वितीयं दृश्यम्

(पुरोहितः, पण्डिता अर्थिनश्च)

कमलाकरः — शास्त्रं हि किं किं नाम न प्रत्यक्षं प्रदर्शयति विशेषतश्च
ज्योतिः शास्त्रम् । अस्यानुग्रहेण मया पुरैव वर्षेऽस्मिन्
प्रबलः सन्तानयोगो वर्तत इति समघोषि ।

हिमकरः — अरे त्रिकालदर्शिन् ! प्रज्ञानेत्र ! क्व ते शास्त्रेणानेन
स्थितमासीदद्यावधि त्वदुदरदरीगर्त–निलीनेन ।

महीधरः — अरे शान्तं पापम् ! प्रसिद्धोऽयं धूर्तराजः । किमस्य
योगैर्वियोगैः कदाचन किंचन जातं वा भावि । विज–

यतां सर्वमास्माकं सर्वसिद्धिदात्री भगवती चामुण्डादेवी। (गम्भीरमुद्रां नाटयन्) अहो कीदृशी भयावहासीत् सापि महाकालरात्रिः। बलिदानकाले सहसैव यतस्ततोऽग्निज्वालाः परितः समुद्वमन्त्यो मत्सम्मुखमायासिषुः शतशः शिवाः।

हिमकरः — अरे पाषण्डभाण्ड! अलं तेऽनेन विकत्थनेन।

कमलाकरः — संजाते वृष्टि-संपाते कथमद्य भेकोऽयं न टर्टरायताम् स्वातन्त्र्येण।

प्रभाकरः — कथय कथं न सुप्रभातेऽप्यस्मिन् वायसोऽयं न भवेत् क्रौंकार-मग्नः।

महीधरः — (आक्षिप्य) अरे। जानाम्यहं युवां कमलाकर – कृपोपजीविनौ दुष्टग्रहौ।

उभावपि — आवां च भट्ट-भट! त्वाम्—

जानीवहे यत्कुरुषे यथा वा प्रतार्य लोकान् तनुषे स्वजालम्
स्थाता दशेयं न परं चिराय क्रूरग्रहैः सम्प्रति वीक्षितोऽसि ॥१०॥

स्माकं च—

कर्मकाण्ड प्रवीणानां ग्रहाः कुर्वन्तु किं कचित्
सलिले प्रपतन् वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति ॥११॥

पुरोहितः — पण्डितवराः! सौभाग्येन समुदितेऽस्मिन् मांगलिके दिवसेऽपि किमेवम्विधं यत्तन्निरर्गलम्प्रलप्यते।

कमलाकरः — आर्यमिश्राः। निःसंशयमपूर्व – एवंप कश्चन सौभाग्य-सूर्योदयस्तथापि प्ररोहक्षण एवात्र कथम्र पतत्ययं परमो भयावहः कश्चन काष्ठिक-कुठारप्रहारः।

कमलाकरः — भगवन्।

पुत्रोऽसौ नियतं विलक्षणगुणः कश्चिन्महान् संयमी
पित्रोः स्यादनुगश्च, दर्शनसुखं नैवाप्नुतः किन्तु तौ ।
आदौ षोडशवार्षिकी ग्रहगतिस्तद्रोधिनो दृश्यते
को जानाति घटेत किं परमितः पुत्रः शतायुः परम् ॥१२॥

अर्थिनः — (श्रुत्वा) हन्तहताः स्म । पुत्रमुखमनालोक्य कथं कञ्चना ऽपुलकितः पितार्ऽर्थिभ्यो मुक्तहस्तो भवेत् । अपि च किं नाम तौ पितरौ,

स्मेराननं वीक्ष्य सुतस्य कान्तम् बोधस्य रम्यां क्रमशः प्रदीप्तिम्
श्रुत्वा वचांसि स्खलितानि भूयः प्रमोदमग्नौ नहि चेत् प्रजातौ ॥१३॥

एकः — कालावधिरपि तु कियान्—

पुरोहितः — (आक्षिप्य) न भवतश्चधीराः । भाग्यलिखितं न केनापि कश्चित् किञ्चनापहर्तुं शक्यम् । सुप्रसन्नैः सम्प्रति शुभाशीर्वाद-प्रदान परैः वचन-प्रयोगे च सावधानैर्भाव्यम् । समागतमिदं सम्मुखमेव दुर्गद्वारम् । पश्यत—

नार्यो मंगलगीतिगाननिरताः तौर्यत्रिकं वर्तते
प्रासादेषु पदं न तत् किमपि यत् पूर्णं न पौरव्रजैः ।
राज्ञामुत्सव एव कः स नु भवेत् यस्मिन्न सर्वोत्सवः
राज्यं तद् भुवि धन्यमस्ति निरति-र्यस्मिन् प्रजानां नृपे ॥१४॥

विजयतां महाराजः । चिरंजीवतु कुमारः
(सर्वेसम्भूय) विजयतां महाराजः । चिरंजीवतु कुमारः ।
(सर्वेऽपि सम्प्रविष्टा दुर्गाऽभ्यन्तरम्)

तृतीयं दृश्यम्

(ततः प्रविशति चिन्तामग्नो महाराजः)

महाराजः — आः कष्टम् । हृदयेन मुहुर्मुहुर्बलवत्प्रेरितोऽपि नाहं

कथमपि सुतमुखावलोकन – सुखमविगन्तुं शक्नोमि। कदा वा दीनमिदं मानवीयं मनः स्वमनोरथानाम् परिपूर्त्या भवति पूर्णम्परितृप्तम् शास्त्राणि वा कदा कस्यचन कोमलवृत्तिरक्षणमपेक्षन्ते। इमानि हि केवलमदृश्य–भविष्यभावनामयानि प्रायशो भवन्ति वर्तमान विरोधीन्येव। अन्यथा कीदृशोऽयं नियमः—

यदर्थमाजीवनमीहमानैः दुःखानि सोढानि परः शतानि
सम्प्राप्तिकालक्षण–एव सोऽयं क्वचिन्निरस्यो बत संनिगूढः ॥१५॥

किमतः परं दौर्भाग्यम्—

पुरासीद्यत्राहो प्रकृतिजनितं किंचन तमः
सहस्रांशौ पूर्णे समुदयति तत्र – द्युतिमये
स्वहस्ताभ्यां नेत्रे स्वयमिह पिधायैव विधिना
मयैतद् द्रष्टव्यं तम इह घनं हन्त परितः ॥१६॥

हतविधे ! त्वदीयं विधानमपि शक्यम् किन्तु केन निरोद्धुम्। अवश्यंभाविनमर्थमन्यथा–कर्तुम् न कश्चित् लोके प्रभुरास्ते। (क्षणं विरम्य) चिरं जीवतु परं सम्प्रत्ययं सुकुमारः कुमार। स्वयमेवाऽहमपि पुनः कदाचन भवेयम् परिपूर्ण–मनोरथः।

(अत्रान्तर एव प्रविश्य पुरोहितः)

पुरोहितः — जयतु महाराजः भगवत्–कृपया परिसमाप्तोऽद्य निर्विघ्नं कुमारस्य पञ्चमो वर्षः। कुलपरम्परामनुसरद्भिः स्वामिवर्यैः सम्प्रेष्योऽयं सम्प्रति कस्मिंश्चन–राजवंश–शिक्षानुकूले गुरुकुले यत्रायं समवयस्कैः सहपाठिभिः सह स्वतन्त्रं विहरन् समधिगच्छेत्–राजकुमारोचितां सर्व विद्यामाचार–विचारशिक्षाम्–अहमपि च समये समये

तत्रत्यां तत्-प्रगतिं सुनिरीक्ष्य-आर्यवर्येभ्योऽखिलं यथा-वत्-निवेदयिष्यामि ।

नरेश्वरः — गुरुपुत्र, अविगत्यैतदद्य परमहर्षावहं शुभं सद्-वृत्त महमपि साम्प्रतमनुभवामि स्वस्थमात्मानम् । गुरुजनैर-नुगृहीते बाले न पुनः पितरौ तत्कृतेऽधिकं चिन्तितौ तिष्ठतो न वा भवतः पुनः प्रतिक्षणं तत्तद् - गति निरीक्षण-व्यग्रौ ।

योग्यं गुरुकुलस्थानञ्च तत्रभवतैव सम्प्रति समन्विष्य सूचनीयोऽहं यथासंभवमविलम्बेन ।
(पुरोहितः शुभाशीर्वादमावेद्य प्रस्थितः । नरेश्वरश्च प्रविशत्यन्तः पुरम्)

(इति परिपूर्णः पूर्णानन्दे प्रथमोऽङ्कः)

अथ पूर्णानन्दे द्वितीयोऽङ्कः

प्रथमं दृश्यम्

(यात्रा संभार-संग्रह-सम्भ्रान्तः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी — (आत्मगतम्) अकस्मादेवाद्य महाराजः श्रीगंगेन्द्रो वाल्हीकानभियात्विति निशम्यैव प्रकम्पमानगात्रस्य मे-ऽङ्गानि महादेव्या आदेशेनाधुना सर्वथैव प्राणरहितानीव संजातानि (विरम्य) यात्रेति शब्दस्य श्रवणमात्रेणैव वार्धक्ये न वृद्धेनाऽपितु तस्य प्राणैरेव पुरतो गन्तुमिव भूयते सर्वथा समुद्यतैः ।

नुमितम्–महाराजो वाल्हीकानां गतिविधि–पर्यवेक्षणान्तरं प्रधानामात्य–पुत्रस्य वैवाहिकम्प्रसङ्गमपि निजोपस्थित्यानु–गृण्हीयादेवेति प्रायः सुनिश्चितम्। मांगलिकेऽस्मिन्नवसरे महादेवी अक्षराऽपि प्रधानामात्येन तत्रोपस्थातुं सम्प्रार्थिता, परं साऽत्र स्थितैव कुमारस्य तां तां शिक्षानुगताम्प्रगतिम्पर्यवेक्षितुं दृश्यते पर्युत्सुका। महाराजश्च ततः काश्मीराधिपतिना प्रार्थितस्तत्रत्यानां तेषां तेषां रम्यस्थलानामपि दर्शनाय यत्र तत्र विहरेदिति सर्वं सुविचिन्त्य सर्वं–महादेव्याः सेवायां त्वदुपस्थिति–निर्णीता परमापेक्षिता।

कञ्चुकी — अनुगृहीतोऽस्मि। निवेदय मे शतशः शुभाशीर्वादान् महादेव्याः सेवायाम्। शतायुषश्च भवन्तु दयालवः स्वामिपादाः।

माद्री — सर्वमेतत् सुसम्पादयिष्यामि। परमधुना महादेव्या आदेशानुसारं भवता महाराजस्य यात्रा–सौख्याय पुरोहित–प्रवरस्य परामर्शानुसारं प्रासादमन्दिरे समारम्यं किममि सदनुष्ठानम्।

कञ्चुकी — कथय पुष्कलः प्रसादश्च प्रासादे प्रतिदिनं वितरणीयः।

माद्री — वाति वासन्तिके वाते सार्वत्रिकं परिमल–सौख्यं तु भवेदेव सुलभ्यं सर्वं नास्त्यत्र कश्चन सन्देहः।

(विष्कंभकः)

(२)

(ततो भव्ये नवनिर्मित–आस्थान मण्डपे प्रविशन्ति महाराजस्य–स्वागतं व्याहरन्तो मागधास्तेते तत्प्रदेशवर्तिनः सामन्तप्रवराश्च)

प्रथमो मागधः —

संजातोऽद्य किलाऽस्मदीय – विषये नूनं प्रकाशो नवः
कश्चिद् दिव्यतमो जगत्यनुपमो रम्यो महानुज्ज्वलः ।
शैलेन्द्रो नृपति-र्महान् गुणगणै-र्विभ्राजमानोऽनिशम्
सौभाग्यात् समुपस्थितः प्रमुदिताः सुस्वागतं कुर्महे ।।२।।

द्वितीयश्चारणः —

जयी-प्रतापी, प्रथितो दयालुः प्रजाजनानामनुरक्ति-केन्द्रः
धर्म्याम्-व्यवस्थाम्प्रति-कर्म रक्षन् नूनं महानेष मही-महेन्द्रः ।।३।।

प्रधानामात्यः — (समुपसृत्य) इमे च तत्तद्-गिरि-स्थलाधिपाः यशस्विनः सामन्तप्रवराः स्वामिनः सेवायां समुपस्थिता अभिवन्दन-पुरस्सरं निवेदयन्ति-स्व-स्व-स्थल-वर्तिनीं वर्तमानामखिलाम्परिस्थितिम्प्रगतिं च । (क्रमशः सम्मुखे समुपस्थितेषु सामन्तेषु तत्र प्रथमं हरिवर्पाधिपो निवेदयति)

प्रभोः प्रतापादिह सुप्रसन्नाः सर्वे वयं स्मो निरताः स्वधर्मे
न केऽपि हिंस्रा न च कोऽपि शत्रुः क्षेत्रेऽस्मदीये लभते प्रदेशम्।।४।।

ततो वलक्षाधिपः श्वेतकेतुः साष्टाङ्ग पातम्प्रणम्य निवेदयति—

क्षन्तव्याः स्मो महाराज, वयं सर्वे कृपालुना
विलम्बश्चेत् करादाने क्वचित् कश्चिदभून् प्रभो ।।५।।

महाराजः — श्वेतकेतो, इतः प्रागप्यनेकशः प्रायशः प्रतिवर्षम् भवतो व्यवहारे भवत्येव यत्तत् परिस्खलनमिति नास्त्ययं कश्चन ते समुचितः समुदाचारः। व्यसनस्यापि भवति काचित् पराकाष्ठा परित्यज्य सम्प्रति प्रतिक्षणमद्यपानम् परिष्कार्य स्वकृषिक्षेत्रम्. परिरक्षणीया फलदा-

यिनः सत्तरवो राज्यकरावाने च न पुनः कार्यः कश्चन विलम्बः (प्रधानामात्यमभिलक्ष्य) अमात्यप्रवर, इतः परं श्वेतकेतो मद्य-पाने यथा न भवत्यविकम्परिवर्धनं तद्भवताऽपि कृपया प्रतिदिनमेव पर्यवेक्षणीयं सुसमाहितेन ।

प्रधानामात्य — स्वामिप्रवराणामादेशोऽयम् परिपाल्यतां सर्वथा सावहितं मया । अपरैरपि परं सामन्त-प्रवरैः सुविधेयमेतत् कृते मदीयं सदैव-साहाय्यम् ।

(सर्वेऽपि सामन्ताः—आम् आम् इति समुच्चारयन्तो-निवेदयन्ति पुनः स्व-स्व-विषय - वर्तिनीमखिलाम्परिस्थितिम् ।

महाराजः — सर्वमेतद्-वृत्तं तत्रभवद्भ्योऽवगत्य परम्प्रीतोऽस्म्यहं संजातः । वर्तमानेभ्यः संभावितेभ्यश्च सर्व-विधेभ्यः शत्रुभ्यः स्वस्वक्षेत्रस्य संरक्षणमेव नूनमस्माकम्प्रथमो धर्मः । तेन सहैव परमस्य क्षेत्रस्यार्थिकाय सांस्कृतिकाय च विकासाय विधीयमानानां कार्याणां क्षेत्रेऽपि स्थेयमस्माभिः सदैव प्रगति-परैः । न काचित् सामान्याऽपि रूपरेखा परम् अस्याः प्रस्तुता केनापि महानुभावेन ।

(हेमकूटाधिपः समुत्थाय सविनयं निवेदयति)

परमश्रद्धेया भूपतिवराः, नैतदविदितमत्रभवताम् आर्यचरणानाम् यदस्मदीयेषु तेषु तेषु मठेषु तत्रासन् अनेके सुप्रसिद्धा ग्रंथागाराः । आक्रामकै-र्मंगोलादिभि-र्दस्युभिः परं तत्तदाक्रमण - काले सर्वेऽप्येते ग्रन्थालयाः परिध्वस्ता अथ कृताश्च तथा खण्डिता यदा नैकमपि किंचन पुस्तकं साम्प्रतमत्रास्ते पूर्णरूपेण

पूर्णम् सुरक्षितम् । सर्वेषामप्येषां समुद्धाराय सम्प्रत्यपेक्ष्यन्ते तत्तच्छास्त्रानुशीलनेऽनवरतं निरताः शतशो विद्वत्प्रवराः । एषामावासादि-प्रबंधाय-अशनपानादि-व्यवस्थायै चापेक्षितमाखिलम्परिपूरयिष्यतेऽस्माभिर्मान्यानामनुचरैः । विद्वद्भिर्विधेयं कार्यन्तु किन्तु विधास्यते विद्वद्भिरेव सुसम्पन्नम् । प्रबन्धश्चायं भवेदार्य-चरणैरेव सुविधेयः ॥

महाराजः — सामन्त-चक्रचूडामणे, समभिलक्ष्य भवतः खल्वेनं-विद्यानुरागं महान्तं सन्तोषमनुभवामि । अस्माभिरपि साम्प्रतं नात्र स्थास्यते सर्वथा समुदासीनैः । सत्वरमेव चैतत्कृते त्वैश्वतैः शारदादेश-विभूषणैः विद्वद्वरैश्च सक्रियं सम्पर्कं संस्थाप्य ग्रंथागाराणामेषां समुद्धारेण करिष्यामोऽस्य प्रदेशस्य लुप्तां सांस्कृतिकीं सत्कीर्तिम् पुनः सुप्रतिष्ठिताम् ।

हेमकूटाधिपः — विजयतां महाराजः, प्रद्योततांतमांचार्य-वर्याणामेष विद्यानुरागस्त्रैलोक्येऽप्रतिदिननविकाविकम्-परिदीप्य-मानः ।

प्रधानामात्यः — सद्गुरो-गोरक्ष-नाथस्याभितमप्येवं भवेत्पूर्णतया-परिपूर्णम् । तत्तत् क्षेत्रपतयश्च भवन्त्वनेन सत्प्रकाशेन प्रतिक्षेत्रं सुप्रकाशिताः ।

(अत्रान्तर एव मध्याह्न-वेलासूचकेन घण्टानादेन सहैव पठति पद्यमेनम् सूतः)

जाता मध्याह्न वेला प्रखरदिनकरो मूर्ध्नि-विभ्राजमानः
छाया शीते प्रदेशे झटिति सुखमितः प्रेरयन्त्येष गन्तुम् ।
देवागारेषु देवा अतिथिजनकृतै-र्मन्त्रघोषैः प्रसादम्
सद्यः प्राप्तुं नितान्तं विकलित-मतयो भान्ति यन्दारवैश्च ॥६॥

प्रतिहारी: — (प्रविश्य) अथाद्य-प्रदोपावसरे सर्वैरेवात्र विराजमानै-र्महानुभावैः – अमात्यप्रवरस्य चिरञ्जीविनः कुमारस्य मांगलिके शुभे वैवाहिकेऽवसरे कृपापूर्णया–स्वसमुप-स्थित्या–समनुग्राह्यम् अमात्य–मन्दिरम्। अवसरोऽयम् परम – सम्मान्यैः स्वामिप्रवरैरपि स्वसमुपस्थित्या सुविधास्यते सुसमलंकृतः (इति सर्वे समुत्थाय, विजयतां महाराजः इति घोषयन्तो मण्डपाद् – वहिरायान्ति)

(३)

(वैवाहिके शुभावसरे, सुसज्जिते स्वभवने समागतानां मान्यानामतिथीनां तेषां तेषां संगीत – नृत्यादिकला-प्रवीणानाञ्च स्वागते निरतः प्रधानामात्यो विशिष्टे मण्डपे महाराजस्य सुस्वागतायात्यन्तं व्यस्तोऽभिलक्ष्यते, सद्य एव च मधुरभेरी –स्वन–पुरस्सरं तत्तद्वादित्र-वादन–ध्वनिःसमारभते)

प्रधानामात्यः — अहो सुसमुपस्थिता एव महाराजाधिराज – प्रवराः समारभतामधुना तिलोत्तमा स्व–सन्नृत्यम् मयूर–नृत्यम् समारब्धे नृत्ये नृपासन–मुपासीनो महामात्यः सविनयं निवेदयति ।

स्वामिवर्याः, गायिकेयमस्मत्प्रदेशस्य प्रधाना गायिका। अस्या नृत्येन गानेन च मुग्धा जना रात्रि–जागरणं न मन्यन्ते जागरणम् तिष्ठन्ति चासूर्योदयमुत्कीर्ण-मूर्तय इव स्वस्थमुपविष्टाः सभामण्डपे ।

नरेश्वरः — सामान्यमपि जागरणम्परं मह्यं भवति परमं दोष जनकम् । दशवादनात्परं नाहमत्र स्थातुम्प्रभविष्यामि

वलेन वा मद्-भिषक् प्रवरः कुर्यान्मां मण्डपाद् वहिर्भूतम् ।

(महाराजस्य वार्तामिनां निशम्य नृपासनमुपासीनः कार्केश्वरः सविनयं निवेदयति)

क्षम्योऽहं महाराज, द्वयोर्मध्येऽनाज्ञप्तोऽपि किञ्चिद् विनम्रं निवेदयितुम । सुप्रसिद्धः किन्त्वस्मत्-क्षेत्रवर्ती प्राणाचार्यस्त्र्यम्बकेश्वरः। निद्रादोष – विशेषज्ञोऽयं सप्ताहाभ्यन्तरमेव तत्रभवतः सुविधास्यति दोषेणानेन सर्वथा विमुक्तानिति मदीयः सुदृढो विश्वासः । आज्ञाप्येत चेत् श्वः प्रातरेवानयाम्येनं मान्यवर्याणाम् परिचर्यायाम् ।

नरेश्वरः — शतशो धन्यवादा अर्प्यन्तेऽस्मै शुभाय प्रस्तावाय । समानेयाः प्राणाचार्या इमे श्वः प्रातरेव नववादनात् प्राक्-मन्मण्डपे । यत्र सुपरीक्ष्यैते मह्यं तत्रभवते वा यदस्ति सुसम्पाद्यम् तदखिलम्प्रतिपादयिष्यन्ति—

निद्रा प्रधाना जननी मता नः प्रस्वाप्य याऽस्मान् सततं सुखेन
रोगैरशेषैः कुरुते विमुक्तान् विभर्ति शक्ति च नवां सदैव ॥२॥

प्रधानामात्यः — भिषक् चूड़ामणे, महाराजस्यास्मै स्वास्थ्य-लाभाय सर्वेऽपि वयं वर्तामहेऽत्रभवतः परमाः कृतज्ञाः । नैर्बल्येनानेन यथानाभिभूयतां भूयोभूयो नरेन्द्रवरः तथाविधः कश्चन सुनिश्चितः समुपायः सुनिर्देश्योऽधुनाऽत्रभवता सुविचिन्त्य सत्वरम् । भवतोऽनेनानुग्रहेण महाराज प्रवरः शीतलकोट वर्तिनोऽन्ये चाखिलाः नागरिकाः स्मरिष्यन्त्येनां यात्रां सदैव समादरेण ।

प्राणाचार्यः — सद्वन्धो, नैषा काचन महती समस्या । महाराजः

समपेक्षते साम्प्रतं सुस्थिरां काञ्चन मनोविनोद-साम-
ग्रीम् ।

दाम्पत्य-सौख्येन चिराद् वियुक्तो वात्सल्य-सौख्येन हठाद् हृतश्च
कथम्बिधं हन्त मनः प्रसादं लभेत सम्राडिति-चिन्त्यमास्ते ।।३।।
स्वतो हि सौख्य-द्वयमेतदास्तां ममोपचारेण सुखेन लभ्यम्
निद्रा प्रसन्नानुगता स्वभावात् सुतं नवोढा जनयेत् च रम्यम् ।।४।।

अस्माकमस्मिन् प्रदेशे तु यथा भवानास्ते सुपरिचितः
प्रायशः सर्वेऽपि सामन्ताः रमन्ते ताभि-स्ताभिरभिन-
वाभी रमणीभि र्न च भवन्ति कदापि केनचित्
निद्रा-दोषेण विदूषिताः ।

अमात्यः — सम्यगवगतो मया मान्यानां खल्वेष सुष्ठं साधीया-
नभिप्रायः । अनन्येन सौन्दर्येण सम्पन्ना नानाविधैरन्यैश्च
गृहिणी-गुणैः समवेताः शतशः सम्भ्रान्ता युवतयो
यौतुकदानादि-काठिन्येनाद्यापि पितृगृह-एव यथातथा
यापयन्ति स्वदिनानि । महाराजश्चेत्केनाप्युपाये
नाङ्गीकुर्यादिनम्प्रस्तावम् तर्हि सप्ताहाभ्यन्तरमेव
सर्वमेतद् भवेत् सुखेन सुसम्पादितम् । (विरम्य)
प्रस्तावोऽयं किन्तु प्रस्तूयतां श्रीमद्भिरेव नरेन्द्रवर्यस्य
सम्मुखे । परिपक्वावस्थायामपि दाम्पत्य-सौख्यमनु-
भवतां वर्षशतं च जीवतां सज्जनानामुदाहरणैः
सुसमर्थितेऽस्मिन् प्रस्तावेऽस्याङ्गी-कारणे न भवेत्कश्चन
संशयात्मकोऽनपहार्यो निरोधः ।

प्राणाचार्यः — परश्व श्वः परश्वो वाऽस्मिन्नपि सत्कार्ये भवेद् भवद्भिः
सुलभ्यो मदीयो हार्दिकः सहयोगः । समन्वेष्टव्याऽधुना
काचन हृद्या रमणी यया रममाणो नरेश्वरो न भवेत्
कदाचन केनचित् निद्रा-सौख्येन-वियुक्तः ।

(निष्क्रान्तावुभौ तत्परामर्श-संलीनौ महानुभावौ)

(४)

महाराजः शैलेन्द्रः — (स्वगतम्) राजप्रासादेषु घटनेयं न काचिद सामान्या घटना । सौख्यद्वयं चानायासेन प्रकारेण सौकर्येण सम्प्रति सुलभ्यमिति नास्त्यत्र किञ्चिद विशेषतः परिचिन्तनीयम् । (क्षणं विरम्य) परिणतं मे वयो नास्ति किन्तु नव-विवाह योग्यम् (पुनरात्मगतम्) प्राणाचार्यस्य कथनानुसारं किन्तु भवेदनेन नवदाम्पत्य-सौख्येन स्वत एव नवशक्ति-सम्प्राप्तिः आयुषश्च भवेत् नवरसैः सरसा स्वाभाविकी सम्वृद्धिः । (पुनर्विरम्यात्मगतम्) कथं किन्वाऽनुभवेत् परं महाराज्ञी अक्षरा (अपवार्य) अथवा साऽपि तिष्ठतु स्वप्रासादे कथाश्रवणादि-मग्ना । तनये समायाते भवेदेव तस्याः तनयो यौवराज्यस्याधिकारी । अपेक्ष्यतेऽधुना केवलं काचित् सामान्या सूचना । अद्यैव तां सम्प्रेष्य भवामि सर्वथा निवृत्तचित्तः ।

(५)

(पूजा-गृहे भगवद्-ध्यान-संलीना विराजते महादेवी अक्षरा । प्रविशति चात्र परम-परिक्लान्ता आर्या मात्री)

मात्री — महादेवी अश्रव्यं श्रावयामि । इदानीमेव प्रधानामात्यस्यानुजेन सह समायाता अस्माकं चिरञ्जीविनः कुमारस्याभिनवाया विमातु राज्ञ्या - नवीनाया दासी रावा प्रणति-पुरस्सरं विज्ञापयति यन्महाराजस्या-

देशानुसारम्प्रमदोपवनस्य पश्चिमेभागे स्थिते प्रासादे नव-राज्ञ्याः स्वागताय समपेक्षितं सर्वमपि तत्तत्प्रबन्धजातं मया वासुदेवेन च सद्य एव सुसम्पादनीयम् ।

अक्षरा — सर्वथा सादरं शिरोधार्यो महाराजस्यायमादेशः । यदपेक्षितं तद् विधीयतामविलम्बेन । नवराज्ञ्या दासी चेयं सत्करणीया समुचितेन सत्कारेण (कञ्चुकी समुपसृत्य) महादेवि ममानुपस्थितौ महाराजस्येयं वाल्हीकयात्रा सम्प्रति संजाता तत्तन्नवसमस्याजननी प्रतिक्षणं तत्तदशान्तिविवर्धिनी च ।

महाराज्ञी — आर्य वासुदेव-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्राणां नरेन्द्राणामियमनुगतिर्नास्ति काचन सर्वथा नवाऽनुगतिः। गुरोरनुमतिं विना परिणतेऽस्मिन् स्ववयसि महाराजस्येयम् प्रणय-लीला न भवेत् किन्तु चिरं मनसः समुल्लासाय । यज्जातं किन्तु तज्जातमधुना । विहाय तत्तच्चिन्तनमन्यत् कुमारस्य पूर्णस्य कुशलमेवाधुना विधेयमत्रभवता प्रधानं स्वसाध्यम् ।

कञ्चुकी — हे भगवन्, हे गुरो गोरक्ष—

रक्ष्यः कुमारः सततं भवद्भ्याम् दूष्येत कैश्चिन्न भवत्प्रसादः
न योगिनी क्रूरतरा ग्रहेभ्यः क्वचित् कदाचिद् भवताच्च तस्मै ॥१॥

(इति परिपूर्णः पूर्णानन्दे द्वितीयोऽङ्कः)



अथ पूर्णानन्दे तृतीयोऽङ्कः

(१)

(प्रातरेव स्वकक्षे स्थिता निरुल्लासा-अक्षरा)

अक्षरा — (आत्मगतम्) कथमेकपद – एव सर्वं परिवर्तितम् । नवीना राज्ञी समायातेति महाराजदर्शनमपि दुर्लभं जातम् । दुर्निवारैव वा भवति सततं निष्करुणा विधिगतिरखिला ।

भवतु भवतु कश्चित् सर्वसम्पत्तिशाली
विलसतु सुखसिन्धुस्तस्य पार्श्वे सदा वा
तदपि जगति जाते केवलं दुःखहेतोः
अमृत सरसि मग्नेऽप्यग्निदाहानुभूतिः ॥१॥

(वैक्लव्यं नाटयति निःश्वस्य च पुनः) पूर्णागमन-कालञ्च समाप्तप्रायोऽपि साम्प्रतं प्रतिक्षणं प्रवर्धमान एव संलक्ष्यते । न जाने तस्यापि भाग्ये किं लिखितम् यौवराज्येऽयं सुविचास्येत समधिष्ठापितो न वा इति सर्वमेव सम्प्रति संजातं संशयापन्नम् । महाराजः सम्प्रति न स एव महाराजः । क्व गता न जानेऽस्य सर्वाऽपि सा प्राक्तनी विवेकबुद्धिः । अथवा

क्वेदं कदाचिद्घटनां भवेऽस्मिन् कामो जनो यः स भवेद् विवेकी
कामाग्निना प्रोन्कथिते हि चित्ते शान्तास्तरंगाः प्रकृते-र्विरुद्धा ॥२॥

(प्रविश्य माद्री)

माद्री — आर्ये अतिक्राम्यति स्नानवेला । अलं सम्प्रति – महा-राज-व्यवहारायाथात्यविकेन व्यर्थेन चिन्तनेन ।

महाराज्ञी — सौम्ये, न केवलं महाराज-व्यवहार एव परमन्यापि अज्ञात निदाना काचनातुरता स्वयमेव सन्ततं सम्प्र-व्याकुली करोति मदीयं चेतः । किं कुर्यामिति नैव निर्धारयितुं शक्नोमि । समागतवत्येव कुमारे सर्वप्रथमं तेन किं विधेयमिति भृशं चिन्तयामि ।

माद्री — पितृचरणानां दर्शनानन्तरं स गच्छतु विमातुरपि सद्दर्शनाय सद्यः ।

महाराज्ञीः — अस्तु । प्रेषयिष्यामि तत्रैव तं सर्वप्रथमम् । ततः परं च भवेद् भगवान् भूतभावन एव अस्माकं सर्वात्मकं शरणम् । (सांजलि प्रार्थयति)

हे दीनबन्धो, करुणैक-सिंधो भीते-र्जगत्या ह्यव मां सदैव
बलेन दीनां कुरुते हि या मां भूयो विधत्ते हत चेतनां च ॥३॥

(२)

(ततः प्रविशति परिपूर्णे पूर्णानन्दस्य गुरुकुलानुसृतेऽ-खिले पाठ्यक्रमे तत्प्रगतिम्पर्यवेक्षमाणो गुरुकुलस्य प्रधानाचार्यः)

आचार्यः — (स्वगतम्) अहो कुमारोऽयमासीत् कीदृशो विनतः, साधुवृत्तो, गुरु सेवको गोसेवकश्च । विलक्षणश्चास्य मति-प्रकर्षोऽतिशेतेस्म सर्वेषामेवान्ते-वासिनाम्-प्रदीप्त-तमं बुद्धिवैभवम् । महाराजाधिराजः शैलेन्द्रो नूनमस्य विलक्षणया शिक्षा प्रगत्या प्रभावितो गुरुकुलस्याभ्यु-दयाय भवेत् सदैवास्माकमनन्यनमः संरक्षकः । (क्षणं

विमृशन् पुनरात्मगतम्) स्वगृहं गते किन्तु कुमारे कुतः पुनर्वयमभि – लप्स्यामहे एवन्विधं सर्वत्रैवादर्शानां स्थापकं शिष्यवरम् । ईदृशा हि शिष्या न भवन्ति सदैव सुलभा । शिष्या अपि ते भवन्ति गुरूणामपि गुरवः । एषां विषये वयमेषां शिक्षका एते वाऽस्माकं शिक्षका इति निर्णेतुमास्ते सदैव दुष्करम् ।

सत्यं चैतत्

स्वयं विकासो गुणिनो गुणानां विकासकस्तत्र निमित्तमात्रम्
यद्रत्नमाभाति गुणः स तस्य प्रभाकरे पश्यति पोष्यमाणः ॥४॥

अस्तु सम्प्रति शीघ्रमेवासावितो यातेति मयापि महा–राजप्रवरोऽस्य – सुस्वागताय सत्वरमेव संसूचनीयः । (गम्भीराकृतिः प्रविशति स्वविद्यामन्दिरमाचार्यः)

(३)

(सभामण्डपे विराजमानो महाराजः शैलेन्द्रः । गुरु–कुलाचार्यः प्रविश्य निवेदयति ।)

आचार्यः — नरेन्द्रशिरोमणे

दिव्यै राजगुणै–र्न केवलमयं राजन् सुतस्ते युतः
सर्वैरेव सताम्–प्रियै–र्गुणगणै–रेषोऽन्वितो राजते ।
नम्रोऽयम्–प्रभुकीर्ति–कीर्तन–रतो गोसेवकः कृष्णवत्
शिष्यश्चापि–हृदावनो गुरुजनै–रस्त्येष कश्चिद्यतिः ॥५॥

शैलेन्द्रः — महनीय कीर्ते, गुरुमुखात्–निशम्यैनां–स्वसुतप्रशंसाम् संजातोऽस्मि सर्वथा कृत–कृत्यः । ज्योति–र्विद्भि–र्नियते सुदिनेऽचिरेणैव सम्प्रत्यायोज्यमानोऽस्य यौवराज्य महोत्सवो मान्यैरपि स्वसमुपस्थित्याऽवश्यमलंकर

णीयः ।

पुरोहितः — (सहसा समुपसृत्य) स्वामिप्रवराः, ज्योति – र्विदा कमलाकरेण शीतलकोट – वर्तिनः श्रीनगरस्थाश्च– साम्वत्सरिकाः कुमारस्य निर्दोषाय यौवराज्याधायिने सन्मुहूर्तायाऽनेकशोऽत्र – आकारिताः सुविमृष्टाश्च परं सिंहस्थ–दोषवशात् नाधिगतस्तैः कश्चन सर्वथा विशुद्धो राजयोगः ।

महाराजः — कथय, कुमारमेनमुद्दिश्य–शैलेन्द्र – मन्दिरे नोपलभ्यः कदाचन कश्चन महोत्सव–योगः ।

पुरोहितः — शान्तम् पापम् । यदि नाद्य तर्हि परश्वः सम्भावनया ऽप्यधिकं समुल्लासिनी भवेदेव महोत्सवानाम्परम्पराऽत्र प्रवर्तिता ।

महाराजः — (नैराश्य–मुद्रां नाटयन्) सा भवेन्न वा भवेदत्र प्रव– र्तिता, परमधुनाऽयं क्व गच्छेत् किंवाऽनुतिष्ठेदित्यास्ते परमं विचिन्तनीयम् ।

प्रधानामात्यः — (अभिवाद्य) स्वामिप्रवराः, मदीये विनतेमते परिमिताय कस्मैचन कालाय सम्प्रेष्योऽयं कुमारवर्यः सर्व–सौख्य सम्पन्ने स्वमातुलस्य सदने । अद्यावधि केवलं गुरुकुले स्थितेनानेन नागरिक – जीवनगति – र्नवा काचिद्– राज्यशासन व्यवस्था क्वचिल्लक्षिता । रामनगर– राज्ये समपेक्षितमिदमुभयं भवेत्सारल्येन सुसमधि– गतमनेन ।

महाराजः — (समाकर्ण्य सुसमाहितमेतत्–श्रणं विचिन्त्य) अस्तु गच्छतु कुमारोऽधुना प्रथमं रामनगरम् । समधिगते च पुनः शुभे मुहूर्ते शीतलकोट–मागत्य भवतु युवराज– पदासीनः ।

पुरोहितः — (निशम्य नृपवरादेशम् सवैलक्ष्यम् अपवार्य) हता मन्दभागिनी महादेवी अक्षरा । अथवा—"बलीयसी नित्यमहो शिवेच्छा" (महाराजे सिंहासनात् समुत्थिते सर्वे महाराजमभिवादयन्तो मण्डपाद् बहिरायान्ति)

(४)

(अपूर्वेण ब्रह्मचर्यतेजसा पूर्णे विकसितेन यौवन - विकासेनान्विते कुमारे सुमुहूर्ते शीतलकोटमागते प्रफुल्लिता महाराज्ञी अक्षरा आयोजयति तानि तानि मांगलिकानि आयोजनानि प्रेषयति च कुमारम् पूर्णम् राज्ञ्या नवीनायाः प्रासादेषु तस्याः शुभाशिषां समवाप्त्यै अस्मिन्ने- वावसरे—)

(नेपथ्ये कश्चन नवयुवको गायति मधुरेण सुस्वरेण वसन्त-प्रासादस्था राज्ञी नवीना च तेनाभिभूता भव- ति नितान्तमुत्कण्ठिता)

प्रति हृदयं लसति समुल्लासः हरति मनः सहकारविकासः
परभृत-हृदयात्प्रवहति गीति-र्जयति जगत्यां मननिजनीतिः ।।६।।

प्रतिकलिकं रागस्यावेगः हृदये हृदये प्रेमोल्लासः
कथमिह विरही कश्चन जीवेत् कुसुम शरे क्रूरम् – परिपतति।।७।।

नवीना — अहो प्रमाथिनीयं रागिनी, विजयतेतमाम् चायम् परितो ऋतुराज-प्रतापः ।

कथमहो परिरम्य निजम्-प्रियम् कुसुमिता व्रतती परिनृत्यति
मधुरमेव च कूजति कोकिला–स्वदयित–स्मृतिमेत्य बलीयसीम् ।।८।।

सर्वमेतत् परमं हृद्यम् (उष्णं निःश्वस्य) नवीने,

कीदृशी किन्तु दयनीयेयं तावकीना बत परि-
स्थितिः ।

रसमयं खलु यन्ममजीवनं कथमहोऽद्य हठात् परिशोषितम्
अमृतमेव यतोऽवहत् सदा क लहरी तव सा च गताऽखिला ॥९॥

अपि च—

प्रमुदिता प्रकृति हि यदाऽखिला नवमदेन युताऽस्ति विलासिनी
हतविधे कुरुपे हि कथं नु माम् सहज–सौख्य–हृतां दयसे न च ॥१०॥

एष मधुमासः, उच्छृंखलितं चैतन्मदीयं नवं वयः । स च स्निह्यन्नपि स्नेहशून्यो बत मे स्नेहागारो न दृश्यतेऽधुना कुतश्चित्–केनचित् नवेन स्नेहेना–पूर्यमाणः (पुन–र्निश्वस्य)

सर्वैरेव परिजनैरन्यैश्च–स्वजनै–र्नित्यम्–अहो राज्ञीयम् प्रियतमा महाराजस्य–एवम् परं समादृताया अथानेकैः समादर–सूचकैः सम्बोधनैश्च प्रतिक्षणं सुसम्बोधिताया मे हृदयं चेत् कश्चनापृच्छेत् तर्हि ।

जानामि राज्ञी–पद–भूपिताऽहम् प्रश्नः सदा किन्तु विबाधते माम्
स्त्री प्राकृता चापि खलु स्वगेहे मत्तोऽधिकं किं सुखिनी हि नास्ते ॥११॥

भवतु गौरवं गौरवे मनः सौख्यं पुनः किंचिदन्यदेव । कियत्कालं सोढव्यमिदं जीवनरसप्रशोषि नीरसं राज्ञी पद–गौरवम् । न जाने कतिथान्तरिकं किंचन प्रेरयति मामकं चेतः सत्वरमितः प्रधावितुम् । धर्मभीतिः समाजभीतिश्च क्षणान्तरमे परं सम्मुखे समापततः । (मौनं किंचिद्विचिन्त्य) कोऽयं नाम किन्तु धर्मः ?

को वाऽयं नित्यमविमर्शशील: केवलं स्वार्थसाधन पर: समाजः । कथं नाम कश्चन मानवजीवन-सुलभाभि: स्वदेहचारिणीभिस्ताभिस्ताभि: प्रवृत्तिभिराभिरात्मानं मोचयितुं शक्नोति । संयमस्यापि भवति काचन सीमा । समाज एव वा विद्यतां कृत्याकृत्यनिर्णेता किमर्थं तर्हि तेन माधवीलतेव सुविकसन्त्यप्यहं प्रत्यारोपितास्मि प्रशुष्के केवलं कण्टकावृतेऽस्मिंस्तरौ । (वैक्लव्यं नाटयति गायति च पुन: कश्चन नेपथ्ये)

"ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलयसमीरे मधुकरनिकर करम्बित कोकिलकूजित कुंजकुटीरे, विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।"

(आकर्ण्य समधिकमाक्लिन्ना)

नवीना — विलपति कुररी काचन दीना, शपते निजदैवं कामानलदग्धा दयितविहीना ॥१२॥

(क्षणेऽस्मिन् वसन्त-विहार द्वारमनावृत्य प्रविशति कुमारः पूर्णः वातायन-स्थिता नवीना च तरुणमेनं सहसाऽवलोक्य तत्सौन्दर्येणाभिभूता पश्यति निर्निमेषमेनम्)

नवीना — अहो अपूर्वं लावण्यम् । कथं किन्त्वयमेति मदभिमुखमित एव स्वातन्त्र्येण ?

कुमार: — (उपसृत्य चरणस्पर्श-पुरःसरम) परमादरणीये, प्रणमत्ययं ते चरणकमलेषु पुत्रस्ते कुमारः पूर्णानन्दः ।

नवीना — (सवैलक्ष्यम स्वचरणावेकतः अपकृष्य) पूर्णानन्द,

श्रुतं न वा त्वया मनोहरं वासन्तिकं गीतमेतत् । नाहं चरणस्पर्शाधिकारिणी । नवामेनां वासन्तिकीं रूपमाम् विलोक्याचरणीयं पुनस्तदनुरूपमाचरणम् ।

पूर्णानन्दः — (परमं विचित्रमेतद् स्वविमातुः शुभाशिषाम्प्रकारमालक्ष्य विचकितः) मातर्मान्या अक्षरया प्रेषितोऽहमार्यायाः शुभाशिषामवाप्त्यै ।

नवीना — कुमार, नैतेन ते मातृपदेन पुनः पुनरहम्- विधेयाऽपमानिता । स्मरसि चेत् श्रावय किंचन हृद्यं गोपिकागीतम् । किं न पश्यसि कथमियं माधवी सहकारमेनमाश्लिष्य सुखं विकसति, कथं च प्रतिहृदयं भगवान् मीनकेतनस्तनुते कंचनानुपममेव नवमौत्सुक्यम् ।

पूर्णानन्दः — (आत्मगतम्) मात नहिमवगच्छामि विचित्रायास्तेऽस्या भूमिकायाः कञ्चनाभिप्रायम् । अनुज्ञाप्योऽहमिदानीमितो गन्तुम् । अनुग्राह्यश्च शुभाशिषा ।

नवीना — अहो बालिश, प्रतीयते न मनोभुवाऽपावृतमीषदपि ते हृदय द्वारम् । यत्तदवीत्यापि नाधीतं च त्वया कुतश्चित् लोकलावण्यस्य-समीक्षणम् ।

पूर्णानन्दः — (स्वगतम् अपसर्तव्यमितः सत्वरम्) (प्रकाशम्) मातः क न दृश्यते परितः प्रसृतमेतल्लोकलावण्यम् ।

नवीना — (सकर-स्पर्शम्) एवं चेत्प्रवीणोऽसि लोकलावण्यस्य निरीक्षणे तर्हि चरणस्पर्शापेक्षया तदेवेक्षितुं कुरु ते सफलं यत्नम् ।

पूर्णानन्दः — मातः, अहं तु मनोज-विशिखैः क्रूरम् परिविद्धा नाहं किञ्चिदन्यद् द्रष्टुम् वाऽवगन्तुं शक्नोमि ।

जाने नैव कथं मनोज-विशिखै-र्विद्धं मनो जायते
तद्दीर्णो मनुजस्तथाऽऽकुलमतिः कश्चित् कथं वा भवेत् ।
जाने किन्तु सदैव वन्द्यचरणा सर्वेऽपि मान्या जनाः
माता यत्र च सम्मुखेऽस्ति कतम-स्तत्राऽस्तु प्रश्नोऽपरः ॥१३॥

इति सम्प्रति शुभाशिषा समनुगृह्याज्ञाप्योऽयं ते ।

नवीना — (आक्षिप्य मध्ये) हृदयचौरः ।

पूर्णानन्दः — (क्षमस्व मातः क्षमस्व) नाहं हृदयचौरः । अहमस्मि ते (इत्यर्धोक्ते)

नवीना — मे शोकशंकुः । मुहूर्मुहुः प्रबोधितोऽपि यदि नाव-गच्छसि मे मनोरथम् जानन्नप्यवहेलयसि वा मदीयं मनोगतमेवं निर्दयम् तर्हि नैतद्-भवेत तव कल्याणाय (कुमारः समुत्थाय वहिर्गन्तुमारभते) नवीना च सरो-पम् ब्रूते गम्यते चेद् गम्यताम् । भूयतां चाद्यैव परमस्य वैयात्यस्य फलं भोक्तुं सर्वथा समुद्यतेन ।

(पूर्णानैव-मनाहता नैराश्येन विकला, कोपेनाकम्प-माना च-प्रविशत्यन्तः पुरम् नवीना)

(अन्तः पुराद् वहिरागच्छन् श्रीशैलेन्द्रः)

महाराजः — (आत्मगतम्) अरे पुत्रः पुत्र इति यत्राभवत् सर्वस्व-मेव मे विकसितम् यश्चासीद् सर्वविधानामेव ममाशा लहरीणां, सुनिश्चितस्य विश्वासस्य च रम्यतमं साक्षात् संगमस्थलं स एवायमद्य विषकुम्भवत् भवेत् क्वचिद् निगूढं निक्षेप्यः । कथं नामाहं सम्प्रत्यस्याधमस्य मुखमप्यवलोकयितुं शक्नोमि । सर्वथैव हतोऽस्मि । समुज्ज्वला सर्वाऽप्यस्मदीया-कुलकीर्तिः कृतानेन हत-केन सर्वथा मलीमसी । एतादृशात्तु पुत्रादपुत्र एव

वरमासम् । घोरेऽस्मिन् कलिकाले न वा विश्वसनीयः कश्चित् सिद्धो वा महात्मा "यतिवरोऽसौ कश्चन तव पुत्रो भवितेति" निगदता गुरुणा गोरक्षनाथेनापि भृशं वञ्चितोऽस्मि । नावगतं तेन यदिदानीन्तना यतय एव भवन्ति नितरां प्रणष्टगतयः । नैतादृशः कश्चन क्षमां दयादृष्टिम्वार्हति । आदण्डितेऽस्मिन् प्रजाजनेष्वप्यना-चारोऽयं वर्वेत सत्वरम् इति सत्यमुक्तं नवीनया—

प्रभावः पापवृत्तीनां धर्माचारस्य नाशकः
दोषाः सद्यः प्रवर्धन्ते दण्ड्यो यत्र न दण्ड्यते ॥१४॥

(परिचारिका प्रविश्य)

परिचारिका — देव । महादेवी अक्षरा सविनयं निवेदयति आर्यचरणैरद्य दुर्ग-प्रासादेष्वपि दर्शनमवश्यं देयम् ।

महाराजः — दत्तं दर्शनम्, लब्धं च देव्यास्ते भ्रातृगृहे निवसतः पूर्णस्य पूर्णं फलम् । गच्छ कथय तां ते देवीमक्षरां यन्महाराजः पातकिनस्तेऽस्य पुत्रस्य नामापि श्रोतुं नेच्छति । अविलम्बेनैव दुष्टोऽयमिदानीम् ।

परिचारिका — (आक्षिप्य) स्वामिन्-युगेभ्योऽद्य जातेऽस्मिन् निशाऽवसानेऽपि संभावयसि पुनः कतमामेनामाभिनवां घोरतरां तमस्विनीम् ।

महाराजः — अपसर सत्वरमितो मौनम् ।

परिचारिका — (सम्भ्रान्ता-आत्मगतम्) हा हता महादेवी अक्षरा । अकरणीयमपि शंके कृतमद्या-नार्यया नवीनया किञ्चित्परमम् अनार्यमाचरणम् । सम्भावितमसम्भावितं किं किं वा न हन्ताचर्यतां सपत्न्या (मौनम् प्रतिनिवर्तते)

(मध्ये मार्गम्-परिचारिकाऽनुनीतः प्रविशति वृद्धः पुरोहितः)

पुरोहितः — (स्वगतम्) अहो कथमिव न स्त्रियः स्त्रीणां भवन्ति दुःखकारणानि स्त्री नाम सर्वथाऽपकीर्तनीया काचन-विगर्हणीया स्वार्थस्थली। क्वचित्-स्नेहजनन्यपीयमेव स्नेहकर्तरिका सर्वसंघर्षमूलंच (सचिन्तम्) विचिन्तयन्नपि नावगच्छामि किन्तु कथम् परिष्क्रियता महाराजस्येदम् बुद्धि-वैपरीत्यम् ?

को नाम जानाति पिता स्वपुत्रं पुत्रः पितुर्वा हृदयं कदाचित्
स्नेहो जनन्याः परमस्य गात्रे प्रतिक्षणं वृद्धिमिहातनोति ॥१५॥

(महाराजमुपेत्य पुरोहितः)— देव अतिरभसं कृतानि कर्माणि पुनर्भवन्त्यामरणं शल्य-तुल्यानि। क्षम्यतामिदं मे स्पष्टतमं निवेदनम्-कुमारेण-पूर्णेन समो नापरः कश्चन दिव्यः कुमारः पुनरापतेद् दृष्टिपथं लोकानाम्।

महाराजः — अलमधुना तत्तत्कथनेन वा विकत्थेनन। नायं नीचोऽधुना क्षणमप्यस्मत् प्रासादेपु क्वचित् स्थास्यति। (अत्रान्तर एवात्र प्रविशति परमविह्वला महादेवी अक्षरा।)

अक्षरा — आर्य (इत्यर्धोक्ते)

महाराजः — अनाहूता अननुज्ञाता च कथमिह—

अक्षरा — महाराज अनाहूता अननुज्ञाता च यद्यहमिहास्मि समुपस्थिता क्षन्तव्योऽयं मे अपराधः। तथापि सानुनयमिदमापृच्छ्यते कथंविधः स्वामि – हृदयेऽद्य

कुमारम्पूर्णम्प्रति समुद्गतोऽयमकारणमाक्रोशो वा रोपः ।

महाराजः — अक्षरे यच्छ्रवणेनापि महापातकम्प्ररोहति तस्याकथनमेव भवेत् हिताय सर्वेषाम् । सुधाकर – स्थाने समुत्पादितवत्यसि त्वं कंचन धूमकेतुमेव सर्वारिष्ट जनकम् ।

अक्षरा — नाथ क्षमस्व, सदयं चैष सम्प्रेक्ष्यः प्रियस्तेऽयं बालः

तव किमु नहि हृद्या मत्प्रसूति-र्वतैषा
भवति न क्रिमुवाऽयं मे सुतः–ते सुतोऽपि ।
उषसि यदि विभाति द्योतमानोऽरुणोऽयम्
दिनकर-जनितः किं नैष नित्यं विभाति ॥१६॥

महाराजः — अक्षरे, नेदृशं किन्तु किञ्चन सौभाग्यं विधिनाऽस्ते लिखितं मदीये मन्दभाग्ये—

त्रायते नरकाद्यस्मात् पुत्रोऽसौ परिकीर्त्यते
पातयन् निरये घोरे कथम्पुत्रत्वमर्हति ॥१७॥

अपसर तत् साम्प्रतमितः सत्वरम् । स्वयं वाहं त्वामितः कारयिष्यामि वहिर्भूतम् ।

अक्षरा — आर्यपुत्र, क्षणमपि नाहमत्र स्थास्यामि । रक्ष्यः किन्तु सदैव सदयमेवायं कुमारः ।

महाराजः — कथं न लज्जसे कुमारः कुमार इति मुहुर्मुहुः सम्बोधयन्त्येनमनाचारिणम् ।

अक्षरा — (सभयम्, स्वगतम्) हे प्रभो, अनाचारिणम्–अनाचारिणमिति असकृत–आक्षिपता महाराजेन गुरुजनै–

रण्याद्द्तस्य कुमारस्याचरणे किमिदमसंगत - मद्य मुहुर्मुहुः संकेत्यते इति विचिन्त्य भवामि भृशमाकुला (प्रकाशम्) नाथ, किमद्य किञ्चिदनार्य माचरितं कुमारेण ।

गोरक्षनाथस्य गुरोः प्रसादात् प्राप्ते सुतेऽस्मिन् विनते विशुद्धे
पूर्णे मदीयस्तन-दुग्ध-पुष्टे किमद्य निन्द्यं बत चिन्त्यमात्तम् ॥१८॥

महाराजः — भवत्वयं त्वत्स्तनदुग्ध-पुष्टः परं नवीना-प्रणयी ।

अक्षरा — (इत्यर्वोक्ते) हा हतास्मि । महाराज अलमविकेन साम्प्रतमत्र भवतोऽनेन पूर्णस्य चारित्र्य-हननेन—

दूरे कथं चिद्यदि कार्य एष कामं क्वचिद्दूरतरम् प्रहेयः
कलंकनीयं नहि किन्तु वृत्तं लोके परस्मिन्नपि घातकं यत् ॥१९॥

महाराजः — न केवलं दूरतरे प्रदेशे लोकेदविष्ठेऽपि स यातुमर्हः
पापात्मनां न क्षमते हि वोढुं भारं क्षिति-र्यत् क्वचि-
दत्र कश्चित् ॥२०॥

(इत्याकर्ण्य मूर्छति अक्षरा)

(इति पूर्णानन्दे तृतीयोऽङ्कः)



अथ पूर्णानन्दे चतुर्थोऽङ्कः

(१)

(प्रदोपकाले नरेश्वरेण स्वदेशान्निष्कासितं कुमारमादाय नयपालं गच्छन्तौ शीतलकोट सैनिकौ परस्परं विमृशतः)

राजसिंहः — हरिसिंह, नगराद् सकुशलं वयमत्र सम्प्राप्ता महतीयं कृपा भगवतो भूतनाथस्य। किञ्चिदत्र विश्रम्य पुनरारप्स्यते यात्रेयं रात्रावेवास्माभिः प्रच्छन्नैः।

हरीसिंहः — वयस्य, दूरमितः किन्त्वस्माभिर्गन्तव्यम्। अपरिचितौ चावां वर्तावह स्थलस्यास्य तैस्तैरुच्चावचैर्भार्गैः।

राजसिंहः — अस्तु तिष्ठतु भवानत्र कुमारेण सह यावदहं कस्माच्चन पथिकात् सर्वथा सरलां सरणीमवगत्य पुनरावर्ते (अस्मिन्नेवावसरे प्रविशत्यत्र परतो गुरोर्गोरक्षनाथस्य शिष्य मण्डली, गुरोरादेशेन प्रकल्पते चैपासनादि-प्रबन्धं रात्रिविश्रामाय)

गोरक्षनाथः — किं भो नरहरे। शीतलात् काश्मीर-प्रदेशादिहागतेभ्योऽस्मभ्यं यद्यपि नास्तेऽत्र किमप्याकर्षकं विमोहकं वा स्थलम्, अत्येति किन्तु सन्ध्याकालः। कुतश्चन जलप्रवृत्तिमुपलभ्य विधीयतामत्रैव रात्रि-विश्रामः।

नरहरिः — पूज्यवराः, कुतः किन्त्विह भवेत् किमपि भिक्षान्नमथोवा समुपलब्धम्।

गोरक्षनाथः — भगवतोऽनुग्रहेण तदपि भवेदेव कुतश्चन स्वयमुप-

लब्धम् । न चेह चिरं स्थेयमस्माभिः । प्रातरेव भवि-
ष्यामो वयमित इरावती-तटनाश्रिताः ।

नरहरिः — (स्वगतम्) यद्यपि नेदं स्थलमावासोचितम् परं सर्व-
सिद्धि-सम्पन्नाय गुरुवराय किं किं न भवेत् सर्वत्र
समुपलब्धम्, अस्तु आनयामि जलम् (समुपसृत्य यावदियं
जीर्णां वापीमेकामासाद्य जलेनपूरयति स्वकमण्डलुम् तावदेव राजसिंहोऽकस्मात् चरणावस्य संस्पृश्य पृष्ठतयेनं तत्प्रदेशादितस्ततो गमीनां नागीणां
कांचन सरलतमां सरणीम् । नरहरिश्च तं सहैवादाय
प्रतिनिवर्तते गुरुचरणानां सेवायाम् । क्षणेऽस्मिन्
मन्दं मन्दम्प्रभोः पदे करुणस्वरेण किञ्चिन्निवेदयतो
कस्यचन जनस्य विह्वलं स्वरमाकर्ण्य गुरुवरेण
विस्म च नरहरेः सहाध्यायी ज्ञाननाथः—

गोरखनाथः — ज्ञाननाथ, प्रेक्ष्यताम् परितः

रहोऽत्र कोऽयं करुणस्वरेण प्रभोः पदे प्रार्थयतेऽतिमंदम्
तमानये नेत्सविधे यतिष्ये हर्तुं व्यथामस्य न चेदमाव्या ॥१॥

(सद्य एव करुण—स्वरप्रवृत्तिमुपलभ्य ज्ञाननाथः सूचयति)

ज्ञाननाथः — गुरुचरणाः, शीतलकोट निवासिना सैनिकेनैकेन निगडितस्य दिव्याकृते रेकस्य वृषस्यायमासीत् करुण-
स्वरः । नायं किन्त्वधुना गृह्णते मदीयं कंचनानुनयं
वा विनयम् तिष्ठति च सर्वथा मौनम् । (वृत्तमेनमाकर्ण्य नयनीतो राजसिंहो यावत्वरितमितोऽपक्रमितुम्
इच्छते तावदेव गुरुवरेण अरे, अयमपि प्रतीयते
तस्य सैनिकस्यैव कश्चन सहचरः (इति स्पष्टमाघोष्य)

निरुद्धो राजसिंहः प्रकाशयत्यखिलं रहस्यमेकान्ते गुरु-चरणानां सेवायाम् । रहस्यमेनमखिलमाकर्ण्य तत आदिश्यते गुरुवरेण)

गोरक्षनाथः — राजसिंह, पलायन-विचारम् परिहाय, उत्सृज्य च सर्वविधां निर्मूलामाशङ्कामथ भयम्, साम्प्रतमानय तमपरमपि ते सहचरं सैनिकं निगडितेन तेन युवकेन सह मत्सविधे सत्वरम् ।

राजसिंहः — (सभयं सोत्कम्पं च) नाथ, राजदण्डेन दण्डितैः क्व लभ्यते पुनः किंचन शरणमस्माभिः ?

ज्ञाननाथः — (आक्षिप्य) अरे न वेत्सि किमखिलेऽपि भूमण्डले सर्वैरेव जनेश्वरै-र्जनैश्च शिरसा धार्यमाणं गुरुचरणानामद्वितीयं महाप्रभावम् आगच्छ, निगडितं तं तरुणमखिल-बंधन-विमुक्तं विधाय सद्य एव समानयावस्तं गुरुचरणानां सेवायाम् । (कम्पमानः सैनिको गुरुचरणौ संस्पृशन् तिष्ठति पुनस्तत्रैव सर्वथा-निश्चलः)

गोरक्षनाथः — अलं भयेन स्थीयतां निर्भयम्-अखिलैरेव युष्माभिर-स्माकम्-अस्यां मण्डल्याम् । पश्चात्तापेन प्रतप्ते महाराजे शैलेन्द्रे समधिगच्छति नैर्मल्यमन्तः करणे, प्रशान्ते च प्रजाजनानामाक्रोशेऽथ वर्तमाने रोषे स्वयमहं वस्तत्र नीत्वा यथास्थानं स्थापयिष्यामि ।

(गुरुणैवमाश्वासितो राजसिंहो हरिसिंहमुपेत्य विधाय च बन्धनमुक्तं कुमारम् समुपस्थापयति तं गुरोः सम्मुखे । पूर्णानन्दश्च साष्टांगपातम्-प्रणम्य निवेद-यति सविनयम्)

पूर्णानन्दः — हे अशरणशरण, महामहिम सद्गुरो,

आज्ञाभङ्गं कथमपि पितु-र्नैव कुर्यां यथाऽहम्
नह्यादेशः क्वचन भवतश्चावहेल्यो यथाऽस्ताम् ।
तादृक् कश्चित् सुकृतजनको दर्शनीयः सुमार्गः
लक्ष्यं किञ्चिद् ध्रुवमिहगुरो वेद्मि नाहं हि धर्म्यम् ॥२॥

गोरक्षनाथः — वत्स जीव शरदांशतम्, आर्यजनोचितया तवानया मनोवृत्या जातोऽहम् परमम् प्रीतः । पालय साम्प्रतं ममादेशं विना कांचन राजभीतिं वा धर्मभीतिम् । नियतात्मनैनमादेशमनुसरतः ते पितरौ, प्रजाजना अथ ते विमाता नवीनाऽपि वर्तमानै निखिलैरेव दोषै-दुःखैश्च सुतरां विमुक्ता । त्वं चावाप्स्यसि स्वतएव ते सर्वविधस्याभ्युदयस्य सर्वानन्दपूर्णमिह विकासाव-सरम् ।

(एवं समाश्वस्तः पूर्णः पुनर्गुरु-चरणावभिवाद्य तेनै-व सह स्वयात्रां कुर्वन्समागच्छत्यानन्दाश्रमम् । तत्रत्यां दैनिकीं चर्यां चानुपालयन्नचिरेणैव विलक्षणेन स्वबुद्धि वैभवेन, सौहार्द-पूर्णेन व्यवहारेण च सर्वेषामेव सहाध्यायिनां चेतास्यनुहरद् भवति तेषां सर्वमान्यः स्वाभाविको मुख्याधिष्ठाता । यत्र चैकस्मिन्-हृद्ये शिशिर-मध्यान्हे पूर्णानन्देन सह स्वतन्त्रं विहरन्तः तत्तदामोद-प्रमोद मग्नाः ते सर्वे दृश्यन्ते स्वतन्त्रं विहरन्तः)

प्रेमनाथः — ज्ञाननाथ । नूनं परमाल्हादपूर्णोऽयमद्यतनो मध्यान्ह-कालः । प्रवात-प्रकम्पित-शरीरेऽस्मिन् शिशिरे प्रस-रति सर्वतः परिपाण्डुरेऽस्मिन् खलुहृद्ये मधुरांतये किं किं नाम सुखं नानुभूयतां सर्वैरेव प्राणिभिः ।

ज्ञाननाथ: — अत एव तु पश्य—

वाला: खेलन मंरता वहुविधं कोलाहलं कुर्वते
रात्री कासविमर्दिता: प्रवयस: सुस्था: सुखं शेरते।
गावो लोचनमीलितात्मरतय: कण्डूयमाना सुखम्
आकाशे च वियच्चरै: प्रमुदितैश्चंक्रम्यते सर्वत: ॥३॥

विद्यानन्द: — वयस्य ! अद्यावकाश इति सर्वं जगत् स्वयमेव मनोहरं प्रत्येष्यति।

कर्मानन्द: — अरे अवकाश इति किं कारणम्। कस्मिन् दिनेऽस्मिन्नानन्दाश्रमे नानुभूयते नवं नवं सुखमस्माभि:।

सत्यानन्द: — विशेषतश्च समागतेऽत्रास्मिन् प्रतिक्षणमप्रसन्ने पूर्णानन्दे किं किं नानुदिनमिह भवति स्वत: सुविकसितम्।

विजयानन्द: — अरे मूढा:। किं भवतां भग्ने भागधेयेऽपि विधात्रा लिखिताऽस्ति काचन सौख्यानुभूति:—

लोके यै विजया न सर्वसुखदा संसेव्यते सिद्धिदा
यस्यां चित्तगति: स्वयं विलसिता पारं परं पश्यति।
दृष्टं किं सुविचिन्तितं च किमहो किम्वानुभूतं नु तै:
नित्यं संसृति चक्रदीर्ण–हृदयैश्चिन्तापरै–र्मानवै: ॥४॥

अथानुदिनं सौख्यानुभूतिश्चेद्–भवतामभिमता तर्हि–
(गायति)

पेया पेया नित्यं पेया आपूरम् प्रिय, विजया पेया
विजयानन्दे चित्ते मग्ने हर हर गीति–र्नित्यं गेया ॥५॥

आयुर्गच्छति धावति काल: कामं वत नृत्यति उत्ताल:
गुप्यति मन्नो मधुर रसाल: मौनस्तिष्ठसि किं रे वाल ॥६॥

किमपि न विरसं धात्रा विहितं भस्मन्यपि सौन्दर्यम् पिहितम्
अमृतं वत जीर्णघटे निहितं पश्यसि किं नहि रे संनिहितम् ॥७॥

कर्मानन्दः — हतमते। किमेतत् प्रजल्पसि प्रचारयसि वा निरर्गलम्।

विजयानन्दः — किं किं यत्सत्यं यच्चापेक्षितं तदेव, नाहं वसामि चिन्तातुरः न वा भवामि सुहृदां परिहासेनापि विकलोऽथवा पदे पदे संशयग्रस्तः।

मदीये साम्राज्ये वहति सततं निर्मलगतिः
सुधाधारा धारा, भवति च मनः शान्तिनिरतम्।
शिवाच्चान्यत्तत्त्वं किमपि नहि वीक्षे त्रिभुवने
मतिः भिन्ना मे वा तव तदिति वेद्यं हि रसिकैः ॥८॥

(पूर्णानन्दः प्रविशति—तमवलोक्य)

अहो पूर्णः। स्वागतं महाभाग! स्वागतं सर्वथा समये समुपस्थितोऽसि।

प्रपूर्यते प्रार्थिजनाभिलाषा नित्यं गत्यां जगदीश्वरेण।
तस्य स्मृतिः स्याद् विकलैव लोके सहायकश्चेन्न भवेत्स काले ॥९॥

पूर्णानन्दः — (विहसन्) मत्तमूर्ते कुत इयं आपत् कीदृशं वा साहाय्यमपेक्ष्यते।

विजयानन्दः — महानुभाव। एते एते नीरसा, निर्दयाश्च महाराक्षसा निष्फलं अखिलमपि मन्मस्तिष्कस्नेहं पिबन्तो नाद्यापि प्रजल्पनाद्......विरमन्ते। यदि सम्प्रति किंचन स्निग्धं रसमयं वा तत्त्वं नोपलभ्येत तर्हि......(इत्यर्धोक्ते)

पूर्णानन्दः — तर्हि जगति भवेत् महाप्रलयः।

विजयानन्दः — अथकिम् । जानात्येव भवान् ।
देवाः सर्वेऽपि तृप्यन्ति प्रसन्ने जठरानले
अतृप्ते च तथा तस्मिन् सृष्टिरेव विषीदति ॥१०॥

पूर्णानन्दः — शान्तं पापम् विद्यमाने विजयानन्दे विषादस्य नामैव कथं कुतश्चिच्छक्यते श्रोतुम् । आगच्छ यथाकथश्चित्पयसापूरयामास्ते महाकुण्डम् ।

(सर्वे स्व स्व कुटीरम्प्रविशन्ति)

(३)

अथापरस्मिन् दिने महादेव्या अक्षरया प्रेषितः कञ्चुकी वासुदेवो राजकुमारस्य निर्वासनान्तरं राजधान्यां घटितमखिलं तत्तद्वृत्तं गुरुचरणानां सेवायां निवेद्याज्ञातवासस्य राजकुमारस्य दुर्दशाक्रान्तस्य शीतलकोटस्य च रक्षणाय गुरोः सविशेषमाश्रयमभियाचते । गुरुणा पूर्णमाश्वास्तञ्च अक्षरायाः सेवायाम् पुनरागत्य तां कुरुते समाश्वस्तां कुमारस्यावश्यमभाविने पुनरागमनाय)

(ततएकान्ते गुरुवरः पूर्णानन्दं समाहूय आर्येण वासुदेवेनावेदितं तन्निर्वासनानन्तरं शीतलकोट-घटितं सर्व वृत्तजातम् संश्राव्य तमचिरेणैव पित्रोः परिचर्यायै विचलितायाः राज्यव्यवस्थायाश्च पुनः सुसंस्थापनाय शीतलकोटमभिगन्तुमादिशति)

गुरुवरः — वत्स पूर्णानन्द, यथाऽहमिदानीमेव संसूचितोऽस्मि त्वज्जननीप्रेषितेन शीतलकोटादागतेन कञ्चुकीवरेणार्येण वासुदेवेन—

प्रतीक्ष्यमाणे हि चिरात् प्रजाभिः रुद्धे ह्यकस्मात् तव यौवराज्ये

भृशं विलापेन युताऽश्रराभूत् रोषो जनानामभवच्च दीप्तः ॥११॥
हृताधिकारो विहितो नृपस्तैः-स्तिरस्कृतास्तैरथ ते विमाता
राज्यव्यवस्था निखिला विशीर्णा जाता जनाः कष्टशतैश्च पूर्णाः ॥१२॥

प्रतिक्षणमधिकाधिकं विशृंखला भवन्ती राज्यपरिस्थितिर्भवेत् सर्वथैव अतविक्षता नहि चेत् त्वं सद्य एव प्रतिनिवर्तसे तत्रसाम्प्रतम ।

पूर्णानन्दः — वंद्यचरणाः, प्रतीयते पुनरद्य निर्दयमाक्रान्तोऽस्म्यहं केनापि क्रूरतमेन ग्रहयोगस्य चक्रेण। अन्यथा प्रतिक्षणमानन्द-सागर-कल्लोलैः कल्लोलिते, परिमुक्त-वातावरणे विहरन्तं मां दयामयाः गुरवः स्वयं परम पङ्किले तस्मिन् राजगृहाणां वातावरणे परिक्षेप्तुं नाभविष्यन् समुद्यताः। स्त्रीणां दर्शन मात्रेण चाहं भवामि भृशं विक्षिप्तो किं कर्तव्य-विमूढः ।

गोरक्षनाथः — वत्स, कर्मयोगाश्रिते संन्यस्तधर्मे दीक्षितस्य ते मुखात् नाहमेनान् विकलान् विचारान् श्रोतुमस्मिसन्नद्धः स्त्रियो हि नूनं भवन्ति प्रकृत्याऽस्मिन्नाश्रमे परम-चंचलाः, परस्परं दुःख गतानांमुद् भाविन्यः सर्वविधानां सम्बन्धानामुच्छेदिन्यः, प्रपोषिण्यो बांधव जन-स्नेहानां परमतीक्ष्णाः कर्तरिकाश्च । जननी रूपेण किन्तु-सर्वेषाम परिपोषिण्यस्ताः सन्ति सदैव सर्वेषमभिनन्द-नीयाः समादरणीयाश्च । किमप्यद् भवतु न वा भवतु ते कर्तव्यं शीतलकोट परं संरक्ष्या एव त्वया तत्र परम दुःखिन्या, दयनीय दशाया अक्षराया मातुस्ते प्राणाः । परिभ्रान्त-मतिना जनकेनाथ ते चेत्त्वं निराकृतोऽसि नात्र किमप्याश्चर्यम ।

कस्तत्त्वतो वेत्ति पिता स्वपुत्रम् पुत्रः पितु र्वा हृदयं कदाचित्
स्नेहो जनन्याः परमस्य गात्रे कं कं विकासं लभते न नित्यम् ॥ ॥

स्त्रियोऽपि सन्त्येव चास्माभिः सन्ततं सुरक्ष्या अथ माननीयाः—

स्त्रीणां हि योनिं नहि गर्हणीयां घृणास्पदां वाऽहमिहाऽमृणामि
क्षेत्रं हि ताः सन्ति विलक्षणानाम् सन्तानरत्न-द्युति-दीपितानाम् ॥१४॥

तद् विस्मृत्य ते तिरस्कारं विमातुर्वा तं विचित्रं व्यवहारम् प्रीतेन मनसा गच्छ न केवलं शीतल-कोटमपितु मध्ये मार्गम्प्रविश्य राज्ञ्याः सुन्दर्या अद्वितीयायां केवलं महिलाभिरेव प्रशासितायां माहिष्मत्यां राजधान्यां तत्रापि त्वयाऽनुशासनीया परमविचित्रा सा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा देवी समुद्धार्याश्च ततः कारागारे निक्षिप्ताः शतशः परिव्राजकाः ।

(४)

(गुरोरादेशमनुसृत्य ज्ञाननाथेन सह मातृदर्शनाय शीतलकोटमभिगच्छन्, पूर्णानन्दो मध्येमार्गं महिष्याः सुन्दर्या राजधान्यां माहिष्मत्याम्प्रविश्य राजप्रासादानां द्वारि भिक्षां याचमानोऽवरुध्यते तत्रत्याभिः सशस्त्राभिः परिचारिकाभिः)

भीमनयना — अरे ओ रक्तदन्तिके, सत्वरमपसारय दुर्गान्तरमाविशन्तमेनं धृष्टं कंचन संन्यासिनम् ।

(रक्तदन्त्या निर्भर्त्सितः पूर्णानन्दः तत्रैवोपविश्य)

पूर्णानन्दः — देवि, अनुपलब्धे भिक्षान्ने न वयमेकस्मात् स्थानादपरं स्थानम्परिव्रजामः । लब्धे च भिक्षान्ने नाहमिहैकमपि क्षणं तिष्ठेयम् ।

भीमनयना — रक्तदन्तिके, अलंबहूनालापेन, धृष्टोऽयम् न चेदित

उत्तिष्ठति, स्वामिन्या आदेशेन नयैनमपि नियते खल्वे-तेषामेवावासे।

पूर्णानन्द — तत्रभवत्या राज्याः दर्शनं विना नाहमन्यत्र क्वचिद् गमिष्यामि—(इति निगदन् यतते दुर्गान्तः-प्रवेशाय। रक्तदन्तिका च वेगेनाग्रे सरन्ती निवेदयति राज्याः सुन्दर्याः सेवायाम्)

रक्तदन्तिका — (सहसाऽग्रे सरन्ती) आर्यवर्ये।

तारुण्य-पूर्णोऽनुपमस्वतेजः कान्त्या प्रदीप्तोऽथ भयेन हीनः
आदेशमुल्लंघ्य विशन् हि दुर्गे रुद्धोऽप्यरुद्धो वलवद्दृढांगः ॥१५॥

कोऽप्येष धृष्टो यतिवेषधारी हठेन भिक्षामिह याचमानः
निवार्यमाणोऽपि वचो न शृण्वन् वलेन वः सम्मुखमेत्यभीतः ॥१६॥

राज्ञी — (सरोषम्) वलेनेति कथयन्ती कथं न लज्जसे। सर्वाभिरेव युष्माभिः सम्भूय निगृह्यतामयं धृष्टः समानीयतां च मत्समक्षं सद्यः (पुनः स्ववातायनात् स्वसम्मुखमेनमायान्तमवलोक्य-अपूर्वेणास्य सौन्दर्येण निर्भीकया, गम्भीरया चास्य स्वतन्त्रया गत्याऽऽकृष्ट-मानसा स्वगतं चिन्तयति) अरे,

कोऽसौ मनोज्ञोऽभिनवो मनोजो भवेऽवतीर्णो हि विरक्त-वेषे
नेत्रे मदीये तरसाऽपकर्षन् अन्तस्तले मे विशति प्रमादात् ॥१७॥

(समक्षमागते-प्रकाशम्) किं न श्रुता भवता माहि-ष्मत्याम्प्रवर्तमाना-अस्माकं ते ते राजकीया आदेशाः। नह्यत्र स्त्रीणां जन्मजाताः शत्रवः केवलम्परान्नभक्षण मात्रोपजीविनः केचन निष्कर्मण्या मुण्डिनो दण्डिनो वा प्रवेशं लभन्ते।

पूर्णानन्दः — क्षमस्व देवि क्षमस्व, अनभ्यस्ता चेत् स्मो वयमीदृशानां विचित्राणा–मादेशानाम् । न चैतादृशः कश्चनादेशो विद्यतेऽखिलेऽपि–जम्बूद्वीपे क्वचित् प्रवर्तमानः ।

भीमनयना — (सहसाऽग्रे समुपसृत्य) मुण्डित् यदि यूय–मनभ्यस्ता खल्वीदृशानामादेशानां तर्हि वयमपि न वर्तामहेऽभ्यस्ता यत् तत् श्रोतुं यस्मात् कस्माच्चन मुण्डितः । (इति तं बलान्निगृह्यान्यतो नेतुमारभते)

(राज्ञी सुन्दरी चाथ तं तां तथा निर्भीकमनुसरन्तमवलोक्य) पुनरयम–पराण्हे अस्माकं सम्मुखमानेय इत्यादिश्य परिक्लान्तेव प्रविशति स्वभवनाभ्यन्तरम्)

अपराण्हे परिचारिकाभिः पुनः स्वसमक्षमानीतं तं निर्निमेषमवलोकयन्ती चिन्तयत्यात्मगतम् सुन्दरी)

सुन्दरी —

कस्यापि चित्ते न विधिः कदाचित्–आरोपयेद् रागविपाकशल्यम्
शक्यं विरोप्तुं न हि यत् कथंचित् आमूलमन्तर्गतमन्तराले ॥१८॥

अस्तु पश्यामि तावत् कथमेषोऽनुवर्तते मदीयामेना–म्प्रवृत्तिम् (प्रकाशम्) दण्डित्, कुतः समुद्गतोऽयं भवति वैराग्येणरागः । कथं वा पित्रोः शुश्रूषा–मवगणय्य—

इदं किलाव्याजमनोहरम् वपु–र्व्यर्थं विशीर्णं कुरुषे वनेषु
रसं हि कस्याश्चन वा तरुण्याः प्रशोष्य किं निष्करुणोऽसि जातः ॥१९॥

पूर्णानन्दः — (स्वगतम्) अहो अद्यापि स एव शीतलकोट–वर्ती प्राक्तनो भूमिकावतारः । प्रथमत एवावरोचयामि

तावदेनम् । (प्रकाशम्) आर्यवर्ये—

समर्पितं यैरखिलं स्वचेतः पुरैव कस्मैचन चिन्मयाय
स्थिरास्थिति काऽप्यथ नैवयेषां लक्ष्यं च येषां नियतं न किञ्चित ।
रागेणरिक्ता हृदयेन हीनाः स्नेहम्-प्रणोष्यैव च येभ्रमन्ति
का नाम मूढा हि कदापि तेभ्यः समर्पयेत् चित्तमहो स्वकीयम् ॥२०॥

सुन्दरी — (आक्षिप्य) नायमास्ते किन्तु कश्चन सुनियतः प्रसक्ति-प्रकारः ।

रागेऽनुरागे न मनः कदाचित् क्षणम्परेषां शृणुतेहि किञ्चित
एकं हि तत्पश्यति विश्वचित्रे ध्याने च तस्यैव तदस्ति मग्नम् ॥२१॥

(अत्रान्तर एव तत्र काचनैका परिचारिका प्रविश्य निवेदयति)

स्वामिनि — ज्ञाननाथ इति कश्चनापरः परिव्राजकः प्रतीक्षतेऽस्मै (अंगुल्या पूर्ण निदिशन्ती) स्वसहचराय दुर्गद्वारि च मुहुर्मुहुर्नु रुणद्धि सद्य एवैनम्परि द्रष्टुम ।

पूर्णानन्दः — (आकर्ण्य) देवि, दूरमितोऽस्माभिर्गन्तव्यम् । कृपया-ऽनुजानीहि माम् वहिर्गमनाय ।

सुन्दरी — (अकस्मादापतितेनानेन विघ्नेन विक्षुब्धा परिचारिकां संकेतेन ततोऽपसारयन्ती पूर्णानन्द वन्दीकृतेन त्वया वन्दीकृताहं न क्षमेऽधुना भवन्तमनुमन्तुं क्वचिदन्यत्र गन्तुम् । नावहेल्या च भवताऽपि निर्दयमेत्र-मस्मदी-याऽनुरक्तिः ।

पूर्णानन्दः — देवि सुसमाहितयाऽववेयमेतन्मे निवेदनम् ।

रागेण मोहेन च पीडितानां गतिं व जाने वत कीदृशीयम्

पश्यामि ते किन्तु दशां विचित्राम् कर्तव्यमूढश्च भवामि भूयः ॥२२॥

नहि किन्तु नृपालाः प्राकृत जनवदाश्रयन्ते किंचन मनोदैन्यम् । स्मरणीयं चैतत् प्रतिक्षणमेवाखिलाभिः प्रशासिकाभि र्यत् स्वशासनं विना न भवति परशासनं सुकरम् । गुरोर्गोरक्षनाथस्यादेशं विना न चावामत्र स्थास्यावः क्षणमेकम् । (इति निगदन् चेष्टते वहिर्यातुम्)

सुन्दरी — साधो, साधुनापि नैवमसाधु साम्प्रतमाचरणीयम् । गते त्वयि न मदीयाः प्राणा अपि चिरमत्र तिष्ठेयुः सुरक्षिताः ।

(परमविचित्रयाऽस्याऽनया चेष्टया भृशमाकुलः)

पूर्णानन्दः — स्वगुरुप्रवरं गोरक्षनाथम् संस्मरन्-प्रार्थयते—

कृपालो हे गुरो सद्यो रक्ष मां धर्म-संकटात्
सह्या नैषा मया घोरा माया ते साम्प्रतं चिरम् ॥२३॥

(प्रार्थनाऽनुक्षणमेव तत्राविर्भूतः श्रीगोरक्षनाथः— तिष्ठ निःशंकमिति पूर्णानन्दं समाश्वासयन् प्रबोधयति सुन्दरीमेवम्)

गोरक्षनाथः — कल्याणि महाराज्ञि, मंगलमये त्वदीये प्रशासने कीदृशोऽयं धर्मसंकटोऽनुभूयते संन्यासिनाऽनेन (सलज्जं चरणेऽवनतां तिष्ठन्तीं तामवलोक्य पुनरपिमादिष्टा गुरुप्रवरेण) सत्प्रशासिके नहि नरेश्वरा नरेश्वर्यो वा सहसैव समाश्रयन्ते प्राकृतजनवत् किमप्यात्मनो दैन्यम्, न च स्वशासनमितरा भवति परशासनं सुकरम् । (गुरुचरणरजः शिरसि धारयन्ती सलज्जमधोमुखी

सुन्दरी)— नाथनाथेश्वर सर्वमेतत् सत्यम् परम्—

योगे वियोगे हि मनः प्रवृत्ति र्नंहि स्वतन्त्रा वत जीविनां नः
न चापि दुर्दम्यमिदं कठोरै रुन्मृद्य मृद्वीं महिला–प्रवृत्तिम् ॥२४॥

गोरक्षनाथः — देवि, प्रवृत्तयोऽपि न भवन्ति किन्तु सर्वत्रैव यथा तथा प्रवर्तनीयाः

मृषा न कार्यं क्षणिके शरीरे वृथाऽवलिप्तं स्वमनोऽपि मोहात्
योज्यं ह्यवश्यं यदि चैतदास्नाम नियुंक्ष्व तत् प्रेमनिधौ हि कृष्णे ॥२५॥

सुन्दरी —

हे नाथ–मह्यं ह्यधुनैप एव, कृष्णस्तवायं खलु शिष्यवर्यः
नातः परः कोऽपि ममार्ति–हारी न वा परः कोऽपि ममास्ति पूज्यः ॥२६॥

गोरक्षनाथः — अस्तु एप एव चे ते प्रियतमः कृष्णस्तर्हि – अस्यैव कस्यांचन प्रियतमायायाम्प्रवृत्तौ—अस्य सहधर्मिणी (इत्यर्धोक्ते)

सुन्दरी — (सानन्दमुच्छ्वस्य अपवार्यं संजीवितास्मि गुरुणा ।

गोरक्षनाथः — भूत्वा समये समयेऽस्यापि साहचर्यमासादयन्ती भव सदैव सर्वानन्द सम्पन्ना । अथ—

समर्पितं मनो यस्मै त्वयैतद्—हे वराम्बरे
सोऽप्यर्पयेत्मनः स्वीयम्–हृद्येऽस्मिन्नध्वरे हि ते ॥२७॥

अहं चापि तथा तस्मिन् भवेयं वः सहायकः
राज्ञ्या सहाथ भूयास्त्वम् प्रसिद्धा कर्मयोगिनी ॥२८॥

एकस्मिन्नेव यन्मग्नं मनस्ते दिव्य सुन्दरि
आर्तानामार्ति नाशार्थं व्यापकं तद्–विधेहि ते ॥२९॥

आतुराणां च सेवायां सह पूर्णेन सन्ततम्

वसन्ती सुखिनी भूयाः पूर्णस्ते सेवको भवेत् ।।३०।।

(निशम्यैतत् स्तव्यां चिन्तनमग्नां च तामवलोक्य स्वकरस्पर्शेन तस्यामेकामपूर्वां नव - चेतनामाधाय तत्रैवान्तर्दधे सद्यः । सुन्दरी च साष्टांगपातम्प्रणम्य निवेदयति पूर्णाय)

सुन्दरी — शिष्याऽहं ते प्रणौमि त्वं धृष्टां मां नावमानये.
सेवायाः सदनं स्थाप्यम् स्थेयं चेह पुनस्त्वया ।।३१।।

पूर्णानन्दः —
कृता कृतार्था गुरुणाऽसि धन्या शिष्या प्रिया मे च सदा भवेस्त्वम्
नूनं च तस्मिन् सदने त्वदीये सेवा मदीया सुलभैव ते स्यात् ।।३२।।

इति मातृदर्शनानन्तरं सद्य एव पुनरागमनाय ताम्पूर्णमाश्वास्य तदाऽनुज्ञातः समारेभे स्वयात्राम-गतः ।

(इति पूर्णानन्दे चतुर्थोऽङ्कः)

अथ पूर्णानन्दे पञ्चमोऽङ्कः

(१)

(शीतलकोटमभिगच्छन् आत्मगतम् तत्तत्प्रश्नाभिभूतः पूर्णानन्दः)

पूर्णानन्दः — (स्वगतम्) मातृदर्शनाय नितान्तमुत्सुकोऽपि कथं नाम नृपाज्ञया निर्वासितोऽहम्-ऋते तदादेशम्-तत्र प्रवेष्टु-मर्हामि । यथा तथा तत्र प्रविश्याप्यथ कियत्कालम्

पुनः प्रच्छन्न एव तत्र तिष्ठेयम्–नैतत् किञ्चित् सुस्पष्टमुत्तरयति परिभ्रान्तेयं मे मतिः साम्प्रतम् (क्षण–मुपविश्य–सहसा च पुनः संस्मरन्निव विस्मृतामात्म शक्तिम्) अथवा गुरु कृपाविगत–तत्तत्–सिद्धिशक्तये मह्यम् नास्त्येतत् किञ्चिदसाध्यं साध्यम्। केषांचना साध्यानां रोगिणां रोगनिवारणपुरस्सरमात्मानम्प्र–ख्याप्य भवाम्यचिरेणैव कश्चन महान् सिद्धः। स्वप्नैश्च तैस्तैरथ स्थापयामि स्वसम्पर्कम् – सर्वैरेवादरणीयैः स्वजनैः।

(२)

(ब्राह्मे मुहूर्ते दृष्टेनैकेन शुभेन स्वप्नेन प्रबुद्धा नवीना महाराज्ञीमक्षराम्प्रबोध्य निवेदयति)

नवीना — मातः, प्रतिभात्यद्यास्माकं नैराश्यनिशायां संजातमा–त्यन्तिकमवसानम्। नाहं यद्यपि महाराजाय स्वयं किञ्चिन्निवेदयितुम्प्रभवामि परं सम्प्रत्येव दृष्टो मया महाराजो मदुत्संगाद् दिव्यं बालमेकमादाय त्वदुत्संगे तं निदधानः। त्वं च पुलकित नयनाभ्यामेनमालिङ्ग्य यावत् स्मरसि कुमारं पूर्णानन्दं तावदेव तत्र प्रादुर–भूत् परमतेजस्वी एकस्तरुणः संन्यासी महाराजस्य चरणौ संस्पृश्याभवच्चान्तर्हितः।

अक्षरा — नवीने, किमिदमसंभावितं श्रावयसि कुतो वाऽजीवनम् प्रतिकूलं मे दैवमद्य भवेत् सहसैवेत्यमनुकूलम्।

यद् भाति नित्यम्प्रतिकूलमेव स्वतोऽनुकूलं यदि तद् भवेन्नः
लोके विचित्रं किमपीह नैतद् सदैव भिन्नः समय–प्रवाहः ॥१॥

अक्षराः — भगवान् सहस्रदीधिति–र्विधत्तां ते सुस्वप्नम् सर्वथा

नुफलितम्। मदीये प्रशुष्कतमे स्तनमण्डलेऽप्यद्यानुभूयते कश्चन नवतमः पयसां संचारः।

(अत्रान्तर एवात्रप्रविशति देवार्चनाय कुसुमादि साम-ग्रीमादाय-शिवोद्यानपालो रामदत्तः)

रामदत्तः — महामान्ये महादेवि क्षन्तव्योऽहमद्याल्पीयसामेषां कुसुमानामानयनाय। गतेऽपराण्हे कुतश्चिदागतं परम-दिव्यमेकं संन्यासिनमनुसरद्भिर्जनैः तत्रत्यानि सर्वाण्येव पुष्पाणि समर्पितानि तस्य चरणेषु। महानय कश्चनसिद्ध इत्युद्घोपयद्भिश्चैभिः कैश्चन तत्रैवाधिगताऽपि पुनः स्वदर्शन्-शक्तिः खञ्जाश्च केचन तत्रैवा-रेभिरे कर्तुमस्य प्रदक्षिणां नृत्यन्तोऽथ गायन्तः।

अक्षरा — महाराजश्चेदाज्ञापयेत् आवाभ्यामप्यपनीयतामस्य शुभेन दर्शनेनावयोस्तास्ता बतावयोऽथ व्याधयः। महाराजः स्वयं-वाधिगच्छतु न राश्यग्रस्ते स्वजीवने कश्चनाभिनवं भव्याशा सञ्चारम्।

नवीना — भवत्यैव प्रस्तूयतामेष मांगलिकः प्रस्तावः पुरोहित प्रवरो वा भवेदत्रास्मान्वनोरथानाम्परिपूरकः। (प्रेष्यते प्रतिहारी पुरोहितस्यानयनाय)

(३)

(प्रासादेभ्यः समागतात् शिवोद्यानपालकात् रामदत्तात् अचिरेणैव महाराजस्य सकलत्रम् शिवोद्यानागमन प्रवृत्तिमुपलभ्य सम्भ्रान्तः पूर्णानन्दः भवति भृशं आत्मकर्तव्य-निर्धारणव्यग्रः)

पूर्णानन्दः — (स्वगतम्) अहो परमः पापीयानयम् भवेद् व्यत्ययः

समुदाचारस्य। सत्वरमुद्यानाद् वहिर्निष्क्रन्यैव पावयान्यात्मनं पूज्यानां खल्वेषां चरणरजसा (असंख्यैरनुयायिभिर्भक्तजनै रन्वितः पूर्णानन्दः यावत् महाराजस्य शिविकाम् मध्ये मार्गं निरुध्य यतते अभिवादयितुं पितृचरणेषु तावदेव महाराजः-शैलेन्द्रः)

शैलेन्द्रः — सिद्धशिरोमणे पापीयसो मे पापं परिवर्धयन् न विधेहि मां भूयसा महापातकिनमेवम् इति निगदन् चेष्टते तस्य चरण-स्पर्शाय (पूर्णानन्दश्च वेगेन जनन्याः अक्षरायाः विमातु र्नवीनायाश्च चरणौ संस्पृश्य कृताञ्जलि निवेदयति महाराजाय)

हे हे क्षमाशील नृपेन्द्रवर्य,
क्षम्योऽस्मि ते कोऽपि जनः प्रजायाः।
गोरक्षनाथस्य गुरोर्निदेशात्
समागतोऽहं तव दर्शनाय ॥२॥

नवीना — (ससम्भ्रममपवार्य निवेदयति महादेव्यै अक्षरायै) जननि एप एव स्वप्ने दृष्टः स दिव्यः संन्यासी एष एव च ते वत्सलः कुमारः पूर्णानन्दः।

अक्षरा — (सरभसम् पूर्णानन्दमवलोक्य मुहुर्मुहुस्तं परिचुम्बन्ती) वत्स सत्यं सत्यमद्य संजातं गुरोर्गोरक्षनाथस्य दयामयं तत् प्राक्तनमाश्वासनं। सम्प्रति परिहाय विरक्तानां वेषमेनं स्वतातचरणैः सह राजधान्यां प्रविश्य अनुरञ्जय वर्षेभ्यः प्रतीक्षमाणानां प्रजाजनानामुत्कण्ठितान्यन्तस्तलानि परिपूरय च महाराजस्य प्रतिजनमनः समुल्लासकस्य नागरिकस्य महामहोत्सवस्य चिरन्तनीमभिलापाम्।

पूर्णानन्दः — मात-र्नैष मे वेषो भवेत् क्षणायापि परिपंथी क्वचित्

केषांचित् तवादेशानाम्परिपालने । तातचरणैः सह नगरे प्रवेशश्च मया महारुद्राभिषेकस्य मे परिसमाप्तावेव विधीयेत–इति तदर्थमिदं शिवोद्यानमेवास्ते सर्वोत्तमं स्थलम् ।

महाराज-शैलेन्द्रः — अरे कीदृशोऽयं महारुद्राभिषेकः प्रतिभाति नाद्याप्यस्य तत्तदरिष्टजनकानां ग्रहचक्राणां तानि तानि चंक्रमणानि जातान्यस्मद् गृहप्रवेशानुकूलानि ?

पूर्णानन्दः — राजन, कालस्यानुकूलत्यम्प्रातिकूल्यं वा नभवत्यस्मन्मनोरथाधीनम् । परमिदानीं हि न केवलं मे अपितु अखिलस्यैव राजकुलस्य ग्रहा अवगाहन्ते कांचन सर्वश्रेष्ठां तां शुभां सरणीं येन ही नरेन्द्रवर्याः स्वस्थाश्चतुर्मासाभ्यन्तरमेव यौवराज्याधिकारिणं वैमात्रेयं मेऽनुजम्परिलालयन्तः स्थास्यन्ति प्रतिक्षणं तत्तल्लीलादर्शनमग्नमानसाः । अहं च महादेव्या अक्षरायास्तं तं धार्मिकं मनोरथम्परिपूरयन् रक्षिप्यामि ताम्प्रतिक्षणम्प्रसन्नाम् । (इति किंचित् स्पष्टमस्पष्टं च समुच्चारयन् "विकलामक्षरां च समयोऽयं रुद्राभिषेकस्य" प्रत्यहस्त्वया प्रातः सायमभिषेकसामग्री प्रेषणीयेति निवेद्य जातस्तत्रैवान्तर्हितस्ते च सर्वे तिष्ठन्ति तत्र मूका अथ चकिताः ।

(४)

(शिवोद्याने पूर्णानन्दं यत्तत् परिपृच्छन्ती महादेवी अक्षरा)

अक्षरा: — पूर्ण किमद्यापि न परिपूर्ण ते तदनुष्ठानम् । स्वबाललीलादर्शन वञ्चिता मां कियच्चिरमधुना नववधू–

मुखावलोकेन सौख्येनापि हीनमेव रक्षितुमीहसे । (अधोमुखं निरुत्तरं पूर्णमवलोक्य) कुमार, अलमधुना ते किलैभिस्तैस्तै र्व्यपदेशैः । वस्तुतस्तु नहि दृश्यते लेशतोऽपि त्वयि काचिदस्मद्-गृहप्रवेशाभिलाषा ।

पूर्णानन्दः — मातः, सत्यं चेत् श्रोतुमिच्छसि । आशैशवात् आश्रमेषु कान्तारेषु च वसतो मे मनः प्रवृत्ति र्न भवति क्षणायापि कदाचिद् गृहावासोन्मुखी ।

अक्षरा — यदाशंकितमासीत् तदेव कृतमद्य त्वया सुव्यक्तम् । परं जनन्यपि किं नापेक्षते स्वतनयात् स्वमनोरथानां कांचित् तां तानभिपूर्तिम् कान्तारेषु निवसतस्ते न जाने कदा कीदृशी भवेत्ते सुखदुःखादि परिणतिः । पुत्रमुखावलोकनमतिरिच्य जनन्यै न भवति जगति किञ्चिदपरम् परमाकर्षकम् । इयं चेत्ते मानसिकी प्रवृत्तिः—

स्वप्ना हि सर्वेऽपि ममाद्य शीर्णा लीनाश्च सर्वे मम हृत्तरंगाः
गृहेस्थितैश्चापि परा सहस्त्रैः किं योगिभिर्नाधिगतं स्वलक्ष्यम् ॥३॥

पूर्णानन्दः — मातः, सत्यं सर्वथा सत्यमेतत्ते कथनम् । सत्यापि किन्तु गृह जीवने सर्व सौख्यनिधाने, बन्धनमपि परमं नातः परं भवति जगति किमप्यपरम्—

आश्चर्यं यदि मानवै र्न सदनं सन्त्यज्यते सत्वरम्
स्वातन्त्र्यं निखिलं भवेदपहृतं नृणां हि यत्र स्वतः ।
यत्रस्था भवबन्धनेऽत्र पतिताः केचिन्न मुक्ता पुनः
संकीर्णञ्च समं न येन हि भवे किञ्चित् परं जीवनम् ॥४॥

अक्षरा — पूर्ण, गुरुकृपया परिपूर्णत्वमाप्तेन त्वयाऽन्विष्यतां नाम कामं विधुरयं ते लोकः परं मह्यमयम् ऋते त्वां

सदपि तद् भवेन्नितान्तमसत् । सति च त्वयि निखिलाऽपि मे जगती प्रासादानामेषामङ्गण एव विभर्ति सर्वाङ्गसम्पन्नताम् ।

सेव्या च किं नाहमहोऽस्मि वृद्धा सेव्यो न वात जनकोऽपि जीर्णः
प्रजाजना वा नहि सेवनीयाः नातः परः कोऽपि तवास्ति धर्मः ॥५॥

फलन्ति सर्वत्र गृहे वने वा कुमार कर्माणि शुभानि सद्यः
जहीहि तद् वालहठं तवैनम् आगच्छ यामो मुदिताः स्वगेहे ॥६॥

(जनन्याः स्नेह-विह्वलैरेभि-र्भावै-र्भृशं द्रुतान्त वृत्तिः पूर्णानन्देऽपि पुनश्चिन्तयति—)

स्थेयं मया नहि चिरं सदनेऽत्र नूनम्
पित्रो-र्भवेच्च सुलभाऽनुमति र्न गन्तुम् ।
द्वन्द्वात्मके हि घटके पतितो वतास्मिन्
कुर्वे नु किं न नियतं किमपीह वेद्मि ॥७॥

(विमृश्य) अथवा भूयोऽप्यस्याः समक्षं वैशद्येनावेद्य वस्तु स्थिति सुस्पष्टं-प्रबोधयाम्येनामेवम्—(प्रकाशम्) महादेवि, परिसमाप्तानि सम्प्रति खलु मेऽखिलान्येवावकाश दिनानि । गुरोराज्ञां विना नेतः परमहमिह स्थातुं शक्नोमि । न च मेऽन्तः प्रवृत्तिरेवाऽधुना प्रेरयति मामाश्रमावासात् क्षणमपि क्वचिदन्यत्र स्थातुमिति तत्रभवत्यापि न निरोध्योऽहमधुना स्वगुरु ।

शक्या विरोद्धुं नहि वालवृत्ति र्न चापि मेऽन्तः करण-प्रवृत्तिः
अस्यां स्थितौ मे शरणं किमन्यत् भवेद्वते त्वामिति मामवेस्त्वम् ॥८॥

इति मुहुर्मुहुस्तमेव साष्टांगपातं संस्मरन्ती भवति

भृशम्पर्याकुला ।

(पूर्णानन्दस्याक्षरायाश्चोभयोरेवानया प्रार्थनया परि-द्रावित-चित्तोऽथ गुरुर्गोरक्षनाथोऽत्र सहसा प्रादुर्भूतो व्यवस्थापयति पुनरेवम्)

गुरुः — पूर्ण, पूर्णमुत्तीर्णोऽसि परमदुस्तरास्वपि ते तासु तास्वखिलासु खल्वेतासु परीक्षासु । न केवलं प्रत्यक्ष-म्परिपालिता त्वया स्वगुरोराज्ञा, न वा केवलं सुर-क्षितस्त्वयाऽखण्डित स्ते यतिधर्मः । अपितु सहैवानेन नहि त्वया क्वचिदपि निर्दयं दलिता कस्याश्चनाप्य-बलायाः स्वल्पापि काचन मृद्वी मानसी वृत्तिः । यति-वरेणापि राजपुत्रेण त्वया परं राजर्षिणैव स्थेयमिति मदीया खलु प्राक्तनी मनोऽभिलाषा । अथ च यथा सुविदितं ते मदीयायां हि दीक्षायाम् ।

न कापि माता हृदये विदीर्णा गोरक्षनाथं कुपिता शपेत ।
सेवा विहीनो न च कोऽपिवृद्धः पिता भवेद् वा स्वसुतै-र्वियुक्तः ॥६॥

सिद्धान्ताः खल्वेते भवन्ति सदैव सुदृढं परिरक्षिता इति यावत्तेऽनुजो राजेन्द्रो यौवराज्याधिष्ठितो न क्षमते महाराजस्य शैलेन्द्रस्य शासनभारं वोढुम्, यावच्चाजीवनं दुःखशतैराक्रान्ता तपस्विनीयं ते जन-न्यक्षराऽपेक्षते खलु ते साहाय्यं तावदिहैवास्थितेन त्वया साधनीयेयं परमा कठोराऽपि परमकोमलेयं ते साधना । संस्थापनीयश्च कर्मयोगस्याभिनवं किमप्येतद् विलक्षणमुदाहरणम् ।

नवीना — अहो अलौकिकं खल्वेतद् गुरुचरणानां किमपि कृपा-मयं परमं गौरवम् ?

नरेन्द्रः-शैलेन्द्रः — सिद्धानां चेयं सर्वमनोरथपूरयित्री काचनानुपमा संसिद्धिर्यया मृता अपि वयमिदानीं जाताः स्मः पुनरुज्जीविताः ।

पूर्णानन्दः — गुरुचरणानां शुश्रूषया परिवञ्चितः किन्त्वहं नानुभवाम्यत्र कंचन महान्तमात्म-सन्तोषम् न च परिलक्ष्यते खलु महादेव्यक्षराप्यनया व्यवस्थया पूर्णम्परितुष्टा ।

गोरक्षनाथः — पूर्णानन्द, त्वादृशस्य यतिवरस्य जननी त्यागमूर्तिरियमक्षयरा परेभ्यः परित्यजेच्चेदितोऽप्यधिकं किञ्चित् सर्वमेतद् भवेत् तस्यामुपपन्नम् ।

पुरोहितः — अथवा परितुष्टे गुरौ तुष्टा एव वयं सर्वे, तथापि भवत्वेतदपि भरतवाक्यम्परिपूर्णम्पूर्णानन्दे ।

पूर्णाः सन्तु मनोरथाः सुकृतिनां नैराश्य नाशो भवेत्
मोदेताम् पितरौ सुतैश्च सुखिनौ दिव्यात्मसम्पद्युतैः ।
सन्तृप्तं ह्यथ गोकुलं हि निखिलं जायेत वर्षामृतैः
सद् - ज्ञानामृत - वर्षणैश्च नितरामानन्दपूर्णं जगत् ॥१०॥



इति विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनयेन विद्याधर शास्त्रिणा विरचिते पूर्णानन्देऽस्मिन्नाटके परिपूर्णः पूर्णानन्द परिपूरकः पञ्चमोऽङ्कः ।

॥ श्रीः ॥

अथ दुर्बलबलम्

(१)

अपूर्वः संगमो यस्मिन्-अमृतस्य विषस्य च
स नागेशो महाकालः पातु व श्चन्द्रशेखरः ॥१॥

स्थितिं समाजस्य सदैव शुद्धां संरक्षितुं यो हि सतः सुरक्षन्
खलान् समूलं सततं समस्ता-नुन्मूलयेत्सोऽवतु नो मुरारिः ॥२॥

(नान्द्यन्ते प्रविश्य सूत्रधारः)

सूत्रधारः — सुविहितं सुमङ्गलम् । श्रूयतां सम्प्रति सावहितं तावत् कीदृशोऽयमाकर्ण्यते तद्दिशि महान् कश्चन जन-कोलाहलः ।

पारिपार्श्विकः — (ससंभ्रमम्) भाव, यथाहं तर्कयामि विशाले कस्मिश्चन जनसमाजे भवितव्यं तत्र केनापि वाग्मिवरेण सम्भाषमाणेन ।

सूत्रधारः — एवं चेद्-आगच्छ, आवामपि तत्रैवोपसृत्य सुस्पष्टतरमेतदाकर्णयावः ।

ऋते विशिष्टमाख्यानं व्याख्यानं नैव शोभते
सविशेषं सदाख्येयम् सामान्यं न हरं हृदाम् ॥३॥

(प्रस्थितौ)



(२)

(तिलकचत्वरे संभाषमाणो भिक्षुरानन्दः)

आनन्दः — बान्धवाः ! कथयत सुस्पष्टं कथयत एतत् । किमेकान्ते शान्ते प्रकृति-स्थले संस्थिते स्वधर्मैककर्मनिरते तपस्विनि त्रिव्रते, दुर्वृत्तै मातुङ्गवैनैर्यदाचरितोऽयमनार्यो व्यवहारो न दुनोति श्रीमतामान्तरमनोपतः ।

जनाः — महाभाग ! विहाय कतिचिद् राष्ट्रद्रोहिणो दुर्वृत्तान् कामयोनिष्ठान् इतरान् वा कांश्चिददूरदर्शिनो जनान् को नाम भारतीयोऽद्य निशम्यैतद् विश्वासघातकं जघन्यं वृत्तं न भवेत् सर्वथा विदीर्णहृदयः ।

आनन्दः — सर्वथा आर्यजनोचितेयं श्रीमतां चेतोवृत्तिः—

आर्यत्वं सहते नाल्पं पापिनामंकुशं क्वचिद्
मुक्तिकामा वयं नित्यं सर्वस्माद् भवबन्धनात् ॥४॥

एकः पार्षदः — भगवन् भवबन्धन-मुक्तिरपि किन्तु प्रथमं नित्यमपेक्षते स्वराष्ट्र-बन्धन-मुक्तिम् ।

आनन्दः — सुनिश्चितं सर्वथा सुनिश्चितमिदं बन्धो, परतन्त्रे हि राष्ट्रे स्वधर्माचरणस्यापि स्वातन्त्र्यं न भवति सदैव सौकर्येण सम्प्राप्तम् । पारतन्त्र्यात् कथमद्य त्रैविष्टपानां धार्मिकी संस्कृतिरुच्छिद्यते पापैश्चीनैरिति सम्यगेव मया विशदं निरूपितम्. तस्मात् मुक्तिरिदानीमस्माभिर्दूरत एवाद्य वर्तते सत्वरं सुनिरस्या ।

कुगतिर्भवबाधनाय नियतं निम्नं तलं गाहते
दुर्नीतिश्च परापकारनिरता दीनाश्रितान्वीक्षते ।

तीरस्रोटनतत्परा यदि सरित् तीरे न संरुध्यते
नूनम्भार्वंगताऽखिला वसुमती पूरैः परिप्लाव्यते ।५।।

जनाः — निर्दिश्यतां तर्हि तन्निरोधकं साधनमविलम्बेन ।

आनन्दः — तदप्यहमचिरेणैव निवेदयिष्यामि श्रीमतां सेवायाम् । धारयत धैर्यं यावदहं कार्यानुरोधेन सारनाथं गत्वा पुनरिह प्रत्यावर्ते ।

(वन्देमातरम्-राष्ट्रगानेन सह सभाविसर्जनम्)

(३)

(ततो दृश्यन्ते सुरक्षिते भारतीये क्षेत्रे प्रविशन्तो दल-पति-पुरस्सरास्त्रैविष्टपाः ते ते वर्गाः)

रामोदलपतिः — सद्धर्मानुरागिणः ! सर्वशक्तिमतो वज्रभैरवस्य परमानुग्रहेण सम्प्राप्ताः स्मः सम्प्रति वयं सकुशलं तथागतावतारिणि सर्वजनवन्दनीये पावनेऽस्मिन् भारतीये प्रदेशे । एत तत् सर्वतः प्राक् समवेत्य तमेव सकलसंसृतिदुःखापहारकं परमकारुणिकं भग-वन्तं मैत्रेयं सर्वात्मना संस्मरामः ।

(ध्यानमास्थाय क्षणं सर्वे मौनमाधाय पुनरश्वानारु-ह्याग्रेसरा भवन्ति)

रामः — अविलम्बेनैव सम्प्रति वयमस्मदपेक्षापूरकस्य कस्यचन सद्ग्रामस्योपान्तमाश्रयिष्यामः ।

शाक्यः — (दूरमभिलक्ष्य) यथाहम्पश्यामि केचनाश्वारोहिण इत-एव सवेगमागच्छन्तोऽभिलक्ष्यन्ते ।

रामः — भवेत् कथंचन भारतीयैः शासकैरुपलब्धोऽस्मदागमन-

सूचना ।

(अत्रान्तर एव तत्र प्रविशन्ति आनन्दपुरस्सराः कतिपये पौरा जानपदाश्च)

आनन्दः — (सादरमभिवाद्य) विश्ववन्द्या महाभागाः ! सेवायां समुपस्थिता वयं समनुग्राह्याः केनापि कृपामयेन मान्यानां शुभेनादेशेन ।

रामः — बन्धुवर्याः ! भारतीयैः शासकवरैरभिशासितेऽस्मिन् राष्ट्रेऽस्माकं सर्वा अपि गतयः सन्ति केवलं तेषामादेशाधीनाः । अतोऽत्र यदि भवेत् निकटस्थः कश्चन शासनाधिकारी सत्वरं तर्हि तत्र सम्प्रापणीयाऽस्मदागमन–सूचना—

रामसुरक्षकोऽधिकारी (अग्रे समुपसृत्य) ततोऽपिप्राक् भवद्भिरप्यथ कृपया समनुग्राह्योऽयं जनः स्वपरिचयदानेन ।

आनन्दः — वयं वर्तामहे त्रिव्रतभारतमैत्रीसंघस्य सदस्याः । त्रिव्रते विद्यमानेभ्योऽस्मद् वयस्येभ्यः कथंचन श्रीमदागमन संभावना वृत्तमेनमुपलभ्य वयमत्र समागताः स्मः । निःशङ्कमादिश्यतामादेश्यम् । यावदहं सत्वरंगच्छाम्यधिकारिणं सूचयितुं तावदिमेऽस्माकं सुहृदोऽपि आतिथ्य–ग्रहणेन मान्यैरवश्यमनुग्राह्याः ।

रामः — प्रियाः सुहृत्प्रवराः ! बन्धुवर्याणां भारतीयानामादिकालात् सर्वसुलभमातिथ्यमिति सुनिश्चित्यैव निश्चिन्तमिह वयं समायाताः स्मः । यथा रोचते तथा सर्वं सम्पादयत । आतिथ्यादपि पुरा परं तैस्तैरनिश्चितैरलक्षितैश्च त्रिकूटैर्मार्गैं भारतम्प्रविशन्तोऽस्माकं अन्ये–

ऽप्यनुयायिनोऽन्विष्यान्विष्य इहैवानेयाः ।

आनन्दः — अनुगृहीताः स्मः (ततः समागतेभ्योऽनुसारिभ्यः कतिपयान् युवकान् पृथगाहूय रामरक्षिभिः सुविमृश्यच प्रेषयति तान् तेषु तेषु स्थानेषु)

रामः — साधु भो भिक्षुवर, साधु । अधुनाहि

दृढोऽसौ विश्वासो दृढतम इदानीं हि जनितः
स्वभावात् सर्वेषामुपकृतिरता भारतजनाः ।
दुराचारं केषांचिदपि नहि सहन्ते वहुतिथम्
स्वतन्त्राः स्वातन्त्र्यं भुवि सततमीप्सन्ति फलितम् ॥६॥

अस्तु आनन्दमहाभाग ? सत्वरमितः सम्प्रति मदीयेन दूतेन सह द्रष्टव्यो निकटस्थोऽधिकारी । (अभिवाद्य आनन्दः तैत्रतेन दूतेन सह प्रतिष्ठते)

आनन्दः — (मार्गे) शक्तिरक्षित वन्धो ! यथाहम्प्रत्येमि भारतीयैरधिकारिभि र्भवेद् विज्ञातमेव मान्यवरस्य दलपतेरागमन–मेतद् । पुनरपि रामसन्देशोऽस्माभिर्यथावत् श्रावयिष्यतेऽधिकारिणे ।

(दूरतो राष्ट्रध्वजालंकृतं माण्डलिककार्यालयं दृष्ट्वा) सम्प्राप्ताः स्मो वयं सम्प्रति स्वाभिमतं स्थानम् । (कार्यालय रक्षक द्वारा सूचिते माण्डलिके, वहिरागत्य माण्डलिकः)

माण्डलिकः — महात्मन् ! तत्रभवतो रामवरस्य सन्देशेन सहैव समुपलब्धः सम्प्रत्येपमयास्मत्–केन्द्रीयोऽप्यादेशः। सर्वं प्रथमं सुरक्षाप्रवन्धोऽस्माभिः सुविधेय आस्ते । गच्छत युवां सम्प्रति समाश्वस्तौ । अचिरेणैवास्यप्रदेशस्य मुख्य

मन्त्रिमहोदया मान्यानां सविधे समुपस्थास्यन्ति ।

(धन्यवादेन माण्डलिकमभिनन्द्य उभौ निवर्तेते)

आनन्दः — अस्तु सद्बन्धो । सम्पादितमस्माभिरस्माकं कर्तव्यम् । सम्प्रति रात्रावत्र विश्रम्य प्रातर्भवान् प्रतियातु स्वशिविरम् । अहंचान्यान् मान्यान् महानुभावानपि वृत्तेनानेन सुपरिचितान् कर्तुम्भवामि प्रयत्नशीलः ।

(विश्रामालयम्प्राप्तौ सुखं शाद्वलावृते स्थाने समुपविष्टौ गृणुतो यात्रिणाम्पारस्परिकमालापम्)

प्रथमः — श्रुता न वा भवताद्यतनाः सायंतना नवीनाः समाचाराः ?

भारतेऽद्य सम्प्रविष्टे दलपतौ रामे चैनैः प्रेषितमेकं विस्तृतं विरोधपत्रम् ।

अपरः — किमनेन विरोधपत्रेण । अतिथीनां सुविधेयमातिथ्यमेष नः सनातनोधर्मः ।

प्रथमः — सत्यमेतत् । चैनैरपि परमस्माभिः सुरक्ष्यते सुदृढो मैत्री सम्बन्धः ।

अपरः — वर्ततां नाम तत्तथा किन्तु सम्प्रत्यस्माभिरपि स्थेयमेव सर्वथा सतर्कैः देशकालानुकूलैवानुसरणीया च परराष्ट्रनीतिः । त्रिवृत्तं घटितेयं घटना नास्ते काचन सामान्या घटना ।

तृतीयः — क्षम्यो मदीयो वचनान्तरायः । मम मते-किन्तु

साम्प्रतं भारते नास्मिन् शासकाः क्षात्ररक्षकाः
आजिनाम्नापि भीतानां नैषां नीतिः स्थिरा क्वचित् ॥७॥

नेमेऽश्वमेधविधायिनां विजिगीषूणां प्राक्तनानामार्याणां सरणीं क्वचिदनुसरन्ति अतोहि यदि कदाचिदस्य त्रिव्रतप्रश्नस्य भवेत् किञ्चित् समाधानं तर्हि तत्तु विहाय राष्ट्रसंघं नान्यत्र क्वचिद् दृश्यते सुसमाधेयम् ।

प्रथमः — श्रीमन् कृपया वृद्धौगरणामन्वेष्टव्यम् । किं न वेत्सि ?

भाषणानाञ्च विवादानां व्यर्थैः कोलाहलैर्वृते
राष्ट्रसंघे हि विश्वासः कथं कस्यापि जायताम् ॥८॥

आनन्दः — (अपवार्य–शक्तिरक्षितम्) कृपया भवतेह स्थेयं केवलं मौनेन (समुपसृत्य च ततः)

सुहृद्वराः ? नैवं सर्वथा नैराश्यमग्नैर्भवद्भिर्भाव्यम् ।

त्रैव्रता न स्थास्यन्ति चिरं परायत्ताः । महामान्ये रामेऽत्र समायातेऽपि तत्र–स्थिताः क्षेत्रपालाः सन्ति निरन्तरं संघर्षनिरताः । राष्ट्रसंघश्चास्ते विश्वसंघः—

विश्ववाणी विभोर्वाणी अमोघा सा स्वभावतः
साधिनी सर्वसाध्यानां खण्डितैश्चेन्न खण्ड्यते ॥९॥

विश्वदौर्भाग्यादद्य वैकल्येन ग्रस्तायामप्यस्यां वाण्यां नेयं स्थाता सदैव विकला । परांकाष्ठामधिगतेऽत्याचारे भीमं गर्जन्त्येषा क्षणेनैव विधत्ते निखिलानप्याततायिनोऽधः पतितान् । प्राक्तनी भारतीया क्षात्रशक्तिश्च पुरा यावत् केवलं क्षत्रियेषु एव देदीप्यमाना आसीत् —

जनतन्त्रेऽद्य सा शक्तिः समुद्भूता जने जने
शक्तिरेषा प्रबुद्धाहि किं न कर्तुम्प्रकल्पते ॥१०॥

अपिच—

जनतन्त्रे जनाः पूर्वं सेव्याः शासक शासकाः
समर्थनमृते येषां शासका पङ्गवोऽखिलाः ॥११॥

तस्मात् पदे पदे सर्वदा परमुखेक्षणवृत्तिम्परित्यज्य यदस्माभिर्विधेयं तत्नुविधेयम्—

किं न साधयितुं शक्यमेकेनापि दृढात्मना
यच्चापि यत्र दौर्बल्यं तदस्माभि र्निरस्यताम् ॥१२॥

अस्माभिर्निरर्थकं स्वराष्ट्रशासनालोचनम्परिहाय प्रतिनगरम्प्रतिग्रामञ्च त्रैविष्टपानां स्वातन्त्र्यायाद्य प्रवर्धनीयः समुत्साहः—

व्यक्तौ व्यक्तौ भवति निहिता संहति र्जातिधर्मात्
भावस्यांशो दृढगतिमितो जायते ब्रह्मघोषः ।
त्यक्त्वा तस्मात् स्वबलफलिते संशयं वर्तमानम्
सद्योऽस्माभि – र्नियतविषये भाव्यमग्रेसरद्भिः ॥१३॥

यात्रिणः — महात्मन् सत्स्वपि श्रीमतामेषु वचनेषु सर्वथा सारसम्पन्नेषु दुष्करं कार्यमेतत् केवलं साधारणानां जनानां समर्थनेनैव न भवेत् सुनिष्पन्नम् ।

आनन्दः — एतदर्थं कृपलानी महोदयैः श्रद्धेयैरन्यैर्लोकसभा–सदस्यैश्च मयाऽचिरेणैव स्थापयिष्यते स्वसम्पर्कः ।

यात्रिणः — सर्वथा सर्वैः सुसमर्थनीया श्रीमतामियं सुयोजना ।

(उत्थाय) अस्तु आगच्छत सम्प्रति गतंविहायभोक्तव्यमिति भोजनमण्डप एव प्रसादप्रसन्नेन मनसा सर्वे सुखिमृणामः । (प्रस्थिताः सर्वे)

(स्नानादिभिर्निवृत्तः स्वमण्डपेचिन्तामग्नो दलपतिः)

रामः — (विचिन्त्य निःश्वस्य चात्मगतम्) हृतविधे !

त्रिवृत्ते स्वाधीने जन–हृदयभावामृतझरी
स्वतन्त्रा सद्वाचां खलु विकसितायात्मलहरी ।
निरुद्धा सा कण्ठे दुरितहृतकै रेभिरसुरैः
नहि स्पष्टं वक्तुम्प्रभवति न शान्तैव भवति ॥१४॥

(अत्रान्तर एव तत्र प्रविशन्ति केचन त्रैव्रताः)

रामः — अपि सुविहितं सर्वैः स्नानादिकं सर्वम् ?

त्रैव्रताः — मैत्रीसंघस्य सदस्यै र्मण्डलाधीशस्त्र पुरुषैश्च सुविहिते प्रबन्धे सर्वमेतन्निष्पन्नं सौकर्येण ।

रामः — नास्माभिश्चिरमिह स्थेयम् । आनन्दसहृच्चरे शक्ति–रक्षितैऽत्र समायातेऽचिरेणैव मया श्रीमता नेहरू महोदयेन सह संस्थाप्यः स्वसम्पर्कः ।

त्रैव्रताः — महामान्याः, श्रीमच्चरणानामनुग्रहेण निर्विघ्नमिह सम्प्राप्तेष्वप्यस्मासु त्रिवृत्ते स्थितानामस्माकं बन्धूनां सम्प्रति भवेत् कीदृशी स्थितिरिति विचिन्त्य नितरां खिद्यन्ति नश्चेतांसि। (उष्णमुच्छ्वस्य) स्वजन्मभूदर्शनं सम्प्रति जातं स्वप्नदर्शनम् ।

रामः — वरवीरा न भवत एवमधीराः । रक्षत विश्वासमेनं सुदृढं सन्ततम् । नास्माकं जन्मस्थली स्थास्यति चिरं चैनै–र्दुरधिष्ठिता । पारम्परिकोऽयमस्माकं चैनानाञ्च उच्चावच–यायी पारस्परिक ऐतिहासिको विद्वेषः । घनेन तमसाच्छन्नेऽपि वर्तमानेऽस्माकम्प्रिये देशे—

न चिरं दुर्दिनाक्रान्तं स्याता भाग्यनभो हि नः
भास्यत्येव — पुनर्भानु — र्नैर्मल्यम्पुनराप्स्यते ॥१५॥

त्रैव्रता: — महामान्या: ! मान्यवराणामनुग्रहेण सर्वमेतत्सुसम्पत्स्यते इति दृढं विश्वस्ता अपि को नाम भवेदस्माकं समुद्धारक: कियता कालेन वा सर्वमेतद्घटेत इति चिन्तयन्तो वयं क्षणमपि नाविगच्छाम: कथंचन काञ्चन शान्तिम् ।

राम: — अहो दयनीयं मनोनैर्बल्यम् !!

नहि क्लान्तैरशान्तैश्च साध्ये सिद्धिरवाप्यते
समुत्साहे च साफल्यं स्वयं सिद्धं स्वभावत: ॥१६॥

अपिच किं न जानीथ यूयम्—

परायत्तै: क्वचित् स्थातुं क्षेत्रपालै* र्न शक्यते
क्षेत्रपालेषु जीवत्सु त्रैव्रतं क्षेम शाश्वतम् ॥१७॥

अयच चैनी जनतापि न चिराय सहतां मायोरिदं निरंकुशं शासनम् ।

(अत्रान्तर एव घोटकादवतीर्य तत्रप्रविशति शक्तिरक्षित:)

राम: — शक्तिरक्षित ! भवदागमनात्प्रागेवात्र समागतै राज्याधिकारिभि: सुनिष्पादितास्मदपेक्षिता सर्वा संविधा ।

शक्तिरक्षित: — महाभागा: । आतिथ्योचितयाऽनया सपर्यया सह अन्यदपि सर्वमस्मदपेक्षितमेभिर्भारतीयै बन्धुभिरवश्यं

---

* क्षेत्रपाल—चम्पा

सम्पादयिष्यते इति मदीयः सुदृढो विश्वासः ।

रामः — क्व वर्तते सम्प्रति भवत्सहचरो भिक्षुवर आनन्दः ?

शक्तिरक्षितः — महामान्याः ! प्रातरद्य स प्रस्थित इन्द्रप्रस्थम् । त्रिव्रत्तस्योद्धाराय महती तस्य काचन योजना। असाधनस्यापि तस्य साधनानि च प्रतीयन्तेऽतर्क्याणि मादृशैः सामान्यैर्जनैः । तथापि यथाहम्प्रत्येमि तस्य शुभैः प्रयासैर्भारतसंसदि राष्ट्रसंघे च त्रैव्रतानामयम्प्रश्नोऽविलम्वेनैव भविष्यति सुविचारितः ।

रामः — कर्मठेन तेन विदग्धेन शक्यते सर्वं सुसम्पादयितुम् । अस्तु सर्वेऽपि भवन्तः सम्प्रति गच्छन्तु स्वस्वशिविरम् सायम् पुनः सर्वैरेवास्माभिरत्र सनवेत्य सुनिर्धारयिष्यतेऽस्माकमग्रेतनः सर्वोऽपि कार्यक्रमः ।

(सर्वे प्रस्थिताः स्वस्वशिविरम्)

(४)

(इन्द्रप्रस्थ–यायिनि रथलयाने समासीन आनन्दः)

आनन्दः (स्वगतम्)

न दृश्यते कश्चन निश्चितोऽध्वा
नचापि कश्चित् पथदर्शको मे ।
तथापि लक्ष्यं मम निश्चितं यत्
नान्तर्हितं तन्नच हीयमानम् ॥१८॥

दुर्वलवलाधायिनीं मातरं मतिशक्तिमतिरिच्य न वर्तते मदीयः कश्चनान्यः सुव्यवस्थितः समाश्रयः । नूनं

भारतेऽद्य सर्वमपिकर्तुमकर्तुञ्च समर्थः श्री नेहरू महोदयोऽत्र भवितुमर्हति सर्वार्थसाधकः (क्षणं विरम्य) नासौ किन्तु क्षणेनैव परित्यजेच्चीनमैत्रीं न च तद्दृशि विद्यते मदीया काचन सत्ता। (अत्रान्तर एव स्थितिस्थाने स्थिते वाष्पयाने ततोऽवतीर्य बौद्धविहारमुपगम्य दूरभापकेण ततोऽचलेन विहारिणा सूचिते समये तत् सदनं गच्छति।)

(अचलसदने)

अचलः — स्वागतं भो आनन्दभिक्षो! स्वागतम्। कुनीतिग्रस्तैर्मातुङ्गचैनैः सन्त्रासितानां त्रैव्रतानां स्वागतमाचरद्भिर्भवद्भिः साधु संरक्षितोऽद्य भारतीयानाम्परम्परागत आतिथेयो धर्मः। स्वराष्ट्र स्वातन्त्र्यसंरक्षणाय प्रतिक्षणं जागरूका इमे त्रैविस्टपाः सन्ति सर्वेषामेव सद्राष्ट्राणां हृदयेनाभिनन्दनीयाः सम्माननीयाश्च।

सति राष्ट्रे परायत्ते परायत्ता समुन्नतिः
स्वायत्ते च निजायत्ता स्वराष्ट्रस्याखिला गतिः ॥१९॥

ध्वस्ते राष्ट्रे च सर्वेऽपि ध्वस्ता एव न संशयः
मानवीये समाजेऽस्मिन् राष्ट्रमूलं हि जीवनम् ॥२०॥

भारते च त्रिवृत्ते च न भेदः कोऽपि भूतले
अस्माकम्पूर्वजैरेव स्वगवत्येतेविकासिते ॥२१॥

गौरवेऽस्य सति क्षीणे क्षीणं भारतगौरवम्
हिमालयस्य ये देशा सहजास्ते स्वबान्धवाः ॥२२॥

तेषां सम्मानरक्षार्थं प्रयतमानेन भवता रक्ष्यते भारतस्यैव सम्मानमिति वर्तते सर्वेषामस्माकं

साधुवादार्हः ।

आनन्दः — अनुगृहीतोऽस्मि श्रीमतामेभि-र्नवप्राणप्रदै-र्वचनैः ।

यदि भवेदखिलै—र्मरणातुरै
रनुभृतैव महोत्सवनी मुदा ।
नहि खलैः प्रसभं भुवि कस्यचित्
गतभयैः क्रियतां हि गलग्रहः ॥२३॥

परं सर्वैरवधानतानुभूयते मया यत् परराष्ट्रनीति-
निर्धारणे न वयं वर्तामहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः ।

अचलः — वर्तमानमेवलक्ष्याविच्छिन्नामसिकं कार्यं न दैप्यपि स्था-
स्यति चिरमिति रक्ष पूर्णम् विश्वासम् ।

आनन्दः —

क्षणे मित्रं क्षणे शत्रुर्येयैः कश्चिद् विधीयते
कथं कस्यापि विश्वासः तेषु नेतृषु वर्धताम् ॥२४॥

प्रतिक्षणं विश्वासघातमाचरद्भिः सैन्यबलमदान्धैश्चैनैः
सह सख्यं, सनातनैः सुहृद्वरैः स्तालिनरैश्च देशैः वा
सिभिः चैनमस्यं पालयद्भिरेभि र्महापुरुषैः कीदृशीयमद्य
परराष्ट्रनीतिः समनुस्त्रियते इति न मे मतिमारोहति ।
(सावनम्) अन्यथा घटितेऽस्मिन् चैनते व्यतिकरे सद्य
एव समुच्छेद्येयमासीत् चैनी मैत्री ।

नोपस्थितस्यैव नये विचारः न शत्रुतायां न च मित्रतायां
क्षणे क्षणे तस्य नवैव रीतिः त्रिकालमत्येत्ययदास्य वृत्तिः ॥२५॥

अचलः — प्रियबन्धो ! स्थाने सत्यपि भवदीयेऽस्मिन् आक्रोशे
क्षणे क्षणे परिवर्तनानेयं राजनीतिरपि नित्यं प्रतीक्षते

योग्यमवसरम्—

अवाप्तौ लक्ष्याणां भवति समयः शुद्धघटकः
विना यस्यालम्बं नहि किमपि लोके सुघटते ।
परीक्षन्ते तस्मात् स्थितिपरिणतिं नीतिनिपुणाः
विपाकात् प्राक् छिन्नं भवति न फलं चारुमधुरम् ॥२६॥

एवं सति मान्येन चाङ्गेन[1] परिपोष्यमाणेऽपि मैत्री-सम्बन्धे नहि मायुनापि[2] सन्ति सुस्पष्टमस्माभिः सर्वविधा अस्मत् सम्बन्धाः क्षणेनैव विच्छेद्याः—

आनन्दः — मदीयोऽयम्प्रश्नः किन्तु न सहते क्षणिकमपि कंचन घातकं विलम्बम् ।

साध्यानां श्वोविधेयानां सिद्धिरद्यैव शोभते
को जानाति क्षणेऽन्यस्मिन् विधेयं किं भवेन्नवम् ॥२७॥

अचलः — (आत्मगतम्) नूनं श्रेयतोऽयम्प्रश्नो तत्र चैनेषु बद्धमूलेषु न भवेत्पुनः सुसमाहितुं सुकरः । (प्रकाशम्) अस्तु भिक्षुवराः ! कार्यमेतत् सुसम्पादयितुं सर्वप्रथम-मस्माभिरपेक्ष्यते सर्वेषामेव विज्ञानां नयज्ञानां सक्रियः पूर्णः सहयोगः—

सर्वैः सम्भूय सद्रीत्या यद्यल्लोके विधीयते
तस्य सिद्धिः स्वयं सिद्धा पार्थक्यं सिद्धि-घातकम् ॥२८॥

आनन्दः — श्रीमन्तः ! सुनिर्धारितपूर्वं सर्वमेतत् । विकल्पस्तु केवलं श्री नेहरू महोदयः । सर्वप्रथमं स मया द्रष्टव्यः

---

१ चाङ्गकाइशेक
२ माओ

उत कृपलानी प्रभृतयोऽन्ये महानुभावा अत्र मान्यानामपेक्ष्यते निश्चितमुत्तरम् ।

अचल: — (विमृश्य) मन्यतेऽन्येषां नेतृणां दर्शनापेक्षया सर्वत: प्राक् भवता यथा तथा श्री नेहरू दर्शनार्थैव विधेय: सत्प्रयत्नोऽन्ययास्माभि: संगतस्य भवत: स न शृणुयात् कांचन वार्ताम् ।

आनन्द: — अहो महान् विशेष: । तथाप्यवगतो मया श्रीमतामभिप्राय: । सम्प्रत्यहं पूज्येन श्रीदलपति महोदयेनैव स्वसम्पर्कं स्थापयितुं पुरा प्रयतिष्ये (उत्थाय वन्यवादांश्च सुसमर्प्यवन्तेन सह बहिरागच्छन्ति ।

इति श्री देवीप्रसादात्मज विद्याधर शास्त्रि विरचिते
दुर्बलबले प्रथमोऽङ्कः ।



अथ द्वितीयोऽङ्कः

(१)

यवसे नैऋते स्थले प्रत्यूषसि तत्र तत्र: परिभ्रमति देवदत्तोऽजापःले प्रविशत्यपरतोऽपरो यज्ञदत्तोऽजापाल:)

यज्ञदत्त: — (देवदत्तमुपसृत्य) अरे प्रातरेवाद्य किमितस्ततो भ्रान्त इव निर्लक्ष्यमाहिण्डसे ।

देवदत्तः — नाहं भ्रान्तो नवाहमटामि निर्लक्ष्यमपितु दुर्दैव-हतकेन हतस्तमेवाक्रोशन् विचरामि साम्प्रतमितस्ततः ।

यज्ञदत्तः — अरे कीदृशमिदं ते दुर्दैवम् । कुतोवैतदापतितं सहसा ।

देवदत्तः — न जाने कथं कुतो वेदमापतितं, परं नृशंस – मति नृशंसमिदं मे दुर्दैवम् । न केवलम् एका, द्वे वा तिस्रः अपितु अभ्यर्धं न जाने क्व विलीनोऽद्य मे समस्तोऽप्ययमजैडक-संघः ।

यज्ञदत्तः — गते दिवसे शुक्लेनापि न लब्धः स्वीयो मेषः । यथा तथा समाश्वास्य यावदिहागच्छामि तावदिहापि वर्तते सैव वार्ता । किन्तु नेयं काचन प्रायिकी वार्ता । नहि वृकादिभि-र्युगपदेव व्यर्थमेवं व्यापाद्यतेऽखिलोऽप्यजैडक वर्गः ।

देवदत्तः — मदीये मतेऽपि न ते व्यापादिताः केनचित् हिंस्रेण प्राणिना । क्षुधाशान्ति-हेतुमृते नूनमेभि व्यर्थं न हन्यन्ते केचित् प्राणिनः ।

(अत्रान्तर एव नेपथ्ये श्रूयते डिंडिमघोषपुरः – सरम् क्रियमाणैषा घोषणा)

"सर्वैरेव ग्रैअतैर्बन्धुभिः सावधानं श्रूयतामसौ नवतमः सम्वादः । प्रदेशेऽस्मिन् अग्रेसरद्भिश्चैनैर्हतकै रपहृयतेऽस्माकं पशुधनं समुत्साद्यन्ते च सस्य क्षेत्राणि । सर्वैः सम्भूय सुविधीयतामाशु स्वरक्षायत्नः संस्थाप्यतां चाविलम्बेन सुपरिचितेन स्वबन्धुना स्वसम्पर्क. ।"

देवदत्तः — श्रुत्वा सकरुणम्

नापहृतास्तैः पशवः हृतं जीवनमखिलं मद्गेहस्य
किं कुर्मः क्व यामः केषामग्रे रुदिमोऽधुना ॥१॥

यज्ञदत्तः — अरे साम्प्रतमलं व्यर्थेन अनेन ते करुणक्रन्दनेन। गच्छ पल्लीम्। अहमपि चुंग दस्युभ्योऽन्नं विधाय अचिरेणैव त्वया सह संकेतितं जनस्थानमुपयास्यामि।

(उभौ प्रस्थितौ)

(२)

(यज्ञदत्तो यावत् चुङ्ग-क्षेत्रमुपैति तावदेवतत्र प्रविशन्ति पञ्चषाः चैनाः सैनिका आरभन्ते च तत्क्षेत्रं रेखाङ्कितं कर्तुम्)

चुङ्गः — (सवैलक्ष्यं तानुपगम्य) कीदृशीयं रेखा किंचास्याः प्रयोजनम्;

सैनिकाः — सैनिकेऽस्मिन् क्षेत्रेऽयमङ्क्यते लद्दाखमार्गः।

चुङ्गः — सैनिके कीदृशे सैनिके, क्षेत्रमिदं मदीयम्। अंगुष्ठमात्रेऽप्यस्य भूखण्डे निर्मिते लद्दाखमार्गे कावशिष्येत कृषियोग्यः कश्चन क्षेत्रांशः।

सैनिकाः — यथावशिष्येत तत्थावशिष्यताम्, स्वयं वयं च युस्मभ्यं कुड्वं कुड्वं धान्यानां दास्यामः। सम्प्रति-रेखाङ्कितेऽस्मिन् स्थले यत्र यद् विषमं तत् समीक्रियतामनति चिरेण।

चुङ्गः — (सोद्वेगम्) कथं स्वहस्तेनैव स्वकण्ठमहं छिन्द्याम् मयि जीवति नेह केनापि निर्मीयतां कश्चन मार्गः।

सैनिकाः — (विहस्य) अरे किं ब्रूषे, (आग्नेयास्त्रम्प्रदर्शयन्) आरभस्व स्वकार्यम् ।

यज्ञदत्तः — (स्वगतम्) खलानामेषामादेशपालनमतिरिच्य नवर्तते-ऽधुना जीवनस्य कश्चन अन्यः समुपायः (अपवार्य शुंगम्) तिष्ठ तूष्णीम् (प्रकाशम्) क्षम्यतां क्षम्यतां यावद्धि कर्तुम्पार्यतां तावदवश्यं करिष्यावः ।

सैनिकाः — नहि-नहि, यावदग्रेतनानि क्षेत्राणि रेखाङ्कितानि कृत्वा वयम्प्रत्यावर्तामहे ततः प्रागेव परिपूर्यताम्परि-पूरणीयम् । (आदिश्य प्रस्थिता अग्रे)

यज्ञदत्तश्च हस्तेन शुंग-माकृष्यारभते प्रस्तरादीनाम-पसारणम् ।

यज्ञदत्तः — (शुंगमुद्दिश्य) धारय धैर्यम् । अचिरेणैव सर्वं सम्प-त्स्यते सुसम्पन्नम् ।

शुंग — (सनिर्वेदम)

हतविधे किमिदं, बत दर्शितम्
निज-गृहेऽपि वयं यदि दासवत् ।
प्रतिपदं खलहुंकृति-भीषिताः
नहि मृता नहि वा बत जीविताः ।।२।।

यज्ञदत्तः — अरे धारय धैर्यम् । प्रयातेष्वेतेषु एतत् शिखरपर-वर्तिनि क्षेत्रे वयमपि यत्र गन्तव्यं तत्र गमिष्यामः ।

(पर्वताग्रम्पश्यन्तौ क्षणं विरम्य निष्क्रान्तौ)

(३)

(ततः प्रविशति कतिपयां-स्त्रैव्रतान्तरुणान् साधुवा-देनाभिनन्दन् भिक्षुणा काश्यपेनान्वितः क्षेत्रपालः तिष्यरक्षितः)

तिष्यरक्षितः — बंधुवराः, एकपद एव मध्येमार्ग निखिलानपि पशुमोषिणो बर्बरान् चैनान् निहत्य निःशेषमजैडकवर्ग च सकुशलमादाय प्रतिनिवृत्ता यूयं नहि न. स्थः केषां नाम त्रैव्रतानामभिनन्दनीयाः । अद्वितीयेन वो वीरो-चितेनानेन स्पृहणीयेन स्तुत्येन च कर्मणाऽरयोऽपि सदैव स्थास्यन्ति भृशं भयभीताः प्रकम्पमानाश्च ।

वसुरक्षितः — श्रीमन्तः, श्रीमन्निर्दिष्टात् स्थलादकस्मादेव पृष्ठतो निपतद्भि-रस्माभि - र्युगपदेव सकृत्कृतेनासिप्रहारेण सम्प्रापितास्ते निःशब्दं यमसदनम् ।

तिष्यरक्षितः — सुहृद्वराः, इदमेव युष्माकं हस्तकौशलं वर्ततेऽस्मा-कम्प्रधानं सम्बलम् । अस्तु, सम्प्रति क्षणं विश्रम्य गच्छत पुन र्निर्दिष्टेषु तेषु तेषु स्थानेषु सत्वरम् । द्रष्टव्यश्चाहं पुन-रत्रैव ब्राह्मे मुहूर्ते । अथच—

सद्यःकार्यानुरोधश्चैतत्, नम्यतां वज्रभैरवः ।

तरुणाः — गृहीत आदेशः, संकेतश्च । (प्रणम्य प्रतिष्ठन्ते)

काश्यपः — (तिष्यरक्षितं हस्तेनाभिस्पृशन्) चिरंजीव्याः, विद्यमाने त्वयि विद्यमानमेव त्रैव्रतं स्वातन्त्र्यम् ।

तिष्यरक्षितः — अस्तु भदन्त, किमन्यत् सूचितं भिक्षुवरेणानन्देन । अपि सर्वथा स्वस्थाः पूज्यपादा श्रीदलपति-महोदया

अन्येचास्मदीयाः सर्वेऽपि प्रिया बांधवाः ।

काश्यपः — स्वस्थाः सर्वथा स्वस्थाः । पूज्यप्रवरै दलपति–चरणैः सर्वेभ्योऽपि युष्मभ्यम् पावनायास्मै स्वातन्त्र्यसंघर्षाय साधुवाद पुरस्सरं सम्प्रेषित एष शुभः सन्देशः ।

तिष्यरक्षितः — अनुगृहीताः स्मः ।

(काश्यपः पुस्तकमनावृत्य पत्रमादाय श्रावयति)

यूयंहि धन्या निजराष्ट्ररक्षा—
धृतव्रतास्त्रिव्रत – वीरवर्याः ।
जीवत्सु युष्मासु न कोऽपि दस्युः
स्थातुं क्षमः त्रिव्रतभूमिभागे ॥३॥

वयं हि दूरे निजराष्ट्रवार्ता–प्रतिस्वनेनापि न संगताः स्मः
व्यालस्य चैनस्य खलस्य यूयं दंष्ट्रागतास्तेन मुखेच रुद्धाः ॥४॥

विदार्य दुष्टस्य मुखं स्वकीलै
स्तिष्ठन्तु नित्यं समवेत्य सर्वे ।
नूनं सदाव्यात् भवतो हि सर्वान्
तथागतः पाशविमोक्षदक्षः ॥५॥

विधीयतेऽस्माभिरपीह तत्तन् प्रवासिभि–र्कर्तु मिह क्षमं यत्
प्रयत्यते चानिश – मेतदर्थं यथा भवद्भिः समितिर्भवेन्नः ॥६॥

सन्देशमाकर्ण्य गद्गदस्तिष्यरक्षितो भिक्षुमभिवाद्य तमनुसरन् प्रयाति वज्रभैरव–मन्दिरम् ।

(४)

(ततः प्रविशत्येकेन सीमा सेनानायकेनान्वितः त्रिव्र–तस्यः प्रधानश्चैनः सेनाध्यक्षः)

सेनाध्यक्षः — (सेनानायकमुद्दिश्य) अपि पूर्णो लद्दाखमार्गः, क्वेदानीं युष्माकं मुख्यः शिविरावासः ।

सेनानायकः — श्रीमन्, महता प्रत्यूहेन पदे-पदे वाधितानामस्माकं मार्ग-प्रगते-र्वर्तमानं वृत्तं नास्ति किंचन संतोषावहं वृत्तम् ।

सेनाध्यक्षः — प्रत्यूहः ! कीदृशः प्रत्यूहः !!

सेनानायकः — सुसंगठितैः क्षेत्रपालैः प्रायः प्रत्यह एवाकस्मादाक्राम्य-न्तेऽस्मत्सैनिकाः क्रियते च कृतं सर्वमकृतम् ।

सेनाध्यक्षः — (सरोषम्) अविश्वास्यं लज्जास्पदञ्चैतत् सर्वं वृत्तम् ।

सेनानायकः — (नतमुखः) मान्याः, अविश्वास्यं सर्वथा लज्जास्पदं च नूनमेतन्मे वचनम्, परमीदृश्येव साम्प्रतिकी तत्रत्या वस्तुस्थितिः ।

सेनाध्यक्षः — (उत्थाय सव्यग्रम) वस्तुस्थितिः, कीदृशी वस्तुस्थितिः । कथं च केवल मजैड़कवर्ग-केशकर्तननिपुणैः कैश्चन ग्राम्यैः प्रत्यवस्थातुं शक्या अस्माकं दुर्दान्ताः सैनिकाः ।

सेनानायकः — मान्यवराः पुरा मन्मतेऽपि ते तथैवासन् केवलं भार-वाहकाः केचन लामादासाः परमिदानीं सुसंगठितानां केनचिद् विचक्षणेन सेनानायकेन च संचालितानां तेषा-म्पुरतो लघुपुद्गलेषु नियुक्तानामस्मत्-सैनिकानां नास्ते काचन सुदृढा संस्थितिः ।

सेनाध्यक्षः — (पुनः सरोषम्) अहो परमं शोच्यमिदं युष्माकं कात-र्यम् । परिस्थितावस्यां किं न सहन्तः सैनिकान्

सम्प्रेष्य सद्य एव विध्वस्ता भवता युगपत्सर्वेऽपि मार्गोपान्तवर्तिन स्त्रैव्रतावासाः ।

सेनानायकः — मान्याः सर्वथा जनसंचार विरहिणि निर्जने निर्जले चास्मिन् विषमे प्रदेशे न सुकरं युगपदेव बृहतां सैन्यानां संचालनम् । नवात्र भवति क्वचन काचन खाद्य-सामग्री सुलभा यत्र चैषा संगृह्यते तत एव सापनीयते त्रैव्रतैरेभिः काकैः ।

सेनाध्यक्षः — अहोगण्डोपरि युष्मत्कृतोऽयमपरो विस्फोटः ।

सेनानायकः — अक्षम्योऽपराधः परमितोऽपि परा परिशोच्या परिस्थितिरेषा । व्यतिकरेऽस्मिन् प्रतिक्षणम्प्रवर्धमानेऽस्मत् सैनिकानामसन्तोषे किंकर्तव्यविमूढा वयं न जानीमहे किमत्र प्रतिविधेयम् ।

(अत्रान्तर एव अंगरक्षकः प्रविश्य सेनाध्यक्ष-हस्तेऽर्पयति विशिष्टम्पत्रमेकम्)

सेनाध्यक्षः — (पत्रमनुशीलयन् आत्मगतम्) अहो केन्द्रस्थैः प्रभुभिः प्रतिदिनम्प्रेपिता इमे नवा-नवा आदेशाः—

निर्देशःसुकरो लोके पालनं दुष्करं महत् ।
व्यत्येति यद्व्यथा यस्मिन् तत्तेनैवानुभूयते ।।७।।

(प्रकाशम्) अस्तु सेनापते, समस्येयं नूनमास्ते परमा-विषमा । परं मार्गस्तु यथातथा निर्मेय एव प्रागस्मात् सप्ताहान्तात । असन्तुष्टान् सैनिकान् श्रीक्रम-सीम्नि सम्प्रेष्य नियुज्यतां नवा सैनिका अविगणय्य न पुनर्हताहतानां कांचन संख्यां यत् साध्यं तत् साध्यतामविलम्बेन अहमपि स्वयं तत्रागत्य यद्विधेयं

तद् विश्राम्यामि ।

(अभिवाद्य सेनानायकः प्रयाति सेनाध्यक्षश्चान्तः पुरं प्रविशति)

(५)

(शालिकूट-शिबिरे पाकराष्ट्रपतिः आयूबः)

आयूबः — (स्वगतम्) जातेऽपि दिनकरे मन्दातपे नाद्यनाऽपि प्रयाति आतङ्कतापः । अनतिदूरे स्वच्छन्दप्रवहन्त्या स्तापत्या विशाले पुलिने च रक्षितान्तरीकान्या-मुना-न्यानेव विश्वस्य विशालाभ्यां राष्ट्राभ्यां सुदृढीकृतेऽपि मैत्रीसम्बन्धे नाद्यापि जातमस्मद्-विहरणं सुकरम् ।

(प्रविश्य वैयक्तिकः सचिवः)

सचिवः — स्वामिवर्याः, मान्यानामादेशमनुपालयन्तः समुपस्थिताः परराष्ट्रमन्त्रिणो भुट्टोमहाभागाः ।

आयूबः — सादरं प्रवेश्यन्ताः । (प्रविष्टे परराष्ट्र-मन्त्रिणि) ।

आयूबः — मन्ये नानुभूताद्य भवता काऽपि विशिष्टातप-ताप-क्लान्तिः ।

भुट्टोः — दैववेन मया नानुभूयते ईदृशः कश्चनातपतापः स एव च मया पूर्णान्तज्ञो हैमवादः ।

आयूबः — अपि स्थिरीकृतो भवता परराष्ट्र यात्रा कार्यक्रमः ?

भुट्टोः — आगामिनि सप्ताहे मलयद्वीपादि यात्रानन्तरं अथ भारतं गन्तुमीहे ।

आयूब: — शोभनः कार्यक्रमः सर्वेऽप्यमी देशा भारतम्प्रति प्रतीयन्ते विशेषेणाकृष्टाः ।

भुट्टोः — सर्वमेतदास्ते मया सुपरीक्ष्यं सुसंस्कार्यञ्च। विषयमेनमधिकृत्य गते सप्ताहे मयाकारितास्तत्तद्राष्ट्राणां राजनयिका मत्कार्यालये तत्तद् वार्ता प्रसंगेन जिज्ञासिताश्च ते मयाः—

पार्कः सति संघर्षे भारतजानाम्
पक्षो नु भवद्भि ग्राह्य कतरस्य ?
मौनेषु निशम्येदं तेषु नवाशा—
पूर्णागतिरासीन् चैनी न सतोषा ।।८।।

आयूब: — यौक्तिकं सर्वथा यौक्तिकमिदमाभाति ।

भुट्टोः — कीदृशोऽयं मान्यानां तर्कः ?

आयूब: — दलपतेर्भारत प्रवेशानन्तरं स्वाभाविकोऽयं चैनानामसन्तोषः ।

समा चेत् स्वार्थ संसिद्धिः समं चेद् वैरकारणम्
स्वयं सम्वर्धते मैत्री नयज्ञानां ध्रुवं वचः ।।९।।

भुट्टोः — एवं चेन्मान्यै रादिश्यते तर्हि रसीयामरीकयो रन्यथा संभावनामविगणय्यापि प्रयते चैनान् प्रस्थातुम् ।

आयूब: — भवानेवात्र प्रमाणम् ।

भुट्टोः — अनुगृहीतोऽस्मि ।

आयूब: — नचाद्यावधि रसीयैरामरिकैर्वा काश्मीर – समस्या समाधानाय प्रदत्तोऽस्मभ्यं कश्चन वास्तविकः सक्रियः

सहयोगः ।

भुट्टोः — महानुभाव, यथार्थन्त्वेतत् उभेऽपीमे राष्ट्रेऽस्मदर्थ-साधनापेक्षया स्वार्थ साधनायैव वर्ततेऽस्माकं कृत्रिमे मित्रे ।

आयूवः — अत एव च किञ्चिदितः किञ्चिच्च ततो निक्षिपद्भि-रेभि र्यथास्माकं तथैव हिन्दुस्थानीयानां समक्षेऽपि नाट्यते द्विरंगं नाट्यम् ।

भुट्टोः — तर्हि प्रेक्ष्यतां जगत्यास्माकमपि किञ्चिन्नवं त्रिरंगं नाटचम् ।

आयूवः — विभासिता चात्रैव भुट्टोवैंगिष्टचम् । अस्तु सम्प्रत्यप-नीयतां शीतलेन सेवतीशार्करेण निजातपक्लान्तिः (शार्करं निपीय उभौ यथा स्थानम्प्रस्थितौ)

(६)

(सारनाथीयं विश्वबौद्ध-सम्मेलनं संयोजयन् भिक्षु-रानन्दः)

आनन्दः — महाभागाः, नूनं धर्म-चक्रस्येयं गतिः परमा विल-क्षणा सर्वथैवाविज्ञेया च मादृशैः कैश्चन नितरा मविवेक ग्रस्तैः सामान्यै-र्मानवैः । अन्यथा क्व नाम द्विसहस्राब्दिके महोत्सवे पारिता लोकोपकारिण स्तेऽस्माकं पावनाः प्रस्तावाः क्वचाद्यतनीयं दयनीया त्वैन्नती दुष्परिस्थितिः । असामयिकी किन्तु साम्प्रतं तेषाम्प्रस्तावानां पुनरावृत्तिः । अद्यत्वे यत्सर्वतोऽधिकं विमृश्यं तदेतदेवः—

राष्ट्रेषु यत्राप्यवशिष्यते यत्
धर्मस्य किञ्चिद्‌द्युतिमत्स्वरूपम् ।
मार-प्रहारै-र्विषमैर्यथा तत्
सुरक्षितं स्यात् तदिहाद्य चिन्त्यम् ॥१०॥

इदमुद्दिश्य मान्यानामध्यक्ष महोदयानामादेशेन सम्प्रति सर्वं प्रथमं संमभ्यर्थ्यन्ते जयपानीयाः श्रद्धया सुजुकि-महोदया कृतार्थयितु - मेनां समिति पथ - निर्देशकैः स्पष्टम् परिस्थिति समालोचकैः स्वविचारैः ।

सुजुकिः — धर्मप्राणाः सभासदः, सुविदितमिदं तत्र, भवतां सर्वेषाम् यत्:—

राष्ट्रे-राष्ट्रे प्रसरति भृशं हन्त मिथ्याप्रयोगे
गेहे-गेहे महति कलहे वर्धमाने च घोरे ।
हिंसावृत्तौ वचसि मनसि व्यापकत्वं गतायाम्
बौद्धोधर्मः प्रभवति नहि क्वापि गोप्तुं स्वलक्ष्यम् ॥११॥

अस्य लक्ष्यस्य संरक्षणाय यच्चास्माभिः क्वचित् किञ्चिद् निर्धार्यते वा तस्याखिलस्य समूलमुच्छेदनायाधुनिका दार्शनिका राष्ट्रनायकाश्च सन्ति प्रायः सर्वत्रैव परिकर-बद्धाः । एतेषामस्य दुष्प्रयासस्यैव चायं दुष्परिणामो—

चैने राष्ट्रे प्रतिगृहमहो निन्द्यते बुद्ध-धर्मः
मायो-मूर्तिः प्रतिपदमथाभ्यर्च्यते बुद्धबुद्धया ।
ग्रंथश्चैको भवति सुलभस्तत्र नाचारमूलः
छिन्ना भिन्ना अथच विहिता धर्मभावाः समस्ताः ॥१२॥

चैनीमेनां दुर्गतां बौद्ध धर्मस्थितिमतिरिच्य त्रिव्रतेऽद्य यद्यथा घटितं यथा च महामान्या दलपतयो भारत-मायातास्तत्रापेक्षते किञ्चन विशिष्टमाख्यानम् ।

त्रैव्रतोऽयं व्यतिकरः किन्तु नास्ते कश्चन सामान्यो व्यतिक्रमः—

तत्राद्य घटमानं यत् परत्रापि घटेत तत्
श्रीक्रमे ब्रह्मदेशे च सद्यस्तज्जायतां स्फुटम् ॥१३॥

सर्वमिदम्प्रत्यक्षमालोक्य यदि नाद्यापि क्रियतेऽस्याः प्रतिक्षणं विजृंभमाणाया धर्मदुर्गतेः कश्चन तात्कालिकः प्रतिकारस्तर्हि शंकेऽखिलमपि विश्वजीवनं भवेदचिरेणैव परिशून्यं निखिलै-र्मानवीयैः सुसंस्कारैः ।

(भाषणान्तरं संघाध्यक्षो व्यवस्थापयति)

संघाध्यक्षः — मान्यैः सुजुकिमहोदयैः सुविशदं प्रदर्शिते दुःसाध्येऽस्मिन् सांक्रामिके दुरामये, भाषणापेक्षयाऽस्योपचाराय सम्प्रति तत्तद् विषय विमर्श समितिषु समवेत्य मान्यैः सदस्यैः समुद्भावनीया कापि सा व्यावहारिकी सुयोजना, यामनुसृत्य धर्मप्राणा जनाः प्रयतेरन् स्व-धर्मरक्षायै विरोधिनश्च भवेयुः सर्वथा निर्व्यापाराः ।

सदस्याः — सर्वथाभिनन्दनीयो मननीयश्च मान्यानामयमादेशः सुविहिते च धीरे गंभीरे विमर्शे कश्चन सुमार्गोऽप्यस्माभिरवश्यमासादयिष्यते नात्र कश्चन संशयः ।

सत्वं मुख्यतमं लोके वृद्धिरेव न संशयः
असाध्यान्यपि सिध्यन्ति प्रयोगाद्यस्य तत्क्षणम् ॥१४॥

(सर्वसम्मत्या स्वीकृते प्रस्तावे जाते च मध्यावकाशे यथारुचि केचिद् बहिर्गच्छन्ति केचिच्च तत्रैव तिष्ठन्ति)

(७)

मातुङ्ग — सदनस्थेऽतिथिस्वागत-कक्षे समासीनश्च्यवनः (प्रविश्यमातुङ्गपत्नी चार्वङ्गी)

चार्वङ्गी — (च्यवनमुद्दिश्य) । कृपया नावधेयं मातुङ्गकृतेऽस्मिन् समयातिक्रमे रात्रौ निद्रादोषात्सर्वेऽप्यद्यतना: प्रातःकालीनाः कार्यक्रमाः सञ्जाताः सर्वथा कालातिपातग्रस्ताः ।

च्यवनः — (स्वागताय ससंभ्रममुत्थाय) महाभागे ! यदि अस्वस्थास्तर्हि अपराण्हे ततः प्राग् वा निर्दिष्टे समये पुनरागच्छेयम् ।

चार्वङ्गी — नहि, नहि तादृशः कश्चन चिन्त्यः अवसरः । स्वस्थैरपि राजधुरंधरैः किन्तु स्थीयतेऽस्वस्थैरेव प्रायशः ।

च्यवनः — सत्यं महाभागे ! सर्वथा सत्यम् । राजनयाक्रान्ताः स्वभावतः भवन्ति सदैव मंशयामयग्रस्ताः ।

दृश्यन्ते शत्रवो व्याप्ता जगत्यां यैः पदे पदे
मित्रेष्वपि न विश्वासः क्षणं यैश्च विधीयते ॥१५॥

शत्रुदर्शनरोगेण व्याकुलैस्तै – रहर्निशम्
कथं काचित्मनः शान्तिः क्षणं चाप्यनुभूयताम् ॥१६॥

परं मातुङ्ग महोदयानामनुग्रहेण नास्माकं दले वैमत्याय वर्तते कश्चन स्वल्पोऽप्यवकाशः ।

चार्वङ्गी — भवतु न वा भवतु तदर्थं युष्माकं दले कश्चन स्वल्पोऽप्यवकाशः परमस्मिन्महानायकः स्वचिन्तनविपरीतं स्तोकमपि न सहते कस्यचन विनाशस्वातन्त्र्यम् ।

(अत्रान्तर एव शनैःशनैश्चलतोऽपि दीर्घं निःश्वसतो निशम्यते मायोः पादध्वनिः)

चार्वङ्गी — समायाता मातुङ्गमहोदयाः। विस्रब्धं सम्प्रति सुविधीयतां स्वविचार - विमर्शः (इत्युक्त्वा यावत् जिगमिषति तावदेव प्रविश्य मातुङ्गः)

मातुङ्गः — अहो क्व गम्यते श्रीमत्या युष्मत्परामर्शमृते कथं स्यादस्माकं कश्चन निर्णयः सर्वथा गतसंशयः।

च्यवनः — (स्वगतम्) अहो सर्वथा दुःसहमिदं मातुङ्गदारपारवश्यम्। अनेकशोऽनया विधीयतेऽस्मत्-कृतमकृतम्।

(प्रकाशम्) नूनं तत्रभवतीनामुपस्थिति-र्भवति सदैव सद्यः फलदात्री।

(देव्यामुपविष्टायाम्)

मातुङ्गः — अस्तु महामन्त्रिन् पाकस्थस्यास्मद्-राजदूतस्य सूचनानुसारं पाकस्थानमद्यत्वे भारतमधरीकर्तुं भृशं समीहते चैनीं सन्मैत्रीम।

च्यवनः — क्षणे क्षणे यथावसरं सम्बन्धं स्थापयतामुच्चाटयतां चैषां मैत्री यद्यपि नार्हति कञ्चन दृढं विश्वासं तथाप्यस्मत् - साध्यसंसिद्ध्यै स्वयमस्माभिरपि सुविधेय एवास्य शुभावसरस्य तदुपयोगः।

चार्वङ्गीः — शोभनः सर्वथा सुशोभनः श्रीमतामेष प्रस्तावः। भारतं यथास्थानं संरक्षितुं पाकमैत्री भवेत् सदैव समपेक्षिता।

च्यवनः — अहो अपरत्र श्रीमत्याः संकेतः नूनं तदप्यास्ते सर्वथा दूरदर्शितापूर्णं स्वागतार्हश्च श्रीमत्याः आकूतम्परं ततोऽपि प्राग् सुविच्छेदनीया एवास्माभिः आमरीकाणां सर्वेऽपि ते ते जम्बूद्वीप - वर्तिनो राजनयिकाः सम्बन्धाः ।

चार्वङ्गी: — क्रियतां तदपि क्रियतां यथावसरं परमधुना भारते दलपति-प्रवेशानन्तरं भारतमुद्दिश्य सदैव स्थेयम-स्माभिः सतर्कैः ।

(अत्रान्तर एव द्वारपालः प्रविश्य समर्पयति तडित्स-न्देशवाहक-मेकम्परमावश्यकम्पत्रम्)

चार्वङ्गी: — (मौनं पठित्वा मातुङ्गहस्ते पत्रमर्पयन्ती) त्रैव्रतस्य सेनाध्यक्षस्यायं सन्देशः । क्षेत्रपालानां शक्तिसंक्षयाय सेनाध्यक्षो भारतीये सीमाक्षेत्रे स्वसैनिकानाम्प्रवेशं-मनुते सद्य एव परमम् समपेक्षितम् ।

मातुङ्गः — अहो गुर्वर्थोऽयं सन्देशः (च्यवनमभिलक्ष्य) अस्तु महामन्त्रिन् कृपया रक्षामन्त्रिणा सह मध्यान्हेऽनु-गृण्हातु भवान् चार्वङ्ग्या भोजनशालाम् ।

(तत उपग्णपेयानन्तरं सर्वे समुत्थाय प्रस्थिता यथा-स्थानम्)

(८)

(चतुर्थे त्रैव्रते प्रतिज्ञादिवसे सर्वानपि नैजानुयायिनः सम्प्रेरयन् रामः)

रामोदलपतिः — सद्बान्धवाः, अयमद्य स्वजन्म भूदर्शन वंचितानाम-स्माकं चतुर्थो मासः । देवदुर्विपाकेन जन्मभुवो दूरं-

स्थितैरप्यस्माभि र्न भाव्यं किन्तु केनचित् नैराश्येन पराभूतैः। त्रिव्रतेऽस्माकं वीरवरैः क्षेत्रपालैश्चैना दस्यवस्तथार्हनिशमाक्लिश्यन्ते यथा ते कथमपि तत्र चिरं स्थातुं न प्रभवेयुः। अन्ताराष्ट्रीये च क्षेत्रे यथेदम्प्रत्यक्षमनुभूतमस्माभि-र्विश्ववौद्धसम्मेलने सर्वैरेव सुसमर्थ्यतेऽस्माकं न्याय्यः पक्षो निन्द्यन्ते च दुराचारिणश्चैनाः। ईदृशेऽनुकूले वातावरणे कथमस्माभिः स्थीयेत केनचिदात्मदैन्येन पराभूतैः। तस्मात् पावनेऽस्मिन्नस्माकं चतुर्थे प्रतिज्ञादिवसे सम्भूय प्रतिज्ञायतामिदं सुदृढ़ेनात्मविश्वासेनः—

वयं स्वतन्त्राः खलु जन्मजाताः
सदा स्वतन्त्राश्च वयं वसामः।
स्वातन्त्र्यमेतद् भुवि यो जिहीर्षेत्
स्वयं भवेत्स स्वविनाशहेतुः ॥१७॥

(सोत्साहं सर्वे सामूहिकीमेनाम्प्रतिज्ञा मुहुर्मुहुः पुनरावृत्य जयदलपते, जयत्रिव्रत, इति समुद्-घोपयन्ति. विरते जयघोपे पुनर्दलपतिः समादिशति)

दलपतिः — बन्धुवराः एषास्माकम्प्रतिज्ञा सम्प्रत्यस्याः परिपूर्त्यै सर्वैरेव भवद्भिः निःशङ्कं सुप्रकाश्याः स्वस्व विचारः स्वातन्त्र्येण।

(सर्वे—अनुकम्पिताः स्मः, मित्ररक्षितश्च रामचरणौ अभिवाद्य स्वमतम्प्रकाशयति)

मित्ररक्षितः — महामान्या। नूनं यथास्माभिः प्रतिज्ञातं तत्तथैव सुसम्पत्स्यते। परमेवं सुखं स्वकालमिह यापयद्भिरस्माभिः कथमेतत् स्वसाध्यं सुसाध्येत इति मुहुर्मुहु

विचिन्तयताऽपि मया नाद्यावधि लब्धमस्य प्रश्नस्य किञ्चिद् वास्तविकं समाधानम् ।

वसुरक्षितः — मान्यप्रवराः, मित्रवरस्य मित्ररक्षितस्य नूनमेष प्रश्नो वर्ततेऽस्माकं सर्वसामान्यः प्रश्नः । मौखिकीं सम्वेदना मतिरिच्य किं नामेह वसद्भि-रस्माभिः कदापि समधिगम्यतां विश्वमित्रादस्मात् भारतीयात् सर्व-कारात् । अत्र स्थितैरस्माभिः प्रतिदिनं स्वराष्ट्र-सेवायां स्वप्राणाञ्जलिमर्पयद्भ्योऽस्माकम्प्रियेभ्यो बन्धु-भ्यः साधुवादा अपि सम्प्रेषयितुं न शक्यन्ते, अत्रत्यै र्नेतृप्रवरैश्चाद्यापि गीयन्ते तान्येव जीर्णानि विस्वराणि चीन भारतमैत्री गीतानि । चैनैश्च न गण्यते विश्व-मानचित्रे भारतस्य काचन स्वतन्त्रा सत्ता । वास्त-विकीं स्थितिश्चैषा—

न निर्बलस्य वाक्यानां क्वचिल्लोके समादरः
भावना विश्वकल्याणी तस्य वन्ध्यैव तिष्ठति ॥१८॥

शक्तिरक्षितः — अलमावेगेन । स्थाने सत्यपि भवदीयेऽस्मिन् नैराश्या-क्रान्ते रोषे नास्माभि र्भारतीयानां सौहार्दमधिकृत्य क्षणायापि भाव्यं कदाचित् केनचित् संशयस्य लेशे-नापि संग्रस्तैः । अत्र स्थितै-रेवास्माभिः समर्जिता विश्वस्यापि विश्वस्य सम्वेदना अचिरेणैव विज्ञाते च चैनानामान्तरिके हृदये भारतीयैरपि यत् करणीयं तत् स्वत एव करिष्यते ।

आनन्दः — सर्वेषां वो निशम्यैतान् स्वतन्त्रम्प्रतिपादितान् सुविचारान् नैराश्यस्थाने समधिगतं मया नवं सम्बलम्—

चिकीर्षा प्रथमा शक्तिः प्रवुद्धा यत्र वर्तते
स्वयं तत्र स्वलक्ष्याप्ति-र्जायते-नियतात्मना ॥१६॥

प्रतिराष्ट्रं धर्मप्रसाराय विचरद्भिः प्राक्तनै-र्विद्वद्वरेण्यैः परमार्थ-प्रभृतिभिरिवास्माभिरप्यतः त्रिव्रतस्य स्वातन्त्र्याय निखिलेष्वपि राष्ट्रेषु सुप्रवोधनीया सा सम्वेदन-शक्तिर्यया प्रेरितै-रनिवार्यतस्तै विच्छेद्येरन् चैनैः सह स्वीयाः सर्वविधाः सम्वन्धा, राष्ट्रसंघेन च सुविधीयतां स्वकर्तव्यस्याचिरेणैव सम्पालनम् । आरब्धश्च विश्ववौद्ध सम्मेलनेनास्यां दिशि स्वप्रयत्नो भारतीयैश्च वन्धुभि र्यथा क्रियते करिष्यते वा तदपि न स्थास्यति चिरं सम्प्रत्यलक्षितम् ।

वसुरक्षितः — दिनमेतत् प्रतीक्ष्यते प्रतिदिनम् ।

आनन्दः — एष चास्माकं कृते तिष्यरक्षितात् काश्यपेनाधिगतो नवतमः समाचारः—

"स्थापितोऽस्माभि-र्मंगोलिया क्षेत्रेणास्माकं दैनिकः पारस्परिको विचारादान-प्रदानसम्वन्धो विधास्यते च सुविधेयमन्यदचिरेण ।

रामो दलपतिः— नूनमनेन समाचारेण प्रत्युज्जीवितास्माकं विच्छायतां-गता सदाशालता साम्प्रतं सुप्रसन्नचेतसा सम्प्रर्थ्यतां भगवान् मैत्रेयः स्थीयतां च सर्वैः सदैव धैर्येण स्वस्व-कर्तव्य पालनतत्परैः ।

(तत्तद्वाद्यवादन पुरःसरं सर्वे भवन्ति प्रार्थनानिरताः)

(६)

(अध्ययनकक्षे-लोकसभा-प्रस्ताव सूचीमनुशीलयन् भारतीयः परराष्ट्र मन्त्री)

मन्त्री (स्वगतम्) आगव्ये चैनैराणविकानामस्त्राणा-म्परीक्षणे भारतीयैरपि तत्तथैव विधेयमिति सत्यपि सर्वथा सामयिके प्रस्तावे, यद्यस्माभिरप्यनुस्रियेत विकृतमतीना-माधुनिकानां नेतृणां विश्वसंहारकः स एव पन्थाः तर्हि क्वनाम स्थीयतामहिंसोपासित्या मानवमनो-वृत्तेः केनाप्यंगेन जीवितेन । (गांभीर्येण विचारमुद्रामाश्रित्य) कीदृशी वा भवेदस्माकं गांधि-दर्शनस्य सा शोचनीया परिस्थितिः । अथवा सर्वथा परित्यक्तेऽपि गांधिमार्गे के नाम देशाः सन्ति समूल-मुन्मूल्याः । भवेन्नाम पाकस्थानं सम्प्रत्यस्माकं जन्म-जातः शत्रुः परं वस्तुतस्तु दशवर्षेभ्यः प्राक् सर्वेऽपि तत्रत्या आसन्नस्माकमेव भारतीया भ्रातरः । तत्रैव च

रम्ये लवपुरे तस्मिन् राव्याश्च पावने तटे
शुभः स्वातन्त्र्यसिद्धान्तो भारतीयैः प्रतिश्रुतः ॥२०॥

कथमेकमपद एव प्रियं च तत् लाजपतपत्तनं शक्य-मस्माभि विस्मर्तु म ।

अथ चैनाश्चेदानी भवन्तु हितैषिणो वा हितघातिनः परं भारतीये चैने च मम्बन्धे सति प्रतिदिनं मुद्दे पाश्चात्यै र्बलेनाधिकृतानि स्वप्लुतमान्यपि पूर्वदक्षिण-वर्तीनि राष्ट्राणि भवेयुरचिरेणैव स्वतन्त्राणि नात्र कश्चन संशयः ।

(अत्रान्तर एव श्रुते दूरभाषध्वनिरवे तदादाय)

पर० मन्त्री: — अहो विस्मृतम् । अतिक्रान्तः समयः । अपेक्षितानि पत्राण्यादाय सत्वरमागच्छतु भवान् । (ध्वनिग्राह-कं स्थाने निधाय पुनः स्वगतम्) प्रेषितेऽप्यद्यतने पत्रे

तदुद्देश्यसिद्धि र्न प्रतीयते सर्वथा सुनिश्चिता । श्रूयते सप्ताहान्ते पाकस्थानमागन्ता चैनः प्रधानामात्यः। मत्पत्रोत्तरं च न दत्तमद्यापि तेन महानुभावेन। (चिन्तां नाटयन्) नूनं भाव्यमत्र केनापि निगूढेन कारणेन—

दीर्घं मौनं बहुत्यन्त-गुंभं किञ्चन दौर्हृदम्
विलम्बं क्षणिकं चापि कच्चिन्मैत्री न मृष्यति ॥२१॥

अस्तु प्रेष्यतां न वा प्रेष्यतां तेन पत्रोत्तरम्परमस्मा-भिस्तु राष्ट्रियचीनस्य नाङ्गीकरिष्यते काचन स्वतन्त्रा सत्ता न वा समर्थयिष्यते भारतात् त्रैब्र-तानां तत्र गमनागमनम् ।

(प्रविशति सचिवः)

पर राष्ट्र मंत्री— (सचिवमभिलक्ष्य) अप्यनुशीलिता भवता बौद्ध-सम्मेलने पारितास्ते ते प्रस्तावाः। त्रैब्रतानां सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रासत्ता स्वीकरणीयेति तेषां मुख्यः सारः।

परराष्ट्र सचिवः—सर्वथा अव्यावहारिकम् असामयिकञ्च तत् सर्वम् । किमनेन साध्यम् किं वा (अत्रान्तर एव नैरन्तर्येण श्रूयमाणे दूरभाष-संरावे शुश्रूषति च सचिवे मंत्री-ससंभ्रममुत्थाय)

परराष्ट्र मंत्री— अहो रक्षामंत्रिणो महत्वपूर्णः कश्चनायं संदेशः (दूरभाषमादाय) आम् अहमेष जवाहरः (निशम्य सोद्वेगम्) किम्, किम् अहो पराकाष्ठेयं दौष्ट्यस्य, न केवलं निगृहीता अपितु पृष्ठतो निहता अप्यस्म-त्सीमारक्षकाः सैनिकाः । अस्तु सर्वं समपेक्षितं सुविधाय द्रष्टव्योऽहमनतिचिरेण सत्वरं भवता ।

(दूरभाषं निधाय सचिवम्) लब्धमस्माभिरस्मत्प्रत्युत्तरम्। धूर्तैस्तैः कृताद्य भारतीया धरा भारतीयेनैव रक्तेन रक्ताप्लाविता। कार्यालयं गत्वा साम्प्रतमाकार्यतां तत्र चैनो राजदूतो यथा सम्भवमविलम्बेन। (प्रणम्य सचिवः प्रयाति जवाहरश्च सोद्वेगमितस्ततः संचरन्)।

प्रदर्शिता हन्तजनै - रमीभिः
विश्वासघातस्य परैव काष्ठा।
सभ्येष्वसंभावितमेव यत्स्यात्
तदेव धूर्तैः कृतमद्य नग्नैः ॥२२॥

(इति श्री देवीप्रसाद शास्त्रितनय विद्याधर शास्त्रि विरचिते
दुर्बलबले द्वितीयोऽङ्कः)

दुर्बलबले

अथ तृतीयोऽङ्कः

(१)

(अथ प्रविशति आसन्द्यामासीन, आत्मचिन्तनमग्नो भारतीयो वैदेशिको महामात्यः)

जवाहरः — (आत्मगतम्) धन्याः सर्वथा धन्याः स्वराष्ट्र-सम्मान-रक्षकाः प्रतिदिनं स्वप्राणाहुति-समर्पका इमेऽस्माकं वीरप्रवराः सैनिकाः धिक् चास्माकमेनाम-दूरदर्शिनीं विवेकदृष्टिं यया न मनागपि कदाचिदपि लक्षितः खलुः खलानामेषामेष दुरभिसन्धिः। (क्षणं सविशेषं विमृशन्) अथवा

वस्तुस्थितेः कठोरायाः स्यातुमग्ने न कर्हिचित् ।
आदर्श-मृंतुभिः सत्यं केवलं कल्पनोद्गतैः ॥१॥

(उत्थाय शनैः शनैः संचरन् स्वगतम्) समूलमुन्छि-न्नाद्यायिलेयं मे विश्वहितैपिणी वतागावल्ली। प्रायः प्रत्यहः पंचशीलोपदेशकैः प्रत्यहञ्च भ्रातृभावोद्घोप-कैरेभिश्चैनैः महसैवमनार्यं माचर्यंत-इनि स्वप्नेऽपि मया नाशंकितमासीत् कदाचिदेवम् (क्षणम्पुनर्विमृश्य) अथवा सर्वाशाप्रकाशकेऽस्माकं नवे स्वातन्त्र्याभ्युद-येऽस्माभि रेव तदानीमानन्द घोरमुपेक्षिताः खल्वे-तेऽखिलाः वैश्वतादि गताः सामान्याः प्रश्नाः । सुस्पष्ट-मिदानीं किन्त्वनुभूयतेऽस्माभि र्यद्राजनयक्षेत्रे नभवति-किञ्चन सामान्यम् ।

जनानां गतयः सर्वा राष्ट्राणां स्थितयस्तथा ।
नये सर्वमसामान्यं सामान्यं नात्र जायते ॥२॥

असामान्येऽप्यखिले किन्तु नयक्षेत्रे यादृशीयमसामान्यता साम्प्रतमाश्रिता विश्वासघातिभिरेभिर्बर्बरैश्चैनै, न सा सामान्यतोऽसामान्यतो वा भवति क्वचिदन्यत्र समुदाहृता (सामर्षम्) निभृतं विहिताय खल्वस्मै जघन्याय रक्तपाताय नाममात्रेणापि कश्चन खेद प्रकाशनमनाचरद्भिरेभिरनाचारिभिरारब्धमधुना तैस्तै-र्मिथ्या प्रमाणैः प्रमाणयितुं सनातनं नैजमाधिपत्य-मस्माकं क्षेत्रे (विरस्य)

सर्वजनमानस – विक्षोभकेणैपामनेन दुर्व्यवहारेण जातेऽपि समस्ते भारते विक्षुब्धेऽथ च—

नित्यं नूतनदोषवर्धनपरे शाठ्येऽप्यमीषामहो
नाद्यापि स्थिरताम्प्रयाति नियते ध्रौव्ये कचिन्मे मतिः ।
स्पष्टं शात्रवघोषणं समुचितं किं वा प्रतीक्ष्यम्पुनः
गुप्तं गुप्ततरं न पृष्ठहननं मह्यं क्वचिद्रोचते ॥३॥

(वैयक्तिकः सचिवः प्रविश्य दर्शयत्यद्यतनं लोक-संसत्कार्यक्रमम्) (कार्यक्रममनुशील्य) अहो प्रश्नोत्तर काल एव समपेक्ष्यते संसदि मदीया समुपस्थितिः अस्तु, भवामि समये समुपस्थातुं सत्वरं सुलज्जः । सह्या एवाद्य मौनं मया सर्वतोऽपि निपतन्तः क्षुब्धानां सदस्यानां सर्वेऽप्येते ते ते वाग् वज्रबाणाः ।

(प्रविशति निवेशनमन्तः)

(२)

(लोक संसदि अध्यक्षो यथाक्रमम् प्रश्नान्प्रष्टुमादिशति)

जनवर्गीयः — (समुत्थाय) अपि नाम चैनैरनधिकृतं कृतेऽस्मिन् प्रवेशे भारतीये क्षेत्रे, भारतीयेन शासनेन विहितः कश्चन सुदृढः सीमासंरक्षकः प्रबन्धः, प्रकाशितो वा चैनै-र्दुष्कर्मणोऽस्मै हार्दिकः कश्चन पश्चातापः ।

परराष्ट्र सचिवः — सखेदं वतेदं सूच्यते यदस्माभिरनुरुध्यमानेऽप्यनेकशः चैनै र्न दत्तमद्यावधि कस्यचनैकस्याप्यस्माकम्पत्रस्य किञ्चिदुत्तरम्, न वा स्वीकृतं तैरस्मद्-राजदूतेनार्पितं किनपि भारतीयं विरोध-पत्रम् ।

श्री कृपलानी — (सामर्षमुत्तिष्ठन्) अहो अक्षम्या सर्वथा असह्या च चैनानां सैन्याधिकारिणामेषा धृष्टता । अतोऽपि दुःखावहं चैतद् यदेषामनेन-दुर्व्यवहारेण संजातेऽपि स्वभावतः परमविकले सकलेऽपि भारतीये जनमानसे, नाद्यापि भारतीये शासक वर्गे दृश्यते तत्प्रति किंचन राष्ट्रव्यापि प्रतिचेष्टनम् । अस्या दुरुपेक्षायाः शासनानुभवहीनाया अदूरदर्शिन्या अस्माकं परराष्ट्रनीते-रेवायं दुष्परिणामो यच्चैनै-रपहृतं त्रैव्रत स्वा-तन्त्र्यं कृतश्चायं तैरस्माकं क्षेत्रे निर्भयम्प्रवेष्टुमेष दुःसाहसः ।

अध्यक्षः — श्रीमन् नैष व्याख्यान काल. अपितु प्रश्नोत्तर-कालः ।

अनेके सदस्याः— (युगपदेव स्वाभिमतं निरूपयन्तः) श्रीमन् नूनमेष प्रश्नोत्तर कालः । परमस्पष्टैः प्रश्नैरस्पष्टैश्चोत्तरै र्न भवति किमपि सुस्पष्टम् । सीमाप्रदेशे घटितेयं घटना नास्ति काचन सामान्या घटना न वा चैनानामिदम-कृत्यं वर्तते मौनमुपेक्ष्यं क्षम्यं वा किञ्चन सामान्यं व्रत कृत्यम् । सर्वमप्यपरं कार्यक्रममतिक्रम्य वयमद्य सर्वप्रथमम् अस्माकं मान्यवरान्महामन्त्रिणः स्व-

राष्ट्रसीमा-रक्षामधिकृत्य प्रदत्तं वक्तव्यमेव श्रोतुं वर्तामहे भृशमुत्कण्ठिताः ।

(३)

(अध्यक्षो नेहरूमभिपश्यति)

जवाहरः — श्रीमन्तः, अद्यतना अन्ये प्रश्नाश्चेन्मान्यैः सदस्यैः पुनः पृच्छ्यन्तां तर्हि सीमासंरक्षणप्रश्न एवाद्य भविष्यत्यस्माकं मुख्यतया सुविवेच्यो-विषयः ।

अध्यक्षः — शोभनं सर्वथा सुशोभनमेतत् । सीमासंरक्षणमधिकृत्याधुना-कृपलानि महोदयैः कथ्यतां स्वकथ्यमशेषतः ।

कृपलानी — अनुगृहीतोऽस्मि, सीमासुरक्षायै मन्मते सम्प्रत्यस्माभिः सद्य एवास्ते परिष्कार्याऽस्माकमखिला परराष्ट्रनीतिः । समाश्रयणीया च दस्युदल-दुःसाहस साहिनी सा खलु दण्डनीति र्यथा

लोके नोत्सहतां हि कश्चन रिपुर्द्रोग्धुम्पुन र्न क्वचित्
दुष्ट-ध्वंसनतत्परा हि सततं ख्याताजगत्यां वयम् ।
स्वाधीना नहि बन्धनै-र्निगडिताः कैश्चित् भवामो वयम्
स्वातन्त्र्यं न च दुर्जनैरपहृतं कस्यापि सह्यं हि नः ॥४॥

अचलः — श्रीमन्, न केवलं परराष्ट्रनीतिरपितु प्रतिक्षेत्रमस्थिरा अस्माकं मनः-प्रवृत्तयोऽपि वर्तमाने सन्ति सर्वा एव सावधानं सुपरीक्ष्याः । प्रत्यक्षं शत्रुवदाचरन्तोऽपि देशा नास्माभिर्मन्यन्ते शत्रवो नचोपकारिणः क्वचिदभिनन्द्यन्ते कृतज्ञैरस्माभिः सक्रियेण सौहार्देन । अस्याः संकुचितायाः मनोवृत्तेरेवायं दुष्परिणामो—

दुर्गाक्रान्तेऽपि भारतीये भूभागे केवलमन्तरेव तुषाग्निरिव धूमायमानैरप्यस्माभि र्युगपदेव प्रज्वल्य न

भस्मसात् विधीयन्ते सर्वेऽप्येते दस्यवः। वस्तुस्थितिश्च साम्प्रतमीदृशी यत्रानिच्छद्भिरप्यस्माभि-र्भाव्यमेव व्यापकाय संघर्षाय सुसज्जैः।

सुप्ते जाग्रति मूर्ध्नि यत्र सततं युद्धस्य भीति र्भवेत्
शङ्कु-र्मूषकवत् तथा प्रतिपलं निद्रां मुहु र्वाधिताम्।
सह्यं तत्र जनैः कियच्चिरमहो चिन्त्यं क्षणं तद् वुधै
रुन्मूल्यो हि गजो न यावदयतेऽज्ञाव्यामसौ दुःस्थितिम् ॥५॥

तथापि न वयं केनचिन्महता संघर्षेणाखिलामपि विश्वशान्तिं विचलितां कर्तुमीहामहे। व्यापकस्य संघर्षस्याभावेऽपि परमिदानीमस्माभिः—

वाले वाले नवाशक्ति र्नवा काचिच्च चेतना।
आधेया भारते सद्यो राष्ट्ररक्षाधृतव्रतैः ॥६॥

सर्वैः सम्भूय संरक्ष्यं क्षीणं भारत गौरवम्।
आत्मशक्तिश्च संधेया हातव्याचात्महीनता ॥७॥

(४)

(अपराह्णे प्रविशति च्यवनेन सह विमृशन् मातुङ्गः)

मातुङ्गः — (हस्ते पत्रमादाय) इदं तत् प्रातरागतं वैरतस्य सेनापते-र्गोपनीयम्पत्रं, एपा चास्या भारताभिषेण-यित्री विस्तृता योजना।

च्यवनः — (पत्रमनुशील्य) नूनमियं सैनिकी व्यवस्था परि-पूर्यतां सैनिकै-रेव साधनैः मान्या एव चात्र प्रधानम्प्रमाणम्।

मातुङ्गः — वैरतानां दमनाय दम्या एव तेपां सहायका नात्रास्ति किञ्चन विशेषतः चिन्त्यम्।

लालबहादुरः — महाभागाः, चैनानामनेन जघन्येनाचरणेन विक्षुब्धै-र्मान्यैः सदस्यैः प्रकाशिता इमे हृदयोद्गाराः सन्ति नूनं सर्वथा स्वाभाविकाः। परं वयं न वर्तामहे सर्वथा क्षीणशक्तयः।

सम्मानपूर्ण-व्यवहार कामा भव्या वयं चिन्त्यमिदं न चैनैः
सर्वेऽपि देशाः सुखशान्तिपूर्णाः तिष्ठन्त्विदं सन्ततमीप्सितं नः ॥८॥

यथा चाहं विश्वसिमि चैनैरप्यवश्यमस्यै घटनायै जायतामनुतप्तैः।

अचलः — (मध्ये समुत्थाय) चैनैरनुतप्यतां वा नानुतप्यताम्, कियच्चिरं किन्तु शत्रु-सन्तोषिणी, नीतिरियं सर्व-कारेणाश्रयिष्यते सर्व सम्प्रत्येव प्रतिपाद्यं मन्त्रिवर्यैः।

लालबहादुरः — नीतिरियं न शत्रुसन्तोषिणी नापि निर्मूलेन केनापि विश्वासेन विदूषिता अपितु वयं हि—

रक्षामोऽन्तर्हितं तेजः प्रच्छन्नं हृदि तत् क्वचित्
क्षणम्प्रोद्दीप्यमानं यत्कुरुताद्, भस्मसादरीन् ॥९॥

अजेशः — मान्यः, सत्स्वपि सप्राणेषु खल्वेषु विचारेषु, चैनानु-हिश्याश्रिताऽस्माकं वर्तमाना नीति-र्नास्ते वस्तुतः सशक्तेत्यङ्गीकार्यमेवमन्त्रिवर्यैः त्रिब्बतानां स्वातन्त्र्य-मपहृत्य भारतीये क्षेत्रेऽपि स्वदुर्दृष्टिम्पातयतामेषां चैनानां वस्तुतो न कदापि स्वीकृतोऽस्माभिस्त्रिब्बते कश्चन सामान्योऽप्यधिकारः। परमद्य तैः त्रिब्बतमधि-कृत्यारब्धोऽस्मद्-क्षेत्रेऽपि स्वप्रवेशः वयं च निःसहाया इव दृष्ट्वा सर्वमिदं मौनं वर्तामहे सर्वथा निष्क्रियाः।

प्रधानामात्यः — नूनं नास्माभिः त्रिब्बतानां स्वायत्ते प्रदेशे कदापि सम-र्थितः चैनानामधिकारः, न च वयं भारतीयानां सैनिकानामेनममानवीयं हननं केनाप्यंशेन - महामहे मौनम्। चैनानामुत्तराय यावत् प्रतीक्ष्यं तावत् प्रतीक्ष्य पुनर्यद् विधातुमुचितं तद् विधास्यत एव नूनमविलम्बेन।

अध्यक्षः — मन्मते प्रधानामात्यस्यैतद् – वक्तव्यानन्तरं न चेत् सदस्यैरन्यथा मन्येतापराण्हेऽन्येऽपि प्रस्तावः प्रस्तोष्यन्ते (मौनं स्वीकृतेऽध्यक्षमते भवति विरामः)।

(३)

(त्रैव्रतानां शिविरे लोकसंसत्–सत्र चर्चा–निरताः–त्रैव्रताः)

मित्रगुप्तः — अस्तु काश्यप, समाप्तप्रायमेव सम्प्रति ते लोक संसत्–सत्रम्। नाद्यापि किन्त्वस्माकं समस्यायास्तत्र दृश्यते काचन नवाशासंचारिणी समाहितिः।

काश्यपः — अरे अलमधुना व्यर्थं दुराशाववर्धकैरेभिस्ते काल्पनिकैः स्वप्नैः। न मया केपूचन संसत् सत्रेष्वावारिता मदीया काचन निष्ठा। निरन्तरं ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिरिति प्रजपद्भ्यो भारतीयेभ्यश्च शान्तिपाठमतिरिच्य किमधिकमाशास्यतां केनापि देशकालज्ञेन विज्ञेन। प्रत्यक्षमालक्षिता चास्माभिरेषां शक्तिः।

हत्वापि येषां हि भटान् निगूढं तेष्वेव दोषं च निपातयन्तः।
शृण्वन्ति येषां न वचांसि चैनाः कुर्वन्तु ते त्रिव्रत–मुक्तये किम् ॥१०॥

शक्तिरक्षितः — अरे अस्थाने खल्वसौ ते दुराक्रोशः। क्षणमपि भारतीया नाधुना चैनानां केनचित् छद्मान्वितेन भ्रातृभावेन भवेयुर्विप्रलब्धाः।

विश्वासतन्तुः सकृदेव भग्नः पुन र्न संधानमुपैति नूनम्।
मृत्पात्रभङ्गः शतशोऽप्युपायैः संधीयते नैव पुनः कदाचित् ॥११॥

मित्रगुप्तः — (भिक्षुमवलोक्य) विश्वबन्धो, क्व चिरायितमेतावत्–कालम्। प्रतिदिनं तत्रभवतो दर्शनाय प्रथियतां नः पुनरपि स्वजन्मभू–दर्शनाशा–विधायकं सूत्रं छिन्नप्रायमेवाधुना सर्वम्। यत्र चेदं येनकेनाप्यंशेन किञ्चिदासीत् लोक संसत्–सत्रानुगतं तदपि सम्प्रति तथा परिशीर्णं यथानान्यः कश्चन नवाशाधायकोऽवलम्बः

क्वचित् संलक्ष्यतेऽस्माभिः ।

आनन्दः — (सोत्प्रासम्) अहो सर्वथा त्रैव्रतसंस्कृति-प्रतिकूल-मेतद् व आत्मदौर्बल्यम् । असामयिकं च सर्वसमुल्लासकेऽप्यस्मिन्नवसरे नैराश्याब्धि-निमज्जनमेतत् । क्षणम्प्रतीक्ष्यमेवेशिया राष्ट्राणां महासम्मेलनस्यापि ते ते त्रैव्रतहित-संरक्षका निर्णयाः । संरक्ष्यश्चायं सुदृढो विश्वासो यदचिरेणैवाधुना सर्वमिदम्परिणमेत् त्रैव्रतानां सर्वाभ्युदयावहे समुज्ज्वले समये । (अभिनवाणा संचारकमानन्दस्य नवतमं सन्देशमेनमाकर्ण्य पुलकिताः सर्वे) अस्तु, वन्धो, अविश्वासेन ग्रस्ता अपि वयम्पूर्णं विश्वसिमः श्रीमतः सप्राणेषु खल्वेतेषु वचनामृतेषु । भवतु भवतो भगवतो मैत्रेयस्यानुग्रहेण सर्वाभिमतासिद्धिः । आनन्दः अहमधुना महामान्यस्य दलपते-र्दर्शनान्तरं सिंहपुरसम्मेलने समवेत्य ततो सेनापतिप्रवरेण चाङ्गेनापि स्थापयिष्यामि स्वसम्पर्कम् । इह भवन्तु भवन्तश्च मदीयस्य सहयोगिनः श्रीशिवानन्दस्य ब्रह्मचारिणः प्रतिक्षणम् प्रियतमाश्च सक्रियाः सहयोगिनः ।

त्रैव्रताः — ओ३म् । विजयतां भिक्षुरानन्दो विजयतां च शिवानन्दो ब्रह्मचारी ।

(४)

(अपराह्णे प्रविशति च्यवनेन सह विमृशन् मातुङ्गः)

मातुङ्गः — (हस्ते पत्रमादाय) इदं तत् प्रातरागतं त्रैव्रतस्य सेनापतेर्गोपनीयम्पत्रं, एषा चास्य भारताभियेणचित्री विस्तृत योजना ।

च्यवनः — (पत्रमनुशील्य) नूनमियं सैनिकी व्यवस्था परिपूर्णा सैनिकैरेव साधनैः मान्या एव चात्र प्रधानम्प्रमाणम् ।

मातुङ्गः — त्वैव्रतानां दमनाय दम्या एव तेषां सहायका नास्तेऽत्र किञ्चन विचिन्त्यम् ।

च्यवनः — अचिन्त्येऽप्यस्याः सैनिके पक्षे चिन्त्याऽत्र केवलमन्ता-राष्ट्र – व्यापिनी प्रतिक्रिया । लद्दाखसीम्नि पूर्वं तैरपराद्धमस्माभि र्वा न तत् केनाप्यद्ययावत् सुनिश्चितं परं व्यापकमाक्रमणं न तिष्ठेत्तथैवान्त-र्हितं वयमेव चैतदर्थं गणयिष्यामहे प्रमुखा अपराधिनः ।

मातुङ्गः — अहो के तेऽस्माकं निन्दका वा प्रशंसकाः । न मया स्वसाध्य-सिद्धौ कदाचन श्रुता समादृता वा कस्य-नान्यस्य काचन सम्मतिः ।

(प्रविश्य मातुङ्गपत्नी चार्वङ्गी)

चार्वङ्गी — रक्षामन्त्रिणोऽपि निर्दिष्टे काले समुपस्थिताः प्रती-क्षन्ते बहि स्थिताः सम्प्रति मान्यानामपरमादेशम् ।

मातुङ्गः — उपविशत्वत्रैवात्रभवती । नचिरात् रक्षामन्त्रिणो-ऽप्यत्रैवाकारयिष्यन्तेऽस्माभिः । प्रातः कालीने पत्रप्रसंगे च च्यवनमते भारतस्यावस्कन्दना त्पुराऽस्माभि-रन्ताराष्ट्रिया प्रतिक्रियास्ते सम्यग् रूपेण पर्यालोच्या ।

चार्वङ्गी — निरर्थकं सर्वमेतत्कातरोचितं कल्पनम्:—

किमेभिः कथ्यत किं तैः कथ्येत इति शंकिताः
वेपन्ते कातरा नित्यं साहसी लभते श्रियम् ॥१२॥

अथ च-नह्यन्यस्य क्षुधाशान्त्या क्षुधा स्वीया निवर्तते
सर्वैः स्व स्व क्षुधाशान्त्यै स्वस्वभक्ष्यं विमृश्यते ॥१३॥

मातुङ्गः — सर्वथा राजनयानुकूलोऽत्रभवत्या एष सत्परामर्शः । यदि नाद्य तर्हि परश्वोऽवश्यमेवारम्येतास्माभिरेष संघर्षः । कारणं चात्रः—

क्षणे – क्षणे भूरि विवर्धमाना यज्जाम्बवी जांगलवृद्धिरेषा
सुखेन शोध्या न पुन र्हि यत्स्यात् विधीयतामद्य विशुद्धिरस्याः ॥१४॥

च्यवनः — (क्षणं विचिन्त्य) अस्तु श्रीमन्, यद्येवमेव विधेयं तर्हि सद्य एव स्पष्टं शात्रवमनाश्रित्य कश्चित् काल-मस्माभिः परिपोष्यं भारतीयैः कृत्रिमं सौहार्द-सांस्कृतिकानां मण्डलानाम्प्रेषणेन तेषां जीवनेऽन्तः प्रविश्य ज्ञेयानि च तेषां रहस्यानि ।

मातुङ्गः — नात्र मे किञ्चन वैमत्यम् । आहूयन्तां चात्रैव सम्प्रति रक्षामन्त्रिणः स्वाभिमतस्य प्रकाशनाय ।

सेनाध्यक्षः — (प्रविश्य) अस्माकं सैनिक्याः शक्त्याः सम्मुखे न कापि गणना भारतीयानां सैनिकानाम् । मदभिमतेन च सुपरिचिता एव श्रीमन्तः । नाहं बिभेमि संघर्षात् ।

जीवनं तद्धि निष्प्राणं न युद्धं यत्र सन्ततम्
निष्प्राणं ह्यथ राष्ट्रं तत् शान्त्यै यच्चेष्टनेऽनिशम् ॥१५॥
निष्प्राणः स समाजश्च द्वन्द्वस्थः सन्ततं न यः
तरुणास्ते च निष्प्राणा नित्यं ये स्यु र्न सक्रियाः ॥१६॥

मातुङ्गः — साधुप्रतिपादितम् । सम्प्रति त्वैतेन सेनापतिना सम्पर्कमासाद्य यद् विधेयं तद् विधीयतां पूर्णेन मनो-योगेन ।

(गृहीत आदेश इत्यभिधाय सर्वे प्रस्थिताः)

(५)

(वीरभद्रेश्वरमन्दिरस्थः शिवानन्दो ब्रह्मचारी)

शिवानन्दः — हे नाथ, आश्चर्यं महदाश्चर्यं यत् शान्तिनिलये त्वदीये हिमालये घटितेऽप्येतस्मिन् निखिलविश्वविक्षोभके सुहृज्जनरक्ताप्लुते विश्वासघाते नाद्यापि ते समाधौ दृश्यते कश्चन विक्षेपः । नेदं समाधि मौल्यं सम्प्रति

किन्तु भवेत् चिराय सुलभम्। निःसंकोचं, निःशंकं च खलैर्विध्वस्तेष्वखिलेष्वपि त्रैव्रतानां वौद्धानां योग-समाधिस्थलेषु नेदानीं शैवैरपि क्वचित् शक्यं शान्तं योगमाधातुम्।

सिद्धेश्वरः — (सहसा प्रविश्य) न शक्यं चेद् वीरेश्वरोऽपि पदे पदे पलायनपराणां युष्माकं न भवेत् क्वचित् सहायकः। मन्दिराद् वहिरागत्य सज्जीक्रियन्तामधुना सर्वेऽपि शैवाः। अस्माकं देशवासिनोऽद्यापि चैनान् मन्वते स्ववांधवान्। ते च मिथ्यामैत्री-प्रदर्शनप्रयोगनिपुणा ऐन्द्रजालिकास्तत्तत् प्रकारैरस्माकमन्तः प्रविश्य निकृन्तन्त्यस्माकं मर्म स्थलानि

शिवानन्दः — अहो आसुरीयोऽभिसन्धिः !!

सिद्धेश्वरः — सर्वमेतत् प्रत्यक्षमनुभवद्भिरस्माभिः रघुना सर्वप्रथमं सर्वत्र समुद्घोष्यमेतत्—

मित्रे विश्वासपात्रे यः पृष्ठतो घातमाचरेत्
विश्वासं हि स कुत्रापि क्षणमर्हेन्न कस्यचित् ॥१७॥

चैनप्रवेशम्प्रतिरोद्धुं सज्जीक्रियन्तां च सर्वत्र सर्वे शैवाः।

शिवानन्दः — अरे कथं नाम—

जीवत्सु शैवेषु शिवस्य वासः कदर्थ्यतां केन हिमालयोऽयम्
शान्तिप्रियानत्र विहाय देवान् न दानवानामुचितः प्रवेशः ॥१८॥

रे चीनदस्यो, त्यज दुष्टदर्पं जहीहि लद्दाखमहीं च सद्यः
कामं हि सह्यो भुवि कष्टजालः सह्यं खलत्वं न परं खलानाम् ॥१९॥

सिद्धेश्वरः — आगच्छ तर्हि सम्प्रत्येव साधयावस्तथा। शिवं नो विदधातुशिवः।

(६)

(अनिवार्याय सैनिकशिक्षणाय परिषदि कृष्णचन्द्रः प्रस्तौति)

रामराज्यीयः कृष्णचन्द्रः — मान्याः नेदमविदितं तत्रभवतां यद् बदरी-विशालक्षेत्रान्नातिदूरेऽवस्थितैश्चैनैरहर्निशमद्य तत्तीर्थ-स्थलं विधीयते विविधैं विक्षेपैरभिभूतम्। शंके प्रदेश एष तैराक्राम्येत कदाचिदकस्मात् तस्मात् शत्रूणामप-सारणाय संवर्धनीयमेवास्माभिरप्यस्माकं - सैनिकं-सामर्थ्यं विधेयं च तत् शिक्षणमनिवार्यम्। सशक्तं भारतं न केवलं भारतस्यैवापितु स्वल्पसाधनाना-मन्येषां राष्ट्राणां स्वातन्त्र्यमपि संरक्षितुम्प्रभवेदिति सुदृढो मे विश्वासः।

सशक्तस्यादरो लोके स्वयं सिद्धः सनातनः
वचो नाद्रियते कैश्चित् क्लीवानां च भुवि क्वचित् ॥२०॥

क्षणिकेनाप्युपेक्षणेन च साम्प्रतम्—

त्रिविष्टपेऽद्य यज्जातं तत् श्वोऽत्रापि जायताम्
सद्यश्चेन्न निरुध्येत प्रवाहोऽसौ भयावहः ॥२१॥

सशक्तेषु चास्मासु—

बिभेति भीतिः स्वयमूर्जिताद् भवे स्पृष्ट-स्तृणेनापि च कम्पतेऽबलः
शोच्या परा कापि दशा च नातः वयं हि तेषां दृशि वेदसाराः ॥२२॥

निर्दलीयो भीमसिंहः—सर्वथा सामयिकोऽयम्प्रस्तावः। वस्तुतो यद्दिनाद-स्माभिरुपेक्ष्यास्माकं निरवद्यानि नीतिशास्त्राणि, अवहेलितः सनातनः क्षात्रोचितो वैदिको धर्मस्तद्दिना-देव भारते दुरारब्धाः सर्वेऽप्येते राजनीतिका सांस्कृति-काश्च व्यतिक्रमाः। स्थापितञ्च विरक्तोचितै-र्भावैः

स्वप्राबल्यम् सत्यप्यहिंसाधर्मे परमेधर्मे—

भिन्नमाध्यात्मिकं क्षेत्रं भिन्नं च व्यावहारिकम्
तयो र्न संकरः कार्यः सर्वत्र प्राकृतै र्जनैः ॥२३॥

हरिसिंहः — शस्त्राणि निक्षिप्य वैराग्यस्याश्रयणं न शिक्षितं किन्तु कैश्चनास्माकं महर्षिवर्यैरिति सर्वप्रथमस्माभिः, सर्वेऽपि

सीमावासिनो विधेया एव शस्त्रप्रयोग निपुणाः।

रक्षामंत्रीः — भवतु न वा भवतु भारते सैनिकं शिक्षणमनिवार्य-म्परं न वयं वर्तामहे स्वशक्ति-संवर्धन-कर्मणि कयाचन दुरुपेक्षया दुर्ग्रस्ताः। सम्प्रति शक्तिरस्माकं चतुर्गुणं सुदृढेति मान्यैः सदस्यैः शक्यते स्वयं तत्र निरीक्षितुम्।

जनवर्गीयः — राज्येन यद्विहितं तदर्थं धन्यवादाः परं नैभिरस्था-यिभिः प्रबन्धैः समाधीयन्तेऽस्माकं सर्वाः समस्याः, सीमा प्रदेशादविलम्बेनापसारणीया एव सर्वे राष्ट्र-द्रोगधारः, राष्ट्रभक्ता भारतीयाश्च तत्र संस्थाप्याः।

(गृहमंत्रिणा स्वीकृतेऽस्मिन् विचारे भवति सभा विसर्जिता)

(७)

(स्व स्व विचारान् प्रकाशयन्तः सिंहपुर-सम्मेलन-प्रतिनिधयः)

सिंहपुरीयः स्वागतमंत्रीः—श्रीमन्तः, राष्ट्राणां स्वातन्त्र-रक्षणायात्र-समवेतानां श्रीमतां स्वागतेन वयमद्यवर्तामहे परमं सौभाग्य सम्भाजः। नात्र किञ्चिन विशेषतो वक्तव्यं यत् स्वरक्षार्थं प्रतिपदमद्य समपेक्ष्यते पारस्परिकः सहयोगः। सखेदमिदं किन्तु मया निवेद्यते यत् साग्रहमनेकशः सम्प्रार्थिताश्रपि पीकिंग प्रतिनिधयो न सन्त्यत्र समुपस्थिताः।

मङ्गोल प्रणिधिः—नूनं पीकिंग-प्रतिनिधीनामनुपस्थितिरास्ते सर्वथा शोचनीया परं नैतावतैवास्माभि – र्निलम्बितुमुचिता अस्माकं निर्णयाः। सुविदितं चेदं सर्वेषां यदद्यत्वे चैनैः प्रायः सर्वैरेव स्वप्रातिवेशिकैः प्रदेशैः समारब्धास्ते ते सीमाकलहाः।

मलय प्रणिधिः यत्र च नास्ते सीमाकलहस्तत्रापि तैरेव प्रोत्साहितै-श्चैनैः प्रतिदिनं विधीयते नवोनवः कलहः।

लङ्का — जातानि च सर्वाण्यपि तानि राष्ट्राणि गृहयुद्ध-ग्रस्तानि ।

यव द्वीपिनः — सद्य एव न समावीयेत चेदियं समस्या प्रतिनगरं प्रतिग्रामञ्च व्याप्तेनानेनगृहयुद्धेन सर्वेषामप्येषां राष्ट्राणां राज्यव्यवस्था भवेत् संशयग्रस्तेति नात्र कश्चन संशयः ।

भारतीयः — चैनैर्यद्यपि नास्तेऽस्माकं कश्चन विरोधो न वा वर्तते तेषां भारते काचन नागरिकी सत्ता परं यथाद्य तैर-स्माकं वन्येषु प्रोत्साह्यते विद्रोहस्य भावना यथा च तैः ते सुसज्जीक्रियन्ते शस्त्रास्त्रैस्तत्रास्ते किमपि मित्रराष्ट्रोचितं कार्यम् । नैव्रते च यथातैराचरितं तेन श्रीक्रमादयो देशा अपि सम्प्रति न सन्ति सुरक्षिताः ।

जयपानीयः — अस्याम्परिस्थितौ सद्यएवेदानीमस्माभिः
कार्यश्चैन – वहिष्कारो व्यापारे चान्यकर्मसु
सैन्यमेकं च संरक्ष्य रक्षायै नित्यमुद्यतम् ॥२४॥

तापहरीयः — शोभना सर्वथा सुशोभनेयं श्रीमतां सुसम्मतिः

अध्यक्षः — एवं सति खल्वेष नः सर्वसम्मतो निर्णयः—

जम्बूद्वीप निवासिषु प्रतिपलं भ्रातृत्वमावर्धताम्
औद्धत्यं फलमाप्नुतां निजकृतेः सह्यं न शाठ्यं क्वचित् ।
भूभागा अथ येऽपि यस्य विषये सन्तिस्थिताः साम्प्रतम्
निर्द्वन्द्वं गतभीतयः स्थिरपदास्तत्रैव तिष्ठन्तु मे ॥२५॥

(इति दुर्बलबले तृतीयोऽङ्कः)

दुर्बलबले

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(१)

(सिंहपुरसम्मेलने पारितानाम्प्रस्तावविशेषाणामनुचिन्तने निरता चैनी मन्त्रिपरिषत्)

मातुङ्गः — (च्यवनमभिलक्ष्य) भवन्मते कतमः खलु प्रस्तावोऽस्य सम्मेलनस्य वर्ततेऽस्माभिरिह प्रामुख्येन विमर्शनीयः ।

च्यवनः — श्रीमन्तः, मद्-दृशि सम्मेलनेऽस्मिन् बाह्याडम्बर-प्रदर्शनमतिरिच्य न जातं किमपि व्यावहारिकं फलवत् कार्यम् । न ह्येषामधिकार-प्रदानेन स्वैरता भवेयुः स्वायत्ता न वा वयं वर्तामहेऽस्माकं कस्यचनार्थिकस्य राजनीतिकस्य वा प्रश्नस्य समाधानाय देशानामेषामाधीनाः । तथापि यद्यत्रास्ते किमपि विचिन्त्यं तत् खल्वेतदेव यत् सर्वथा नगण्यै-र्मलयादिभिः प्रदेशैरपि समारब्धमस्माभिः सह प्रतिस्पर्धितुम् ।

मातुङ्गः — (सरोषम्) नूनमक्षम्योऽयं क्षुद्राणामेषाम्प्रदेशानां दुःसाहसः सर्वेऽप्येते समुद्-बोधनीयाः सुस्पष्टम् ।

सह्येत नौद्धत्यमिदं हि तेषां चीन-प्रतिष्ठा-प्रतिकूलवर्ति
हिताय तेषामनुवर्तनं नः-त्याज्यो विरोधश्च विनाशहेतुः ॥१॥

च्यवनः — प्रेषितेऽपिमान्यानामस्मिन्नादेशे चिन्त्या एव तत्रस्था प्रवासिनः

मातुङ्गः — प्रवासिनश्चैनानविकृत्य सुनिश्चितैवास्माकं नीतिः—

यत्रापि ये केचन सन्ति चैनाः ते तत्र सर्वे प्रियदेशजा नः
न ते क्वचित् कैश्चन पीडनीयाः तत् पीडनं स्यात् खलु पीडनं नः ॥२॥

तेभ्यः प्रदेया अचिरेण सर्वैः समानरूपेण समेऽधिकाराः
कृते च भेदे पृथगेव तेभ्यः स्वायत्तभागोऽस्ति भुवोऽपि देयः ॥३॥

चार्वङ्गी — मन्मते च तत्तदितर देशवर्तिनम् चैनप्रश्नमनालोच्य, त्रैव्रतानां गतिविषय एव सन्ति साम्प्रतं सविशेषं समालोच्याः। एतम् प्रश्नमुद्दिश्यैवाधुना तेषु तेषु सम्मेलनेषु प्रचलत्येष महान् अन्ताराष्ट्रिय. कोलाहलः।

मातुङ्गः — सुविचिन्त्यौ नूनमुभावप्येतौ परामर्शौ।

गृहमन्त्री — त्रैव्रतेन प्रश्नेन सह न चास्तेऽस्माकं विश्वविद्यालयेषु प्रवर्धमानो वर्तमानोऽस्माकं छात्राणामप्यसन्तोषः।

मातुङ्गः — छात्राणामसन्तोषः! अरे मद् गृहेऽप्यसन्तोषः, कीदृशोऽयमसन्तोषः?

गृहमन्त्री — कुलपतेः सूचनानुसारमधुनैव नानकिङ्ग-विश्वविद्यालयछात्रावासे केनापि वितीर्णानि सहस्रशः क्रान्ति सन्देश-पूर्णानि पत्राणि।

मातुङ्गः — यद्येवं सर्वमन्यत् परित्यज्य तदेवं सूचनीयं मह्यमनिशम्।

(इत्यादिश्य उत्थिते मातुङ्गे सर्वे समुत्तिष्ठन्ति)

(२)

(शान्तिकुञ्जे सुखमासीने चाङ्गे समानीयते तत्र वैदेशिकेन मन्त्रिणा भिक्षुरानन्दः)

वैदेशिकोऽमात्यः—(सविनयम्प्रणम्यानन्दमुपस्थापयति चांगस्य सम्मुखे) महामान्याः, त्रैव्रतानां निष्कारणं बन्धुरत्याचारिणां स्वभाव – शत्रु-भारतीयोऽपि विश्वनागरिकश्चायं महान् भिक्षुरानन्दः।

चाङ्गः — (समुत्थाय स्वागतेनानन्दमभिनन्दन्) सनाथी-क्रियतामिदमासनम्, स्वीक्रियन्तां च सिंहपुरसम्मेलनस्य साफल्याय हार्दिकाः साधुवादाः ।

आनन्दः — मान्यैश्चांगीकार्या विश्ववन्द्यैर्दलपति-महोदयैः सम्प्रेषिताः शुभाशिषामेते पावनास्तण्डुलाः (इति तण्डुलानर्पयति)

चाङ्गः — (सादरं तण्डुलान् शिरसा धारयन्) अपि श्रद्धेया दलपतयः सन्ति सर्वथा कुशलिनः स्वीये भारतीये प्रवासे ?

आनन्दः — भगवतो मैत्रेयस्यानुग्रहेण सार्वत्रिकं तत्र मंगलम् । भारतीयेनातिथ्येन सुतुष्टा अपि ते परम्प्रतिदिनं त्रिव्रते प्रवर्धमानैर्मायुसैनिकानामुत्पातैः प्रायः सदैव तिष्ठन्ति नितरामुद्विग्न-मनसः ।

चाङ्गः — सर्वथा स्वाभाविकमिदं त्रैव्रतानां जन्मसिद्धेऽस्मिन् संरक्षके । अथवा—

मुक्ताः समस्तैः कलहैर्जगत्याः स्वाध्यायलीनाश्च रहः प्रदेशे
अकारणं तेऽपि खलैरगान्त्या ग्रस्ताः कृताश्चेन्निजदम्भपूर्त्यै ।।४।।

खिद्यन्तु चेतांसि सतां न केषां निरन्तरं विश्वहिते-रतानाम्
गुणागुणौ किन्तु न मूढवृत्तिः समीक्षते क्वापि खल-स्वभावः ।।५।।

आनन्दः — खेदावहेयं परिस्थिति र्न चेत् सद्य एव सुसमाधीयतां तर्हि त्रैव्रतानां सत्तापि साम्प्रतं स्मृतेर्भवेत् सर्वथा विलुप्ता ।

चाङ्गः — (निर्विण्णः) नूनमेषा त्रैव्रती समस्या समपेक्षते सद्यः समाधानम्परमस्माकं तैः सहाद्य न वर्तते प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षो वाऽऽङ्गिकोऽपि सम्पर्को येनावगम्येतास्माभिस्तेषां किमप्यपेक्षितं, साध्येत वा तेषां किमपि व्यावहारिकम् साहाय्यम् ।

सर्वासुदिक्षु प्रतिरुद्धमार्गं वृंतै – र्जगत्याम्परितो द्विपद्भिः
कश्चित् स्व सम्पर्कमहो कथं तैः करोतु जाता जटिला समस्या ॥६॥

आनन्दः — सुव्यक्तमेतन्नूनम् । त्रैव्रतैः सह किन्तु मान्यानामैतिहासिकः प्राचीनतमश्च साधिकारः सम्बन्धः । प्रस्तूयताश्चेन्मान्यानाम्प्रतिनिधिना राष्ट्रसंघे त्रैव्रतेभ्यः स्वायत्ताधिकार–समर्थकः कश्चन प्रस्तावो नूनमनेन त्रैव्रतेषु स्फुरेन्नवः समुत्साहः भवेच्चानेन तेषां–समुद्धारस्य कश्चनापरोऽपि नवो मार्गः सुलक्षितः ।

चाङ्गः — अस्तु वन्धो, भवद्दृशि विधिनानेन सिध्यति चेत् त्रैव्रतानां किमप्यभिमतं तर्हि प्रचलितेऽस्मिन्नेव राष्ट्रसंघाधिवेशने प्रस्तोष्यतेऽस्मत् प्रतिनिधिनैप प्रस्तावः प्रयत्यतां च भवताधुना व्यापकायास्यान्ताराष्ट्रियाथ समर्थनाय ।

आनन्दः — अनुगृहीता मान्यैः सर्वे त्रैव्रताः ।

(भूरिशो धन्यवादान् समर्प्य प्रस्थितः)

(३)

(राष्ट्रसंघे त्रैव्रतेभ्यो मताधिकारसमर्थकं प्रस्तावम्प्रस्तुवन् तापहरीयः प्रणिधिः)

सुमतिप्रज्ञः — श्रीमन्तः, सुविदितमिदमत्र भवतां सर्वेषां यत् मायोः सैनिकशासनात् प्राक् त्रिव्रते त्रैव्रता एवासन् तत्रत्याः स्वायत्ताः सुशासकाः । भारतीयैराङ्गलशासकैश्चाङ्ग – शासनकाले चीनाधिपेन सह विहितासुसंधिष्वपि सदैव सम्मानितस्त्रिव्रते मान्यस्य दलपतेः पूर्णोऽधिकारः सदैव सुरक्षिता च त्रैव्रती सीमा यथा पूर्वं सर्वथाऽक्षुण्णा । अद्यत्वे किन्तु त्रिव्रते त्रैव्रतानां स्थितिः शोच्यातोऽपि शोच्यतमां गतिमुपगता ।

जाता तथा क्षीणतरा वतैपा कृता तया ते च तथाऽसमर्थाः
न त्रिव्रतेऽन्यत्र तै च यथाद्य प्रकाशितुं शक्यमहो स्वैहादम् ॥७॥

सद्यो निर्णेतव्यमिदानीं राष्ट्रसंघेन—

अन्धाशक्तिरियं कियच्चिरमहो निर्बाधमावर्धताम्
सह्येताथ कियच्चिरं स्थितिरियं राष्ट्रैः समस्तैरपि ।

दासास्त्रिव्रतजास्तयाद्य विहिता निर्जीववत् संस्थिताः
जाता हन्त ततोऽपि शोच्यगतयश्चैनाश्च गेहे निजे ॥८॥

ब्रह्मदेशीयः — नचेदद्य सुरक्ष्यन्तां त्रैव्रतास्तर्हि तत् प्रतिवेशिनः श्रीक्रमादयो[1] देशा अपि महाव्यालेनानेन भवेयुरचिरेणैव निगीर्णा न च भूस्थान[2]मपि लभेत क्वचित् पुनः स्वस्थानं सुरक्षितम् ।

मलयदेशीयः — स्थितिरियं नूनं साम्प्रतं नास्तिक्षणमप्युपेक्षणीया । प्रातिवेशिकै राष्ट्रैस्तु तैः समारब्धा एव ते ते सीमाकलहा, यत्र च नास्ति सीमाकलह स्तत्राप्येषां चैनानामुद्दाम्ना व्यवहारेण वयं न वर्तामहे सर्वथाऽसंस्पृष्टाः ।

यवद्वीपीयः — प्रत्यक्षमनाक्रान्तेषु चास्माकं देशेषु मायुजनैरेवदुष्प्रेर्यमाणास्तत्तद्-राष्ट्रवर्तिनः सर्वेऽपि प्रवासिनश्चैना अद्य जातास्तथा समुद्धतास्तथा च तै दुरारब्धा निरर्गलं ते ते दुर्व्यवहारा यथा विहाय गृहयुद्धचिन्तां नास्माभिरद्य शक्यं किमप्यन्यत् स्वराष्ट्राभ्युदयाय निर्णेतुं वा सुसम्पादयितुम् ।

अस्त्रालयः[3] — भारतेनापि सम्प्रति न स्थेयमत्र सर्वथा तटस्थेन । वस्तुतस्तु ताटस्थ्यमसाम्प्रतमेव राजनीतौ—

मैत्री यत्नोऽथ शत्रुत्वं निष्फलं यत्र जायते
निष्क्रियं तत्र ताटस्थ्यं स्वयमेव समेधते ॥९॥

---

१ सिक्किम २ भूटान ३ आस्ट्रेलिया

भारतीय: — नास्ति निष्क्रियं किन्त्वस्माकं ताटस्थ्यम्। तिष्ठन्त्येव मान्या दलपतयस्त्रिगद् भारते। स्वातन्त्र्यं च त्रैव्रता-नामस्माभिरपि सुसमर्थ्यते सर्वात्मना।

जयपानीय: — यद्येवं तर्हि प्रस्तावस्यास्य स्वीकरणे नास्त्यत्र कस्यापि विप्रतिपत्ति:। चैनै: सद्य एवेदानीमपसारणीयं स्व-सैन्यं त्रैव्रतात् क्षेत्रात् स्वीकरणीयश्च त्रैव्रतानाम्पूर्ण-स्तत्र स्वायत्तोऽधिकार:।

(सर्वसम्मत्या स्वीकृतेऽस्मिन् प्रस्तावे प्रस्तावस्य व्यावहारिकं पक्षमालोचयन्त: समुत्तिष्ठन्ति सर्वे सदस्या:)

(४)

(राष्ट्रसंघ—निर्णयमालोचयन्तस्त्रैव्रता:)

मित्ररक्षित: — अस्तु शक्तिवर, राष्ट्रसंघेऽपि लब्धं सुहृदा ते स्वसाफल्यम्।

शक्तिवर: — आनन्दे जीविते जीविता एव वयमिति मे सुदृढा मति:।

मित्ररक्षित: — अस्माभिरपि नहि स्थेयमधुना यथा-पूर्वमुदासीनै:-असन्तुष्टैश्चैनै: सह यथा तथा स्वसम्बन्धं संस्थाप्य तन्माध्यमेन चीनकेन्द्रेऽपि प्रवर्तनीयञ्चास्माकं चक्र-मप्रतिहतम्।

शक्तिवर: — आगच्छ तर्हि सम्प्रत्येव सर्वमेतन्निवेदयाम: श्रीराम चरणेषु न हि तदाज्ञां विना शक्यमस्माभि: किञ्चित् कर्तुमकर्तुं वा (प्रस्थिता:)

(५)

(सहसाऽस्यविकम्प्रवर्धमानैश्चैनानामत्याचारै: खिन्न: काश्यप:)

काश्यप: — त्रैव्रतानां समुद्धाराय सिंहपुरे सम्मिलितं राष्ट्रं न जाने कदा किं विधीयताम चैनैस्तु परमारब्धमस्माकं समूलमुत्पादनमस्माभिश्च हे विधे, (नि:श्वस्य) स्व-

दुर्दशाप्यद्य न शक्या कस्यचित् समक्षे स्पष्टमावेदयितुम्

गुर्वी जगत्यामवरा पशुभ्यो नृणां समाजस्य विडम्बनेयम्
पशौ निबद्धेऽपि न तस्य बद्धा वाणी नृणां सापि भवेन्निरुद्धा ॥१०॥
(हस्ताभ्यां स्वशिरो निगृह्य)

अतः परं किन्न भवेन्नु कष्टं स्रोतो बलीयो निजभावनायाः
न विन्दुमात्रेण बहिः सरेच्चेत्-अन्तः कथन्नित्यमहो सवेगम् ॥११॥
(अत्रान्तर एवात्र समागच्छति तिष्यः)

तिष्यः — कथमद्य स्वाध्याय कालेऽपि धीरधौरेयाः समुद्भ्रान्ता इव चिरादितस्ततो विचरन्ति ?

काश्यपः — तिष्यमवलोक्य (ससंभ्रमम्) अहो चिरादद्य ते दर्शनं जातम् न वेत्सि किं किमत्र घटितं किं चास्माभिरिह प्रतिदिनमनुभूयतेऽधुना ।

तिष्यः — क्व सन्ति चास्माकमन्ये प्रियाः सतीर्थ्याः ।

काश्यपः — सर्वेऽपि तेऽस्माकमन्तेवासिनो निगृह्य चैनैरितः प्रेपिताः स्वसिद्धान्त-प्रसारिपु केन्द्रेपु । अस्माकमन्ते-वासिन्यश्च हठोदभिर्नृशंसैश्चैनैरपकारिभि-र्वाध्यन्ते सैनिकैः सह परिणेतुम् ।

(६)

(मातुङ्गशासन-विरोधिनि बृहति जनसंगमे, नगरपालै-र्निषिद्धे नापि जननेत्रा चुङ्गेन समारभ्यते स्वभाषणम्)

चुङ्गः — सम्मान्याः पौरा, जानपदाः स्वदेशसम्मानसंरक्षकाः प्रियाः छात्राश्च, वेत्रैर्गुलिकाभिश्च निहन्यमानैरपि नास्माभिरधुना पालयिष्यन्ते मातुङ्गस्य केचिदादेशाः । समारब्धोऽस्माभिरस्माकं चरमः संघर्पः । मातुंगेना-धुना स्वदेशजा बान्धवा अप्युपाक्रान्ता निहन्तुं पद्यु-मारम् । क्षणमपि नैतत् किन्तु सम्प्रति भवेद् सह्यम् ।

कारा निबद्धा गृहपंजरस्था न केऽपि चैना अधुना वसेयुः
न वा भवेयु र्वत मूकवाचो विडाल-भीता इव मूषकास्ते ॥१२॥

प्रतिपदमधुनास्माभिः प्रयतिष्यते जघन्यस्यास्य मातुंगस्य
शासनस्यापकर्षणाय स्थापनायच तस्मैसुशासनाय।

स्वाधीने – निजधर्मकर्मनिरतै र्यत्राखिलैः स्थीयताम्
कैश्चिन् काप्यथ गृह्यतां न विवशैः स्वान्तिर्विरुद्धा गतिः।

स्पष्टं चाथ हिताय यत्र जगतां स्वीया विचारा बुधैः
व्यज्यन्तां निरुपद्रवं गतभयैः सद्भाव – संवर्धिनः ॥१३॥

सर्वे लोकाः — स्थाप्यतामचिरेणैव स्थाप्यतां सुशासनमिदं साम्प्रतम्।

(अत्रान्तर एव सैनिकै निगृह्यते शुङ्गो लोकाश्च भवन्ति विशीर्णाः)

(७)

(वायुयानादवतीर्णः सचिवेनान्वितश्चयनः प्रविशति निभृतं स्वसदने)

च्यवनः — (सचिवमुद्दिश्य) मन्ये सर्वथासुगुप्तमिदं मदीय-मागनम् ?

सचिवः — गृहमंत्रिण एवात्र प्रधानम्प्रमाणम्।

च्यवनः —कथमत्राद्य ते न सन्ति समुपस्थिता ?

सचिवः — श्रूयते गतेऽन्हि सैनिके क्षेत्रेऽपि छात्रैर्वितीर्णानि क्रांति पत्राणि सम्भाव्यते तत्रैव तेषामाकस्मिकं गमनम्।

च्यवनः — अस्यां स्थितौ किं नामात्र मदागमनेन भवेदिह किञ्चित् सिद्धम्। (विमृशन्नात्मगतम्) शुंगो नवा मातुंगो शक्यो मया प्रेरयितुं कस्यचनान्यस्य मध्यमस्य मार्गस्याश्रयणाय। (प्रकाशम्) अस्तु त्वर्यंतामधुना यथा तथा सद्यो गृहामात्यमत्रानेतुम्।

(अत्रान्तर एव श्रूयते नेपथ्ये महान् जनरवोऽपसरति
च मौनमितो भ्रान्तश्चयनः)

(८)

(ततः प्रविशति चार्वङ्ग्या स्तात्कालिकीं स्थितिमालोचयन्न-
स्थिरमति-र्मातुंगः)

मातुङ्गः — नूनं चयनं विना न शुंगः प्रभवेदखिलं राष्ट्रमेवमान्दोलयितुम् ।

चार्वङ्गी — (उपेक्षामाश्रित्य) च्यवनेन यत् कृतं तत् कृतं सम्प्रति गृहमन्त्रिणोऽपि विमर्शो नास्ति सर्वथा समुपेक्षणीयः ।

मातुङ्गः — (सामर्पम्) किमत्र कुर्याद् गृहमन्त्री तस्यैव दुरुपेक्षाया एप भीपणः परिणामो यदद्य वयं वर्तामहे सर्वथा किं कर्तव्यविमूढाः न हि तेन क्वचिदपि निरुद्धांगमात्रेणापि शुंगस्य काचन प्रवृत्तिः (गृहमन्त्री प्रविश्य उद्भ्रान्तः) श्रीमन् नास्ति सम्प्रति किमप्यन्यत सूचनीयम् । अपराण्हात् प्रागेव मान्यै यंद् विधेयं तत् सद्यो. विधीयताम् । अन्यथा ससैनिकैः छात्रैः परितोऽवरुद्धाः सर्वेऽपि वयं क्षणेनैव भविष्यामोऽत्र वन्दीकृताः ।

चार्वङ्गी — (समुत्थाय) यद्येवं तर्हि समाप्ताऽत्रत्या सर्वाप्यस्माकं लीला । सत्वरमानीयतामधुनात्रास्माकं सुरक्षितं यानम, सूच्यन्तां च होचिन्हमहाभागा सुव्यवस्थायै, यदन्यत् करणीयं तत् पुनस्तत एव करिष्यते सुतराम् ।

मातुङ्गः — किञ्चित् करिष्यते न वा करिष्यते नैतत् किमपि निश्चितं परं सुनिश्चितमिदानीमेतत—

गुभाय सर्वैर्न कृतो विरोधः नचेह तुच्छोऽप्यवमाननीयः
विघ्नो न केपां कतमो नु कालः लोके वलीयानथवास्त्यगक्तः ॥१४॥

(समुपस्थिते याने सर्वे समारुह्यसमुत्पन्ति विहायसम्)

(६)

(वियत्यानिगते मातुङ्गे नवनिर्वाचितायां चैनजनसंसदि, तत्तद्राष्ट्र-प्रतिनिधीनां स्वागतमाचरन् अभिनवः प्रधानामात्यः गुङ्गः)

गुङ्गः — परमादरणीयाः गान्तागांग महोदया, अन्ये च मान्यवर्या स्तत्तद्राष्ट्र-प्रतिनिधयः नूनं धन्यतमोऽय-मद्यतनो दिवसो यत्र तत्रभवतां वः सर्वेषां स्वागतेन सर्वेऽपि वयं संजाताः स्मो नितान्तं कृतकृत्याः। भगवदनुग्रहेणाद्य समवसिताऽखिलापि सा चैनी तामसी यत्र दुर्मतिग्रस्तानां केषांचिद् चैनानामकाण्डताण्डवेन न केवलमखिलैः स्वदेशबन्धुभिरपितु परम्परयाऽस्मत् हितैषिभिः प्रातिवेशिकै राष्ट्रै रप्यकारणमनुभूता महती काचन कष्ट परम्परा सम्प्रतिः—

श्रीमन्तु यैं यैरपि चीनपक्षात् प्राप्तं वृथा तत्तदनीव कष्टम्
क्षम्यास्तदर्थं वयमद्य सर्वे सौहार्दभावैश्च कृतार्थनीयाः ॥१५॥

(वयमधुना) वांछामोऽखिलबन्धुभि र्गृहगतै रन्यत्रवासंस्थितैः
भ्रातृत्वेन समन्विताः प्रतिदिनं स्यात् सुखम्प्रेमतः।
नित्यं चीनयशोऽभिवर्धनरताः सद्भावसम्पोषकाः
शान्त्या विश्वविकासयोग-निरता राष्ट्रैः परैश्चाखिलैः ॥१६॥

(निशम्यैतद् यावज्जना "विजयतां विश्वमैत्री, विजयतां गुङ्गः" प्रभृतिभिर्जयघोषै रापूर्यते तत्सदनं, तावदेव गदगदश्चांग समुत्थाय वक्तुमारभते)—

चाङ्गः — प्रेष्ठा बान्धवाः, अद्य स्वप्नो मे जातः सर्वथा साकारः, प्रतिभाति चाद्य चैने महादेशे समवतीर्णं किमप्य-भिनवमेव सर्वसौभाग्योन्मेषकं युगं सत्यस्य। सम्मान-नीयेनास्माकं सर्वेषाम्प्रेमभाजनेन प्रियवरेण गुङ्गेना-वनम्बिता नीतिरेव सन्नीतिः, अनयैव च सम्प्रति भवेदखिलस्यापि जम्बूद्वीपस्य सर्वाङ्गीणोऽभ्युदयः। अद्यावधि मातुङ्गशासने—

मैत्रीति शब्दोऽपि न चीनदेशे केनापि निर्भीकतया प्रयुक्तः
चीनस्य नामाप्यथ विश्वकोशे रिपुत्वबोधि-प्रथितं जगत्याम् ॥१७॥

नाधुना क्वचिदप्यस्माभिरुत्तेजयिष्यन्ते कृत्रिमा भेदाः, समवेत्य च सर्वैं विधास्यते सर्वसौख्य समृद्धिसम्पन्नोऽयं महादेशः ।

(चांगभाषणानन्तरमितरैर्देशैरपि प्रकाशिते स्वहर्षप्रकर्षे शुंगेन त्रैव्रतादि स्वातन्त्र्यघोषणया भूयोऽभिवर्धितमस्य समारोहस्य महत्त्वम्, राष्ट्रगानश्च समारब्धम् ।)

(१०)

दलपतिमन्दिरादनवरतं संश्रूयमाणे मनोहरे घण्टारवेऽथ परममधुरे तत्तत्स्तोत्रपाठे प्रविशन्ति तत्र चैनेन सेनाध्यक्षेन सादरं स्वागतेन सत्कृताः काश्यपेनान्वितास्तिष्यप्रभृतयो वीरवराः क्षेत्रपालाः प्रसार्यते ततः सद्य एव विज्ञप्तिरियं ध्वनियन्त्रेण—

"धर्मप्राणास्त्रैव्रता भ्रातरः, फलिता अद्य नो मनोरथाः सिद्धं चाखिलं नः समोहितम् । अचिरेणैवाधुनाऽमात्यप्रवेरण शुंगेन भारतात्सम्मानमानीता महामान्या देवर्षिवराः तत्रभवन्तो दलपतयः कृतार्थयिष्यन्ति नः स्वदर्शनानां दानेन । श्रोष्यते च सर्वै रेवास्माभिः ततः पूज्यवराणां महान् सन्देशः ।" (विज्ञप्तिमन्वेव भेरीनाद पुरस्सरं ततस्तत्राभवत् महान् जयघोषो दृष्टाश्च लोकैस्तत्तत्पीठ स्थविरैरभ्यर्च्यमाना महान्तः श्रीमन्तो दलपतयः) ।

(अभ्यर्चनानन्तरं श्रीमान् शुंगः समारेभे स्वभाषणम्)

त्रैव्रता भ्रातरः वीरवराणां वः क्षेत्रपालानाम् उदारचेतसां भारतीयानां कैश्चनास्माकम्प्रयासैश्च प्रतिफलितमद्यतनं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं त्रैव्रतमिदं राष्ट्रमितः

परं न केवलं वैश्रतानामपितु सर्वेषामेव नः सम्पन्न-मिदानीं सांस्कृतिकं महाराष्ट्रम् । अत्र हि पूज्यवर्यैः श्रीराममहाभागैः प्रदीप्तेन ज्ञानालोकेन निरस्तेष्वखिलेष्वपि मानवानामज्ञानाश्रितेषु तेषुतेषु भेदेषु समुद्भवेदिह किमप्यलौकिकं सांस्कृतिकं विश्वराज्यं वय च सर्वे भवितारोऽस्याभूतपूर्वाः केचन परमोदारा विश्वनागरिकाः (वक्तव्यावसाने तत्राभवत्तुमलो हर्षध्वनिः श्रीरामवर्याश्च समुत्थाय समभापन्त) परमसम्मान्याः शुंगमहाभागाः, निखिलस्यापि विश्वस्य सांस्कृतिके इतिहासे सदैव संस्मरिष्यन्ते श्रीमतामेते परमोदारा हृदयोद्गाराः । श्रीमन्तो हि जन्मसिद्धाः सज्जनशिरोमणयः कृतज्ञेन चेतसाऽखिलैरेववैश्रतैरभिकाम्यते श्रीमद्भ्यः शरदांशतमायुष्यम्—

सौजन्यं सज्जनानां जगति विजयते सर्वसौख्याभिपूर्णम्
शुंगाद्या यत्प्रभावात् निखिलखलदलध्वंसिनो वीरवर्याः ।
नित्यं कुर्युः समृद्धं क्षितिवलयमिमं शुद्धभावैरुदारैः
आयुष्यं स्वस्थमेभ्यः शतमिहशरदां काम्यतां कै र्न नित्यम् ॥१८॥

अथ च श्रीमद्भिः स्वभापणेऽस्मत् क्षेत्रपालानां बन्धुवर्याणां भारतीयानाञ्च संस्मृतौ यद्यथाऽभिकांक्षितमस्माभि-रपि तत्तथैवाभिकांक्ष्यते—

निर्वाप्यमाणाप्यनिशं हठेन क्रूरात्मभि-र्यवन-र्मर्मरीकैः
यै रक्षिता श्रिभ्रतकीर्तिकान्तिस्ते रक्षपाला हि सदाभिनंद्याः ॥१९॥

तिष्यः — (सहसाग्रे समुपसृत्य) अभिनन्दितैरप्यभिनन्दनीयश्चैष निष्कामयोगी भिक्षुरानन्दो यत्प्रवर्तितेन चक्रेण सर्वथा गतिशून्यापि श्रैभ्रतीयं गन्त्री जाताद्याखिलस्यापि विश्वस्य प्रगतेः प्रवर्तयित्री सर्वेषामेव दुःखानामपहर्त्री च ।

रामः — नूनमेष वर्ततेऽस्माकमेव कश्चन प्राक्तनो महान्

महर्षियेंन विश्वस्मिन्नपि विश्वस्मिन् प्रदर्शितोऽयं महान् चमत्कारः।

दुराग्रहः क्षयं नीतः सत्यधर्मः प्रतिष्ठितः
दुर्बलाः सबलग्रस्ता रक्षिता धर्मरक्षकैः ॥२१॥

चीनस्थो भारतीयो राजदूतः—नूनं भिक्षुशिरोमणिरानन्दः—

वाराहेण समुद्धृता भगवती धात्री यथाऽम्बोनिधेः
आनन्देन तथैव कुत्सितधियां दौष्ट्याब्धिविप्लाविता।
जम्बूद्वीपमही स्वबुद्धिबलतो भूयोऽद्य संरक्षिता
नूनं भिक्षुशिरोमणि – र्विजयते कोऽप्येष योगी महान् ॥२२॥

आनन्दः — महानुभावाः, न ह्यानन्दस्य किमप्यत्र वैलक्षण्यम्।

सद्यो यत्र मतिः स्फुरेत् प्रतिपदं–सन्मार्ग विद्योतिनी
यत्र स्यादथ सोद्यमो दृढतमो नैजः स्थिरो निश्चयः।
दीनानाम्परिपालकस्य नियतात् सार्वत्रिकानुग्रहात्
तत्राहो स्वयमेव दुर्बलबलै – रप्याप्यते सम्बलम् ॥२३॥

रामः — नूनं भगवतोऽनुग्रहं विना नात्र किंचन् सुलभम् सर्वे–

रेवास्माभिरतः सम्भूय साम्प्रतमेतदेव सम्प्रार्थ्यते:—

राष्ट्रे राष्ट्रे भवतु नियता भ्रातृभावाभिवृद्धिः
सर्वे देशा निज निज पदे शान्तिपूर्णा वसन्तु।
सत्यानीतिर्भुवि विजयतां कूटनीतिः परास्ता
चित्ते चित्ते विकसतु तथा सन्मतिः साध्यसिद्ध्यै ॥२४॥

इतिविद्यावाचस्पति श्रीदेवीप्रसादशास्त्रितनयेन मनीषिणा विद्याधरेण शास्त्रिणा रचिते दुर्बलबले प्रकरणे परिपूर्णोऽयं चतुर्थोऽङ्कः)



शुद्धाशुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	श्लोक
जननीव नित्य	जननीमिवैव निखिलान्	१	१
वोढ्ं	वोढु ं	१८	१५
अमासीत्	अभासीत्	३१	२१
महीसुरां ततः	महीसुरांस्ततः	३६	२२
शंकोरऽपि	शंकरोऽपि	३७	३५
हि च तपदेशैः	च हितोपदेशैः	४६	१३
सेत वो	सेतवः	८०	१
रत्याज्या	स्त्याज्या	६६	८६
गतिर्यस्या	गतिर्यस्य	५४	१५
अपगच्छत्	अपगच्छन्	८४	२०
स सर्वप्रथमं	ततः स सर्व	८८	१
राजगाम्	राजगाम	८६	२२
निनादते	निनादिते	६२	१
संस्मरत	संस्मरन्	६२	३
शीतलोऽमिलः	शीतलोऽनिलः	६७	१३
क्वचिदियं सरसान	नरि मनोलहरी च नहि		
भवेत् मही	क्वचिद्	१०२	२८
विवाया	विवाय	१५१	२५
वलमिहे	वलमिह	१६५	१६
आत्मसर्पणम्	आत्मसमर्पणम्	१८१	
सर्वमास्माकम्	सर्वमस्माकम्	२३४	पंक्ति १
अहं तु······परिविद्धा	लीलाविहारिणो लीलामतिरिच्य	२५५	" अंतिम
गुञ्जः	गुञ्जं	३००	" ४
तावदे–वतत्र	तावदेव तत्र	३००	" ८
द्विसहस्त्रद्विके	द्विसहस्त्राब्दिके	३०८	" १७

केचन विशिष्टाः संदर्भाः

